श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

अध्यात्मसहस्री प्रवचन

दशम भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

द्वितीय संस्करण ११००] सन् १९७४ [मूल्य १

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, वैंकर्स, सरक्षक, अध्यक्ष एव प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, वैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान् सेठ भवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,, वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,, मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,, दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,, केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,, सेठ गैंदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	श्रीमान् जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,, मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,, बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,, विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	श्रीमान् सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसघी,	जयपुर
२२	,, मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	श्रीमती सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,, बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन,	,,
२५	,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	,,

२६	श्रीमान् सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,, सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बडौत
२८	,, गोकुलचद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,, दीपचद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर,	कानपुर
३०	,, मत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मडी,	आगरा
३१	,, सचालिका, दि० जैन महिलामडल, नमककी मंडी,	आगरा
३२	,, नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस,	रुड़की
३३	,, झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,, रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,, मोल्हडमल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,, बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	श्रीमती माता जी धनवती देवी जैन, राजागज,	इटावा
४०	श्रीमान् ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुड़की
४१	,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	चिलकाना
४३	,, हुकमचद मोतीचद जैन,	सुलतानपुर
४४	,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	सुलतानपुर
४७	श्रीमान् * गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४८	,, * बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा,	झूमरीतिलैया
४९	,, * सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या,	जयपुर
५०	,, * बा० दयाराम जी जैन आर एस डी ओ.	सदर मेरठ
५१	,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोटः—जिन नामोके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये है, शेष आने है तथा जिन नामोके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

•••○○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नाकित अवसरो पर निम्नांकित पद्धतियो में भारतमें अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमे ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमे छात्रो द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा ।

अध्यात्मसहस्री प्रवचन दशम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

असार संसारमें समागमकी असारता—अनेक दु खोसे परिपूर्ण इस ससारमे मोही प्राणी उन ही बातोकी रुचि किए हुए है जिनका फल दुःख है। और जहा आनन्द है, जिस स्वरूपमे रचमात्र भी आकुलता नही है उस स्वरूपकी ओर इनकी दृष्टि ही नही पहुचती है। परिणाम यह हो रहा है कि अनादिकालसे अब तक इस ससारी जीवकी यह स्थिति चली आयी है। वैसे मोटे रूपसे भी निरखें तो जिस किसी भवसे मरण करके आये उस भवका कुछ साथ तो न रहा। यदि पूर्वभवके साथकी चीजे दूसरे भवमे साथ होती तो उनको धरने की तो जगह भी न रहती यहाँ। जैसे पूर्वभवके समागमकी चीज कोई साथ नही है यही हाल इस भवका है। इस भवके समागमकी चीज भी कोई साथ नही है। यही हाल अगले भव का है। इस भवके समागमका भी कोई पदार्थ साथ नही रहनेका है। न वैभव सम्पदा, न शरीर, न ये कोई ठाट-बाट, कुछ भी जीवके साथ रहनेके नही है। लेकिन इस जीवकी रुचि किस ओर रहती है ? बस विषय कषायोमे मग्न रहता है। कोई भी दूसरा जीव चाहे कितना भी प्रेमी हो, मेरेमे सुधार शान्ति कल्याण उत्पन्न नही कर सकता। अपना सुधार, कल्याण, शान्ति स्वय अपने आपको करनी होगी। यहाँ किसी भी इष्ट समागमको पाकर मस्त होनेकी बात न होनी चाहिए। है पुण्यका उदय, जान लिया, पापका उदय है, जान लिया आकुलता ही है दोनोका फल। जिनके लिए कोई केवल ज्ञानमात्र रह जाय, दोनोका ज्ञाता रह जाय। उसे अपने इस अन्तस्तत्त्वका कितना दृढ आलम्बन लेना होगा ? अपने अन्तस्तत्त्वका दर्शन आलम्बन लिए बिना यह साहस नही बन सकता कि पुण्यसे, पुण्यफलसे, पापसे, पापफलसे विविक्त अपने आपको निहारकर यहाँके इष्ट अनिष्ट समागमोमे हर्ष विषाद न मानें। जीवको चाहिये क्या ? परम शान्ति, परम आनन्द। वह परम आनन्द है

अवस्थामे है ? जगतकी कोई भी अवस्था देख लो—निरन्तर शरीर मिले, धन वैभव मिले, राज-पाट मिले, इन्द्रादिक पद मिले, कोई भी स्थिति मिले उस स्थितिमे भी इस जीवको शान्ति तो है नही, क्योकि यह उपयोग अपने आपमे न रहकर बाहरकी ओर जब यह जा रहा है, इसकी दृष्टि बाहर जा रही है तो यह खुद रीता ही हो गया। खुदका आधार छोड दिया इस ज्ञानने इस दृष्टिने तो यह निराधार नि:शरण होकर अशान्त व विषण्ण बना फिरता है और अपना रक्षक है, शरण है, जहाँ रहता है, वह निज घर। केवल एक उपयोग द्वारा बाहरमे यह चला गया तो ऐसा यह रीता दीन पुरुष बाहरमे कहाँसे शान्ति प्राप्त कर लेगा ? चाहे वह राजा हो, चाहे इन्द्र हो, जो खुदमे रीता है वह बाहर डोल-डोलकर कहाँसे शान्ति पायगा ? तो इन दु:ख ज्वालाओंसे यदि बचना है ? तो उसका सीधा अर्थ यह है कि हमे जन्म मरणसे छूटना चाहिए। जन्ममरणमे बने रहे और सासारिक ज्वालाओसे मुक्ति पा सकें, यह हो नही सकता। यह काम करना होगा कि मेरा जन्म मरण छूटे। जन्म मरण छूटने का अर्थ क्या है कि शरीर उसके साथ अब न चिपके, अब न लगा रहे। मैं जो अपने स्वरूप से सत् हू, जो कुछ हू, यह मैं अकेला अपने स्वरूपसे अभिन्न, गुण पर्यायोंसे अभिन्न जो कुछ भी सहज सिद्ध सत् हू, बस वही मात्र रह जाऊँ। इसीके मायने हुआ कि जन्ममरणसे छुटकारा हो।

कैवल्यलाभके लिये निज केवलकी दृष्टिका आधार—यह मैं एक मात्र रह जाऊँ, ऐसा तो तब ही बन सकेगा कि जब अभीसे यह समझ बैठा जाय कि ऐसा एक मात्र मैं हू। मै किसी दूसरे द्रव्यमे मिल करके एक सत् नही बना हुआ हू। सभी अपने-अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यमे रहते हैं, ऐसा केवलपना जब अपने आपको विदित हो तब ही वह कैवल्य अवस्था मिल सकती है। यहाँ तो शरीरमे ममता रखे, इन्द्रियमे ममता रखें, इन्द्रियज ज्ञानोमे स्वकीयपना अनुभवे अथवा इन्द्रियज दु:खोमे अपना लगाव रखे और आशा करें यह कि मुझे मुक्ति हो अर्थात् कैवल्य प्राप्त हो, मैं केवल रह जाऊ, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? मुझे यदि शरीर आदिक सबसे निराला केवल जो मै हू वही मात्र यदि मुझे रहना इष्ट है कि मैं केवल रह जाऊ तो इस समय भी अपनेको केवल परखना होगा तब वह केवल अवस्था व्यक्त हो सकेगी ? केवल कैसे परखा जा सकता ? ज्ञानमे ऐसी अद्भुत कला है कि यह ज्ञान जिसका लक्ष्य करेगा, जिसको जाननेका यत्न करेगा, बीचमे कोई भी गडबडियाँ हो, उनको एकको भी न छुवेगा। यह ज्ञान कही आत्मासे निकलकर पदार्थोंको नही जानता, जिससे यह नौबत आये कि बीचकी ये कितनी ही चीजे छू जानी पडेंगी ज्ञानको। यह ज्ञान तो यही अपने आपमे विराजा हुआ यह निर्णायक यहीका यही जान लेता है। तो जब यह ज्ञान अपने आपके उस केवल सत् जो कुछ स्वय अपने आपमे है, उस मात्र एकत्वको जाननेके लिए यत्न करे तो बीच

की सारी बाधाओको, सारे पदार्थोंको, आवरणोको सबको छोडकर याने उनमे न अटककर उस केवलको जान सकता है । प्रयोजन यह है कि जैसे हम यहाँ लोकमे देखते है कि ख्याल आ गया कही बैठे-बैठे कि घरमे सदूकके बीचमे पोटलीके अन्दर अगूठी रखी है, ऐसा ख्याल आ गया तो उस ज्ञानको न तो मदिरकी दीवारोसे अटकना पडा, न घरके किवाडोसे, न सदूकसे, न किसीसे । केवल सीधा उस अगूठीको जान जाता है यही रहते हुए, बिना कही इधर-उधर भागे हुए । ऐसी ज्ञानमे कला है कि जिसका लक्ष्य करे सीधा वही इसमे (समझमे) आ जाय, तो ऐसे कलावान ज्ञानके द्वारा जब हम इस बातपर ध्यान बढायेंगे कि मुझ आत्माका अन्य कुछ नही समझना है । मुझे तो केवल अपने आपके परमपिता, परमशरण शुद्ध ज्ञानमात्र निज स्वभावको परखना है अथवा कुछ नही परखना है, इतना ही आग्रह करके बैठ जाये कि हमे तो कुछ जानना ही नही है । इस उपायसे भी अपने आपमे अन्त प्रकाशमान उस परम शरणका आलम्बन, दर्शन हो सकता है ।

अन्तर्ज्ञप्तिके द्वारा ज्ञानलब्धिका सदुपयोग करनेका अनुरोध—भैया ! हम आपको जो ज्ञानलब्धि प्राप्त है उसका सदुपयोग कर लेना चाहिये । जैसे किसी रकको बडी मुश्किलसे कोई निधि मिल जाय तो वह चाहता है कि मै इस निधिका अधिक सदुपयोग किया करूँ । आज हमे ज्ञान मिला है, आपको मिला है, क्षयोपशम मिला है, समझ सकते है । अरे जहाँ बडी व्यापारादिककी बातें समझते है, बडी-बडी समस्याये हल कर लेते है तो वह ज्ञान अपने ज्ञान के आधारभूत ज्ञानमय अपने आपको स्वयको न जान सके । ज्ञान द्वारा ज्ञानके आधारभूत ज्ञानमय स्वयको इसमे कौनसी अडचन आती है ? बाहरी बाते कैसी जान ली जा रही है ? उन्हे भी जान लो, जान लिया, पर इसके लिए कमसे कम इतना तो निर्णय होना चाहिए कि जगतमे जो कुछ समागम मिले है वे सब मेरे लिए असार है । मेरे इस अमूर्त आत्मामे इन वैभव सम्पदा आदिकसे कोई किरण निकलेगी क्या ? कोई सुधार हो जायगा क्या ? क्या बात बन जायगी ? अरे मैं स्वय सुधारमे होता हुआ ज्ञानानन्दमय हू, परिपूर्ण है, सही बात है । मैं अपने अज्ञानसे बिगड गया । कर्म वहाँ निमित्त है, अज्ञानसे हमने अपने आपको यो पर्याय रूपसे सगृहीत कर लिया । तो हम ही स्वय चेतेगे तब ही तो हम अपने आपका सुधार कर सकेगे । दूसरी कृपा, प्रतीक्षा करके हम कुछ अपना सुधार न कर सकेंगे । तो यह निर्णय रखना चाहिए कि जगतमे जो कुछ भी समागम प्राप्त हैं वे सब मेरे लिए असार है, उनसे मेरे को कुछ नही प्राप्त होनेका, और मेरेको प्राप्त होगा तो मेरा अपने आपमे सहज प्रकाशमान अन्त जो कुछ स्वरूप है उस स्वरूपका आलम्बन लेनेसे सकट मिटेगा । भला बतलाओ—इस बातको जो लोग बडे ध्यानपूर्वक सुन रहे है वे सुननेके समयमे सब बहुतसे सकटोसे दूर है कि नहीं ? जिनका उपयोग इस अतरतत्त्वकी ओर जाननेका बन रहा है वे इस समय कितने

निराकुल या नि.सकट है ? तो जिसके जाननेके यत्नमे ही इतने परम आनन्दका लाभ होता है । यदि ऐसा आचरण बनाया भीतर ज्ञानका, जिसके लिए जरूरत पडे वाहरमे कुछ सयम बनानेका तो बनाना चाहिए, क्योकि इससे एक अपूर्व लाभ मिलता है । तो अपने इस भीतरी सयमके द्वारा अपने इन्द्रियको वश करके वाह्य पदार्थोंको असार जान करके अपने स्वरूपको निरखे, तो वहाँ जो अन्त दर्शन होगा, जो कुछ भान होगा उस एक क्षणके इस कामसे समझ लीजिए कि ससारसे नियमत· पार हो जायगा । जन्म मरणका सकट फिर न सहना पडेगा ।

प्राकरणिक प्रतिपादनका प्रयोजन शुद्ध अन्तस्तत्त्वका परिचय—शुद्ध अन्तस्तत्त्वके बारेमे १३वें परिच्छेदमे तो शक्तियोका वर्णन किया गया था, जिससे भली-भाँति जान लिया था कि हममे तो वह शक्ति है या हम तो उस कामकी शक्ति मानते है, जिसके कार्यके करने के लिए हमे पर-आश्रयकी निमित्तकी आवश्यकता न पडे, उपाधिकर्म, क्षयोपशम, उदय आदि इनकी आवश्कता न पडे, जहाँ बाह्य नोकर्मकी आवश्यकता न हो, स्वय ही अकेले जिसरूप परिणम सकते है वह है मेरी शक्ति, फिर उसके बारेमे अन्य दार्शनिकोके क्या ख्याल आये और वह किस-किस मूडमे उनका ख्याल बना, उनपर जब दृष्टि देते है तो इस अन्तस्तत्त्वके प्रति और भी विशेष भक्ति इसमे उमडती है कि देखो सब दार्शनिकोंने चाहा तो इसी तत्त्वको, मगर भूल गए, भ्रान्ति हो गयी, जैसे कि आजकल भी जो लोग भगवानको मानते हैं, भगवान का नाम लेते है तो लेते तो है उस एक भगवानका, वीतराग सर्वज्ञका नाम, मगर भ्रान्ति हो गयी । सो भगवानके बारेमे रूप कल्पना कर लिया और कुछ । इसी तरह आत्माका स्वरूप तो वही है । जैसे कि अभी वर्णनमे आया था, लेकिन उस भ्रान्तिमे स्याद्वादका आलम्बन नही होता, ऐसे कुछ अनेक दार्शनिक बन गए । लेकिन है यह सब आत्मतत्त्वकी चीज । जो लोग कहते हैं कि दुर्गा सबसे बडी भारी शक्ति है । बडे-बडे विद्वान लोग भी जब सन्यास धारण करते हैं, राज्य जैसा अपना वैभव छोडकर आज भी बहुतसे सन्यासी हैं । जिनका ख्याल है कि दुर्गा एक ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि जिसकी उपासनासे मुक्ति मिल सकती है । ठीक है, ऐसी ही बात है । जो कि दुर्गा अगर प्रसन्न हो जाय तो मुक्ति नियमसे मिलेगी, मगर वह दुर्गा है क्या ? कही चार हाथ पैर वाली या सिंहपर बैठने वाली है ? अरे वह कोई दुर्गा है ? दुर्गा तो एक विशेषण है, न कि नाम, और नाम तो किसीका होता नही है । जितने भी शब्द हैं वे सब विशेषण हैं । दुर्गाका अर्थ है–'दु खेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा' अर्थात् जो बडी कठिनाई से प्राप्त होती हो उसे कहते है दुर्गा । अब देखिये—बडी कठिनाईसे क्या चीज मिलती है ? बडी कठिनाईसे मिलती है स्वानुभूति । स्वानुभूति एक ऐसी बडी शक्ति है कि जिसके प्रतापसे नियमसे मुक्ति मिलती है, सारे सकट हमारे समाप्त होते हैं । तो जैसे एक कहावत है कि आधी छोड सारीको धाये, आधी मिले न सारी पाये । हम धर्मके मार्गमे चलते तो हैं मगर अनिर्णय

होनेके कारण चित्तकी ऐसी स्थिति हो जाती है—क्या करें, इसे छोडें, उसे छोडें ? अरे उसमें जो एक तत्त्व है उसका निर्णय हो जाय और फिर उसकी ही दृष्टि हो जाय तो ये सारी विडम्बनायें समाप्त हो जायेगी । वह धर्मपालन है यही कि अपने आपका जो अपने सत्त्वके ही कारण जो अपना एकत्व होता है उसको स्वय अगीकार कर ले, स्वीकार कर लें, यह मैं हू और कुछ नही ।

आत्माकी अपूर्व विभूति—अहा, आत्मज्योतिका प्रकाश मिले, यह बहुत अपूर्व बादशाही है । जो अपने आपके परविविक्त उस चैतन्यमात्र एकत्वकी ओर उपयोग जाता है उससे बढकर जगतमे वैभव भी क्या है ? अरे इसी ऋद्धिके प्रतापसे यह ही आत्मप्रभु पूज्य होता है । बडे धीरेसे गुणभद्र स्वामी द्वारा जैसे मानो कानमे मत्र फूका जा रहा है, बताया है 'अकिञ्चनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः । योगिगम्य तव प्रोक्त रहस्य परमात्मनः ।।' देखो शिष्य आत्मार्थिन् ! तुम्हे तीन लोकका अधिपति होना है तो उसका हम तुम्हे रहस्य, उपाय बताते है, जो रहस्य योगियो द्वारा गम्य है । ऐसा हम परमात्माका रहस्य बताते है । बताओ महाराज ! 'अकिञ्चनोऽह' मैं अकिञ्चन हू, इस प्रकारका ध्यान करके टन्नाकर खुदमे ही रह जायें, बस यही है इसका उपाय । मैं अकिञ्चन हू, मेरा कही कुछ नही । ये धन वैभव बाहरी चीजे, जिनके अनेक अर्थी है, राजा, चोर, कुटुम्बी जन, प्रजा जन, मित्रजन आदि सभी इस वैभवको हडपना चाहते है । यह देह जिसकी यह श्रद्धा होनेको है कि जो हमारे बड़े प्रेमी लोग है वे ही कधेपर रखकर अन्तमे श्मशान उठा ले जायेंगे और जलाकर खाक बना देंगे । तो जो शरीर राख बन जायगा वह मेरा कुछ है क्या ? कुछ भी तो नही है, और भी अन्त चले, यह विचार, यह रागभाव, ये कषायें, ये अभिलाषायें जो कि स्वय अशरण है, दूसरे क्षण भी नही ठहर सकते है । जिसके मोहकी गध भी नही पडी हुई है, वह तो इस आत्माके लिए कलङ्क है । ये अभिलाषाये, ये वितर्क, ये मेरे कुछ नही है । अकिञ्चनोऽह, मै अकिञ्चन हू । मेरा कही कुछ नही है, केवल एक चैतन्यस्वरूप मात्र हू । दुनियामे अनन्त जीव है जिनसे हम अपरिचित है, जिन्हे हम कुछ नही जानते । उन ही अनन्त जीवोकी तरह ये घरके दो चार दस लोग भी अपरिचित है, हम नही जानते, फिर सकोच काहेका ? सकोच होता है रागके लिए, व्यवहारके लिए । अपने आपको हम निर्विकल्प स्थितिमे ले जा सके, इसके लिए सकोचकी क्या जरूरत है ? हाँ पापकार्यके लिए सकोच करें । जो परिजन लोग इस समागममे आये है जो मित्रजन है उनका सकोच करें, किसके लिए ? पापकार्योंके लिए । अरे ये लोग क्या कहेगे कि यह पापी है, इस बातका सकोच करें । लेकिन जहाँ धर्मकार्य सामने आये, सर्व विकल्पोसे मुक्त होकर निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेका प्रोग्राम बना हो, उसकी पूर्तिके लिए किसीका सकोच नही । जैसे अनन्त जीव अपरिचित हैं इसी तरह समा-

गममे आये हुए ये जीव भी अपरिचित है। मैं तो यहाँ भी अकेला हू। मेरा कोई साथी नही है। इस दृष्टिसे जरा अपने आपके स्वरूपकी ओर बढें, कल्याण होगा। ऐसा जो अनुपम मौका मिला है यह अवसर न खो दें। इस अवसरमे अपना कोई ऐसा अपूर्व काम बना लें कि जिससे सदाके लिए हमारे सारे झगडे समाप्त हो जायें। जब जन्म मरण ही न रहेगा तो झगडा किस बातका ? तो इन पाये हुए समागमोको जो असार मान रहा हो उसीमे यह पात्रता है कि वह अपना कल्याण कर सकता है। आत्मतत्त्वकी उपासनाके लिए यह सब परिज्ञान किया जा रहा है।

आत्मप्रभावक दृष्टियोके वर्णनके संकल्पकी सूचना—इस परिच्छेदमे उन दृष्टियोका वर्णन चलेगा। जिन दृष्टियोका सहारा लेनेसे आत्माका कल्याण होता है। प्रथम तो यह बताया जायगा कि जिनका सहारा लेनेपर आत्मामे बड़ा प्रभाव पडता है, ऐसी दृष्टियोंके नाम कुछ ये है। फिर बताया जावेगा कि इस तत्त्वको दृष्टिमे हम रखें, हम ऐसा अपना दर्शन किया करे, इस तरह विचार बनाये, इस तरह निरखा करें तो हममे उसका यह प्रभाव पडेगा। इसका वर्णन इस परिच्छेदमे चलेगा। जैसे एक ध्रुवदृष्टिका विचार चले कि ध्रुव दृष्टिसे आत्मापर क्या प्रभाव पडता है ? ध्रुवदृष्टिका अर्थ यह है कि यह मै आत्मा ध्रुव हू, शाश्वत हू। ऐसा अपने आपको जब निरखा जा रहा हो तो ऐसा निरखनेपर आत्मामे प्रभाव क्या आया करता है ? भैया ! आत्मतत्त्वके वर्णनकी बात खुलासा तब आती है कि जैसा वर्णन चल रहा हो वैसा अपने आपको भीतर अपना यत्न करके उसको परखा जा रहा हो, तब तो वह बात बहुत स्पष्ट समझमे आती है। सो किसी भी बातको स्पष्ट समझनेकी कला श्रोताकी है। एक बालक भी थोडा कोई दोहा ही पढ दे तो उसको सुनने वाले जितने पुरुष होंगे, उनमे भिन्न-भिन्न प्रभाव पडेंगे। जिसकी जैसी रुचि, जिसका जैसा ज्ञान, जिसकी जैसी धारणा, जो कहा गया उसके अनुरूप जिसकी धारणा है, ज्ञान है उस बालकके वचनसे भी एक अनुपम आनद अन्दरमे ले लें। तो जैसे बालकके वचनकी कोई अधिक तारीफ नही है, बोल दिया, कुछ जानता था, कुछ सीख लिया। इसी तरह जानें कि शास्त्रसभामे यदि कुछ बोलने वालेकी भी बात हो तो उससे कही अधिक कला सुनने वालेकी है। इस सुनने वालेकी कला और उसके पौरुषके आधारपर वह विषय उनको बहुत स्पष्ट हो जाता है। तो ध्रुवदृष्टिमे क्या प्रभाव पडता है आत्मापर ? अपने आपकी तैयारी बनाकर सुनो—जिसने यह जान लिया है कि मैं एक ध्रुव हू, वह एक "मैं" शब्द कहनेपर ही जान लेता है और जिसने नही जाना उसको कितने ही शब्दो द्वारा समझाया जाय, पर उसकी समझमे नही आता। जिनके लक्ष्यमे वह शाश्वत सहज ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व ध्यानमे आ गया उनके तो अन्त· प्रसाद उमड आया। वह मैं ध्रुव हू। मनुष्य होऊ, देव होऊ, किसी भी गतिमे गया

होऊ, पर वह मै ध्रुव हू, आगे भवमे जाऊँगा तो यही मै ध्रुव हूं और भी जरा विशेप ध्रुवता के साथ देखिये—यह मै ९ तत्त्वोमे पाया जाकर भी जो अपने एकत्त्वको नही छोडता, जो अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपको नही तजता, ऐसा वह अनिर्वचनीय कोई मै ध्रुव हू। दृप्टि लें उसका तो वह दृष्टिका प्रताप स्वय आयगा। देखो जब बाजारमे जाते है और नीबू देखते है तो यद्यपि उसका छिलका मोटा है, उसके अन्दर विद्यमान रस दिखाई नही देता है, फिर भी उस नीबूके रसका स्वाद अनुभवमें आ ही जाता है। तो जैसे नीबूके रसका स्वाद उस नीबूके ऊपरी भागको ही देखकर आ जाता है इसी प्रकार आत्मतत्त्वके परिचयी पुरुषको केवल उस ओर दृष्टि करने मात्रसे उसका प्रकाश हो जाता है। यह एक दृष्टिका ही तो प्रताप है। यह मैं आत्मा ध्रुव हू, और यह काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख, दुःख, विचार, विकल्प, शरीर आदि सब अध्रुव है, यह मैं ध्रुव हू। अब बताओ तुम ध्रुव रहना चाहते कि अध्रुव ? तुम मिटना चाहते कि सदा आबाद रहना चाहते ? तो जो सदा रहने वाला तत्त्व है उसरूप अपनेको अनुभव करना चाहिए। मै ध्रुव हूँ, ऐसी दृष्टि आते ही इस जीवको उन एकातो के कारणभूत आश्रयका आलम्बन छूट जाता है। दृष्टि करते ही वे आकुलताये दूर हो जाती है तो ऐसी इस दृष्टिका क्या प्रभाव आत्मामे होता है—उन सब दृष्टियोका 'यहाँ वर्णन होगा।

ध्रुवदृष्टि, एकत्वदृष्टि, विभक्तैकत्वदृष्टि व सत्त्वदृष्टिका निर्देश—कुछ ऐसी दृष्टियोका वर्णन किया जायगा कि जिसमे यह शिक्षा मिलेगी कि हमे आत्मतत्त्वकी उपासना किस-किस पद्धतिसे प्राप्त हो सकती है ? उन दृष्टियोमे पहिली दृष्टि है ध्रुवदृष्टि। हमे इस आत्माको ध्रुव रूपसे निरखना है। ध्रुव जो सदाकाल रहे। जैसे कालका न आदि है, न अत है। एक समान जो रहे उसे कहते है ध्रुव और उस ध्रुवकी दृष्टिको कहते है ध्रुवदृष्टि। दूसरी दृष्टिका नाम है एकत्वदृष्टि। जिसको ध्रुवदृष्टिमे ध्रुवरूपसे देखा था, जो अनादि अनन्त सदाकाल, शाश्वत रहता है। इस प्रकारसे जिस तत्त्वको निरखा था उस तत्त्वको एकत्वप्रधान दृष्टिसे निरखा जाय तो वह एकत्वदृष्टि है। वह सदा काल एकस्वरूप है और वर्तमानमे भी अनन्तगुण होकर भी अनन्त शक्तियोंमे भी वह एकत्व रूपसे विराजमान है, इसे कहते हैं एकत्वदृष्टि। तीसरी दृष्टिका नाम है विभक्तैकत्वदृष्टि। अन्तस्तत्त्व तो एक ही है, जिसकी उपासना की जाती है। अन्तस्तत्त्व अनेक नही हो जाते कि भिन्न-भिन्न दृष्टियोमे यहाँ कोई भिन्न-भिन्न वस्तु ही निरखी गई हो। वस्तु वही है, एक है, जो इन अनेक दृष्टियोंमे निरखा जा रहा है। उस तत्त्व कों निरखनेकी पद्धतियाँ अनेक हैं। उसका अपने आपके स्वरूपमे विराजमान अनादि अनन्त ध्रुव जो एक स्वरूप है उस ही को बताया जा रहा है कि वह एक स्वरूप सर्वथा नही है। किन्तु परसे विभक्त होकर अपनेमे एक स्वरूप है। तो विभक्तैकत्वदृष्टिमे इस दोषका परिहार किया कि वह सर्वथा एक नही है कि सर्वात्मक हो जाय। सर्वविश्वरूप हो, किन्तु अन्य सब

से निराला रहकर, अपने एकत्वमे रहता है। इस तरह परसे विभक्त और अपने आपके एकत्वको प्राप्त अन्तस्तत्त्वके निहारनेका नाम है विभक्तैकत्वदृष्टि। सत्त्वदृष्टि इस ही अन्तस्तत्त्व को निहारते-निहारते जब इतना साधारणतया निहारा जाता है, एक सामान्यभावसे निहारा जाता है कि वहाँ विशेष उपयोगसे हटकर केवल एक सत्मात्र रह जाता है, इसको कहते है सत्त्वदृष्टि। इत्याकारक रूपसे अनुभव होना और उसमे चिदात्मक आदिक विशेषोका गौण हो जाना, यह हुआ सत्त्वदृष्टि। जैसे रागादिक भावोको गौण करके, उन्हे न निहारकर एक चैतन्यस्वरूपको निहारा जा सकता है, और इस चैतन्यमे भी विचार तरग ज्ञान, छुटपुट ज्ञानो को न निहारकर एक अविशिष्ट चेतनाको निहारा जाता है तो इस ही अपने आपमे उस चेतनाका भी ध्यान न रखकर याने उन विशेषोसे विशिष्टता न रखकर जहाँ केवल होनेको होता है वहाँ जो रागादिक ज्ञात होते है, वे भी वहाँ ज्ञान होते है। मगर सत्त्वकी प्रधानतासे ज्ञात है। इस स्थितिका निहारना सो सत्त्वदृष्टि है।

वस्तुत्वदृष्टि, अभिन्नकर्मत्वदृष्टि, अभिन्नकरणत्वदृष्टि व अभिन्नसम्प्रदानदृष्टिका निर्देश— ५वीं है वस्तुत्वदृष्टि। अपने स्वरूपसे सत् है, पररूपसे असत् है, इस प्रकारसे वस्तुपनेकी मुख्यता करके दृष्टि होनेको वस्तुत्वदृष्टि कहते है। वस्तुका दूसरा अर्थ है—अर्थक्रियाकारी। जो अपने चैतन्यस्वरूपकी अर्थक्रियाको कर रहा है, ऐसा जहाँ भाव है उसे कहते है वस्तुत्वदृष्टि। जिसमे गुण बसें उसे कहते है वस्तु और उसके स्वरूपकी दृष्टिको कहते हैं वस्तुत्वदृष्टि। गुण तब ही बसते है, जब एकके खुदमे बसे, अन्यमे न बसे, तब ही गुणका स्वरूप रह जाता है। तो ऐसे अपने उस स्वरूपको देखनेका नाम है वस्तुत्वदृष्टि। छठवी दृष्टिका नाम है अभिन्न कर्मत्वदृष्टि। यह मैं आत्मा हू, और हू तो निरन्तर परिणमता रहता हू। और उस परिणमनमे जो परिणाम आया वही हुआ कर्म। अभिन्नकर्मता है उसका जो भाव है वह क्या भाव या काम है? जो मात्र उसके द्वारा (मेरेसे) हो, जिसमे किसी अन्यकी अपेक्षा न की जाय, किसी उपाधिकी वजहसे नही हो, किसी भी अन्य पदार्थकी उपस्थिति सन्निधि, निमित्त, आश्रय किसी भी रूप मे सहयोग नही हो। यह मैं अपने आपकी शक्तिसे जिसरूप परिणाम करूँ उसे कहते है कर्म और ऐसा कर्म है आत्माका शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप। अभेद रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रका जो अभेद परिणाम है वह है उसका कर्म। और ऐसा कर्म मुझसे निराला नही है। जो मेरा कर्म है वह मुझसे निराला नही हुआ करता, मेरे ही रूप है। इस प्रकार अभिन्न परिणामको निरखना, इसे कहते हैं अभिन्नकर्मत्वदृष्टि। यहाँ दृष्टियोके नाम बताये जा रहे, जिनका वर्णन पृथक्-पृथक् रूपसे किया जायगा कि इस दृष्टिके द्वारा अपने आपके स्वरूपको निरखनेपर क्या प्रभाव पडता है? तो अभिन्नकर्मत्वदृष्टिमे अभिन्नकर्मता आयी। एक है अभिन्नकरणत्वदृष्टि। जो मेरेमे ज्ञान बना, वह काम मेरे करणसे बना, मेरी सामर्थ्यसे बना। इस प्रकार अपने ही

परिणाम द्वारा अपने ही परिणमन होनेका ध्यान होना, यह कहलाया अभिन्नकरणत्वदृष्टि। वस्तुमे, पत्येक पदार्थमे इसी प्रकारसे कार्य हुआ करता है, किन्तु जो कार्य किसी परउपाधिको पाकर हुआ करता है, सामर्थ्य तो वहाँ भी परिणमनेकी है, लेकिन उसे शुद्ध सामर्थ्यसे परिणमन न कहा जायगा। आत्माके शुद्ध सामर्थ्यसे रागादिकका परिणमन न कहा जायगा। शुद्ध शक्तियोसे तो रत्नत्रय परिणाम ही बनेगा, तो ऐसे उसे शुद्ध सामर्थ्यके निरखनेका नाम है अभिन्नकरणत्वदृष्टि। एक दृष्टिका नाम है अभिन्नसम्प्रदानदृष्टि। आत्माने अपनेमे से ही क्या निकाला, आत्मामे कौनसी बात प्रकट हुई ? पर्याय प्रकट हुई। आत्मामे अपनी विशुद्ध सामर्थ्य से विशुद्ध परिणाम प्रकट हुआ। अब वह विशुद्ध परिणाम किसके लिए प्रकट हुआ ? दूसरेके लिए प्रकट नही हुआ। जिसको भी विशुद्ध पर्याय प्रकट हुई है—अरहत देव, सिद्ध देव उनका सम्प्रदान वे ही है, उन्होने पर्याय प्रकट की और उसको उन्होने वही झेल लिया, जरा भी एक प्रदेश दूर नही गए। देखो कैसा आत्माका अपना सहज खेल है कि अपने आपमे ही तो उस परिणामको व्यक्त किया और व्यक्त करते ही तुरन्त अपने उस परिणामको झेल लिया। तो यह सम्प्रदान होता है। यह जो इसका रत्नत्रयभाव प्रकट हुआ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र हुआ, धर्म प्रकट हुआ तो उस धर्मको इस ही ने तो ग्रहण किया, इस कारण यह ही सम्प्रदान है, और ऐसी सम्प्रदानता इस निजसे अभिन्न है। इस कारण इस दृष्टिसे निरखनेका नाम है अभिन्नसम्प्रदानदृष्टि।

अशुद्ध निश्चयदृष्टि व शुद्ध निश्चयदृष्टिका निर्देश—एक दृष्टि है अशुद्ध निश्चयदृष्टि। अपने आपको जब कि अशुद्ध पर्यायमे चल रहा है तो अशुद्ध पर्यायरूपसे निरख लेना, यह हुई अशुद्ध निश्चयदृष्टि। अशुद्ध निश्चयदृष्टिमे प्रभाव क्या मिलेगा ? सो आगे आयगा। लेकिन इस प्रसगमे थोडी यह शका हो रही होगी कि आत्मशुद्धिकी दृष्टिसे शक्तियोका वर्णन चल रहा है। हम कैसा परिणाम बनाये कि हम इस परमतत्त्वकी दृष्टि ले सकें, उसका शरण ले सकें और उसकी उपासना कर सकें। कहाँ तो है यहाँ अन्तस्तत्त्वके जाननेके उपायका प्रसङ्ग, और इसी प्रसङ्गमे कह रहे है अशुद्ध निश्चयदृष्टि। तो इसमे किस तरह आत्मतत्त्वकी उपासनामे मदद मिलेगी। इसका समाधान अभी बताया जायगा। देखिये जब भी हम अपने आपको निश्चयदृष्टिसे देखें, रागी भी देख रहे हैं और निश्चयदृष्टिसे दिख रहे है, तो इसमे दूसरा कोई न दिख पायगा। पुत्रसे राग हुआ, यह न दिख पायगा। जब निश्चयदृष्टि है तो यह पुत्र है उसमे न दिख पायगा। इस दृष्टिमे बाहर हमारा उपयोग न जायगा, और निरख रहे है यहाँ हम अपनेको रागपरिणामरूप। तो वह रागरूप पर्याय कब तक टिकेगा ? रागपरिणामका टिकाव तब होता है जब कि आश्रयभूत पदार्थपर दृष्टि जा रही हो। जब अशुद्ध निश्चयदृष्टिमे आश्रयभूतपर दृष्टि नही है, निमित्तपर दृष्टि नही है तो ऐसी परदृष्टिविहीन इस द्रव्यदृष्टिमे यह राग

उपयोगमे कब तक टिक सकेगा ? सो वहाँ भी आत्मतत्त्वकी उपासनाका अवसर बन जाता है। एक दृष्टि है शुद्ध निश्चयदृष्टि। शुद्ध निश्चयदृष्टिमे शुद्ध पर्यायपरिणत प्रभुको निरखा गया। अरहन्त सिद्ध प्रभु उनका शुद्ध परिणाम अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्दसे सम्पन्न देखा गया निश्चयदृष्टिसे। तो वहाँ दूसरा आश्रयभूत पदार्थ प्रथम तो वहाँ है नही और वह शुद्ध परिणाम परम्परासे, कर्मोंके क्षयसे हुआ है, इस तरहकी भी निगाह वहाँ नही है, क्योंकि स्वाश्रित निश्चयदृष्टिसे तत्त्व तका जा रहा है। यहाँ देखा जा रहा है कि यह केवलज्ञान पर्यायी, केवलज्ञानी आत्मा है तो उस दृष्टिमे शुद्ध ही देखा जा रहा है। तो ऐसी निरख उस आत्मतत्त्वकी ही उपासना बन पडती है। तो शुद्ध निश्चयदृष्टिसे भी आत्मतत्त्वकी उपासना किस प्रकार है ? इसका भी वर्णन होगा।

विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयदृष्टि व विवक्षितशुद्धोपादानदृष्टिका निर्देश—अब एक यह दृष्टि आ रही है विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयदृष्टि। इसके सम्बधमे समयसारकी टीकामे और प्रधानतया जयसेनाचार्यकी टीकामे अनेक स्थलोमे वर्णन आया है कि रागादिक शुद्ध निश्चयसे अथवा शुद्धनयसे पौद्गलिक है, वहाँ यह सदेह हो जाना प्राकृतिक है कि निश्चयदृष्टिसे कह रहे और उसमे भी शुद्ध निश्चयसे कह रहे है कि वह पौद्गलिक है, यह कैसे सिद्ध हो जायगा कि रागादिक पौद्गलिक है ? तो देखिये इस दृष्टिका नाम पूरा है—विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय-दृष्टि। जब ऐसी स्थिति आ रही हो कि देखना हो हमे कि यह राग कैसे आया, कहाँसे उठा और साथ ही हमे अपने उस स्वरूपको अन्तस्तत्त्वको उपयोगमे सुरक्षित बनाना है, क्योंकि समस्त दृष्टियोका प्रयोजन है शुद्ध चैतन्यस्वरूपको उपयोगमे लेना। तो इस प्रयोजनको पूरा सिद्ध करनेके लिए यह दृष्टि भी समर्थ है। जहाँ यह देखा कि रागादिक पौद्गलिक कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुए है तो ये रागादिक पुद्गलसे आये है, इनका अन्वयव्यतिरेक पुद्गलके साथ है और यह भी दिखता है कि यह आत्मा तो अनादि अनन्त ध्रुव एक चैतन्यस्वभावरूप है। यहाँ देखो—शुद्ध परमार्थदृष्टिसे चैतन्यस्वभावको सुरक्षित बनानेके लिए रागको पौद्गलिक कहा गया, तो कैसे यह शुद्ध नय हुआ ? यो कि इस वर्णनमे वह हमारा चैतन्यस्वरूप अवि-कार स्वरक्षित रहा और उस ओर हमारी दृष्टि गई। तो जहाँ यह वर्णन आया कि शुद्ध निश्चयसे रागादिक पौद्गलिक हैं, इस दृष्टिका पूरा नाम है—विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयदृष्टि। इस दृष्टिसे भी आत्मतत्त्वकी उपासनामे सहयोग प्राप्त होता है। अब एक दृष्टि आ रही है—विवक्षितशुद्धोपादानदृष्टि। अपने आपका उपादान जब विवक्षित है, उस शुद्ध चैतन्यस्वरूपको कहनेकी इच्छा है तो उस ही को तो निरखा जायगा। मैं अनादि अनन्त हू, शुद्ध हू, ज्ञानमात्र हू और मुझसे ये सब रागादिक भाव निराले हैं। तो शुद्ध उपादान अर्थात् पर्यायसे शुद्ध उपा-दान नही, किन्तु अन्य परपदार्थोंसे विविक्त केवल यह उपादानभूत तत्त्व, जिसको कि इस दृष्टि

मे यह कहा जा सकता है कि मेरु पर्वतकी जडके नीचेकी जो मिट्टी है वह भी घडेका उपादान है, पर वह नही लाया जा सकता, न उसका घडा बन सकता है। फिर भी शुद्ध उपादानदृष्टिसे जब निरखते है तो वहाँ भी यह कहा जा सकता है। ऐसे ही अपने आपमे शुद्ध उपादानकी दृष्टिसे जब निरखते है, उसकी विवक्षा है तब वहाँ एक चित्स्वरूपमात्र दृष्टिमे आता है। यहाँ उपादेय शुद्ध भावके लिए एक यह दृष्टि बनायी गई है, इस दृष्टिको कहते है—विवक्षितशुद्धोपादानदृष्टि ।

अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टि व अन्वयव्यतिरेकदृष्टिका निर्देश—एक दृष्टि है अतर्व्याप्यव्यापकदृष्टि। देखिये—सभी दृष्टियोमे निहारा गया एक ही तत्त्व, दूसरा नही। जो अपने आपका सहज सिद्ध स्वरूप है निरखना केवल उसको है। उस दृष्टिमे हमारी कितनी पद्धतियाँ काम देती है, उनका यहाँ वर्णन है। अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टि कहते है वस्तुके भीतरी स्वरूपमे ही जो व्याप्य है, जो व्यापक है, ऐसा अपने आपमे व्याप्यव्यापकभाव निहारनेको अन्तर्व्याप्यव्यापक दृष्टि कहते है। जैसे मोही जीव सोचते है कि मै इस घरमे हू, मै इतने लोगोके बीच हू या मुझमे इतने लोग समाये हुए है, जिनसे लगाव है, प्रीति है उनमे उन मोहियोका भाव जगता है, तो अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टिने बताया कि बाहर तेरा कोई न व्याप्य है, तू और बाहरमे तू कही व्यापक नही है। तू तो अपने स्वरूपमे ही अन्तर्व्याप्यव्यापक भावरूपसे रह रहा है, ऐसी अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टिसे आत्मामे क्या प्रभाव होता है, उसका वर्णन होगा। एक दृष्टि है अन्वयव्यतिरेकदृष्टि। इस दृष्टिका विषय आत्मतत्त्व तो नही होता, इससे निहारा जायगा रागादिक विकार और पौद्गलिक कर्मका उदय होनेपर रागादिक विकार होते है। ऐसा अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध यहाँ पाया जा रहा है। लेकिन इस दृष्टिसे आत्मतत्त्वकी उपासनाको बल कैसे मिलता है ? यह ध्यानमे लीजिये। वह बल इस तरह मिलता है कि जब इन परेशान करने वाले रागादिक भावोमे अन्वयव्यतिरेक दृष्टिसे पुद्गलकर्मका सम्बध कर लिया है तो हम अपनेको रागादिकरूप भी न अनुभव करेंगे, इसके लिए सहयोग प्राप्त होता है। तो यो अन्वय व्यतिरेक दृष्टिसे भी आत्मतत्त्वको किस तरह उपयुक्त करनेमे सहयोग मिलता है, इसका वर्णन होगा।

स्वभावदृष्टिका निर्देश—एक दृष्टि है स्वभावदृष्टि। स्वभावका निरखना, इसका सीधा क्या अर्थ है ? इसे पहिचाननेके लिये यह समझिये पहिले कि स्वभाव किसे कहते है ? खुदमे खुद ही परका सहारा लिये बिना जो शाश्वत हो उसे स्वभाव कहते है। जैसे पुद्गलमे मूर्तिकताका स्वभाव है, और मोटे दृष्टान्तमे किसी पदार्थको लेकर कहो—अग्निमे गर्मीका स्वभाव है। अग्नि पदार्थ नही है। अगर अग्निको कोई पदार्थ मान करके उसका वर्णन करें तो वर्णन होगा कि उसमे उष्णताका स्वभाव है। उष्णता न रहे तो अग्नि भी न रहेगी। सो इस

दृष्टान्तमे तो यह विषमता है कि कभी उष्णता खतम कर दी जाय तो अग्नि भी खतम हो जायगी, परतु स्वभावमे यह बात नही है। न स्वभाव कभी खत्म होगा, न स्वभाववान चैतन्य कभी खत्म होगा। तो स्वभाव नष्ट नही होता, ऐसे अविनाशी अपने आपमे अन्त प्रकाशमान स्वभावकी दृष्टि करनेको स्वभावदृष्टि कहते है। जब स्वभावदृष्टि करेंगे तो आत्मामे क्या प्रभाव पडेगा ? इसका वर्णन होगा। इसके प्रभावकी बात तो थोडा लौकिक उदाहरणमे भी समझ लीजिए। किसी बालकको यदि समझाना है कि तेरा उत्तम कुल है, तू उच्चकुलीन है, तू नीच कार्य क्यो करता है ? तब वह अपनेको उच्चकुलीन अनुभव कर लेता है, तो वह नीच कार्योको छोड देता है। ऐसे ही जब आत्माके ऐसे स्वभावका दर्शन होता है जिस स्वभावमे अलौकिक वैभव पडा हुआ है, तो उस स्वभावकी उपासनासे अनन्त चतुष्टय सम्पन्नता व्यक्त होती है, यों स्वभावकी दृष्टि करनेको स्वभावदृष्टि कहते हैं।

परिणामदृष्टिका निर्देश—एक है परिणामदृष्टि। केवल परिणामको निरखना। देखिये—ज्ञानस्वभावको निरखनेका उपाय क्या है ? जो ज्ञानव्यक्तियाँ है, जो जाननपरिणतियाँ हैं, उन जाननपरिणतियोके स्वरूपको जब निहारने लगे तो उस परिणामको निरखनेके फलमे उस अभेद परिणामकी दृष्टि बन जाती है, किन्तु उस परिणामको देखा एक शुद्ध रूपसे, अशुद्ध पर्यायको देखा, सो बात नही कह रहे। शुद्ध पर्यायरूपमय चैतन्यको देखा, इसको भी नही कहा जा रहा, किन्तु देखा चैतन्यपरिणामको, मगर मिश्रित नही देखा। जैसे हरा, पीला बल्ब लगा देनेसे प्रकाश हरा, पीला हो जाता है, उस हरे पीले प्रकाशमें शुद्ध प्रकाशका निरखना और हरे, पीले प्रकाशको निरखना, इसमे अन्तर है। है वह पीला और हरा प्रकाश, किन्तु उसमे जो प्रकाशस्वरूप है, प्रकाशमात्र है वह हरा नही है, प्रकाश हरा नही हुआ करता। वह एक ज्योति है, यद्यपि प्रकाश जहाँ भी मिला लोकमे वह किसी वस्तुके आधारपर मिलेगा और उस वस्तुमे रूप रग तो हुआ ही करते है तो प्रकाश भी उस रगका मिलेगा। इतनेपर भी प्रकाशका शुद्ध स्वरूप तो स्वच्छता है। उस स्वच्छताको हम हरे, पीले आदिक रूपमे नही मान सकते, और सफेदमय भी नही मान सकते। जैसे एक हरा रग है, वैसे ही सफेद भी एक रग है। सफेद और हरे बल्ब एक साथ जल रहे हो तो कही सफेद रगमे हरा रग न घुस जायगा। अब देखिये—यही एक लौकिक दृष्टान्त जब हम प्रकाशके शुद्ध स्वरूपको जानने चले तो कैसा एक निर्विकल्प तत्त्व विदित हो रहा है, यह भी आत्मामे जब हम शुद्ध परिणामको निरखने चलेंगे कि जान रहा हू मैं, इस इस इष्ट पदार्थको जानता हू, निष्टरूपसे जानता हूँ, किन्ही अनेक पद्धतियोसे जानता हू, ये सब गडबडी होकर राग भी आया, द्वेष भी आया, कषाय भी हुई, विषय भी हुआ, ये सब गडबडी होकर भी हम केवल जब जाननेका स्वरूप देखेंगे, जाननपरिणमनका स्वरूप देखेंगे। जानन किसको कहते हैं ? जब इस पद्धतिसे

हम देखने चलते है तो वह जाननपरिणामस्वभाव एक अनिर्वचनीय परिणाम ज्ञात होगा, और ऐसा परिणाम जब हमारी दृष्टिमे आता है तो उसका प्रभाव होता है निर्विकल्प शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी अभेद उपासना। तो जो आत्मउपासनाके योग्य है उसकी उपासना करनेके लिए दृष्टियाँ बतायी जायेगी, जिनमे से अभी उन दृष्टियोंके कुछ नाम बताये जा रहे है, इन नामकी दृष्टियोके सहारे उस आत्मतत्त्वकी उपासनाकी विधि बतावेंगे।

तत्त्वोपासनाकी उपायभूत भेदोपासनादृष्टि—अपनी भलाईके लिए कर्तव्यमात्र एक ही है—अपने सहज आत्मतत्त्वकी उपासना करना। जो परमात्मा हुए है वे क्या है ? सहज आत्मतत्त्वका स्पष्टीकरण है। वह पर्यायसे वैसे ही प्रकट हो गए हैं जैसे स्वरूपमे है। जैसे किसी पत्थरमे मूर्ति बनायी जाती है तो मूर्ति बनाकर जो बात प्रकट होगी वह अश, वह पाषाण, वह पत्थर क्या अभी उस पत्थरमे नही है ? है, लेकिन उसके ऊपर पाषाण-खण्डोका आवरण ऐसा पडा है कि वह मूर्ति अव्यक्त है। जब वे आवरण पूरी तरह हट जाते है तो वह मूर्ति ज्योकी त्यो व्यक्त हो जाती है। इसी तरह जो स्वरूप परमात्माका है वैसा ही स्वरूप मुझमे है, लेकिन उसपर कुछ आवरण पडे है इस कारण वह अव्यक्त है। तो मुक्त होनेके लिए हमे अभी यही स्वरूपदृष्टि करके मुक्त निरखना होगा। स्वरूपदृष्टि करके मुक्त कैसे निरखा जाता है, वह व्यवहारदृष्टिके निरखनेसे विलक्षण चीज है। मुक्त होनेमे क्या होता कि केवल आत्मा रह जाता है। तो केवल आत्मा अपने स्वरूपसे है। भले ही आवरण है, उपाधि है और उस उपाधिके कारण उसमे विकार भी होते, स्थिति मलिन ही है। लेकिन सत्त्वके कारण वह सहज एक रूप होता ही है तो उस स्वरूपकी उपासना करना हमारा कर्तव्य है। तो उसकी उपासनाके लिए हमारा कर्तव्य काम देता है। यद्यपि उसकी उपासनाके लिए अनेक दृष्टियाँ है, पर सब दृष्टियोका प्रयोजन एक हो तब वे समीचीन है। सहज अतस्तत्त्वका दर्शन करना यह बात भेदउपासनादृष्टिसे भी होती। आत्माको भेदरूप अर्थात् गुणरूपसे निरखना—इसका नाम है भेदरूपसे उपासना करना। गुण कहो या भेद कहो—पर्यायवाची शब्द भी हो सकते है, क्योकि जो गुण धातुका अर्थ है वही भिद धातुका अर्थ है, जिससे व्युत्पत्ति बनती है—गुण्यते भिद्यते अर्थो यैस्ते गुणाः। जिनके द्वारा जो हो वह विभक्त हो उन्हे कहते है गुण। आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, ऐसे गुणोके स्मरण द्वारा गुणोका स्मरण करना, गुणोकी उपासना करना यह है भेदोपासनादृष्टि। सब दृष्टियोका एक प्रयोजन माना है कि मुझे तो उस सहज अखण्ड चित्स्वरूपके दर्शन करना है, जहाँ कोई आकुलता नही, अशान्ति नही, जिसके ध्यानके प्रतापसे जन्ममरणके सकट दूर होते है, जिसके ध्यानके लिए जिनभक्ति, देवदर्शन, स्वाध्याय आदिक बनाये जाते है, उस कारण परमात्मतत्त्वकी उपासना करनी है। हमारा सब दृष्टियोका यह प्रयोजन है। जिसने अपना

एक शुद्ध प्रयोजन बना लिया उसको सभी दृष्टियोसे लाभ मिल जायगा । जैसे लोग कहते है व्यवहारदृष्टि ? उसे नगण्य समझते, हेय समझते, लेकिन जिसका प्रयोजन निर्मल हो गया है वह व्यवहारदृष्टिसे भी बडा काम निकाल लेता है । देखा कि जीवमे रागद्वेष विषयकषायें ये पुद्गल कर्मविपाकका निमित्त पाकर हुए है । सो यही तो कहा जायगा कि ये पौद्गलिक है, पुद्गलसे ज्ञायमान हैं । तो देखो कितना स्वरूपकी रक्षा करा दिया इस व्यवहारदृष्टिने कि यह समझा दिया कि आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमात्र है । उसमे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कलक नही है । ये कलक तो कर्मकृत हैं । लो जिनका प्रयोजन विशुद्ध है वे सब दृष्टियोंसे अपने लक्ष्यपर पहुचते है । तो पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वकी उपासना करनेके लिये इस दृष्टिसे इस ही अन्तरात्माकी उपासना की गई है ।

अन्तस्तत्त्वोपासनाका उपायभूत अभेदोपासनादृष्टि—एक होती है अभेदउपासनादृष्टि । भेदरूपसे आत्मतत्त्वकी उपासनाका अभ्यास और उससे लाभ ग्रहण कर लेने वाला पुरुष अब अभेद उपासनाकी दृष्टिसे अभेदरूप आत्माकी उपासना करता है । इस दृष्टिमे एक अखण्ड अभेद चित्स्वभावमात्र जो कि एक दृष्टिका ही लक्ष्य बनता है उस रूपमे आत्मतत्त्वको निहा-रता रहा । जहाँ यह भेद हो कि आत्मामे चेतन है, आत्माका चैतन्यस्वभाव है वहाँ अभेदो-पासना नही हुई । अभेदोपासनामे तो स्वभाव स्वभाववानका भेद नही । स्वभावमात्र ही आत्मतत्त्व लक्ष्यमे आ रहा है । जो है सो वही उपासनामे चल रहा है । ऐसी अभेददृष्टिसे उपासना करनेकी दृष्टिको कहते है अभेदोपासनादृष्टि । इस दृष्टिके बलसे सीधा साक्षात् फलित रूप बनाये बिना स्वय ही फलरूप ऐसे अभेदकी उपासना होती है । ये सब प्रयोग द्वारा ही आनन्द देने वाली चीजें हुई । प्रयोग किया जाता है ज्ञान द्वारा । अपने ज्ञानका इस तरहसे प्रयोग करें इस ज्ञानस्वभावकी जानकारीमे कि जहाँ यह अभेद उपासना बने तो उसका आनद वह पायगा, स्वानुभव पायगा, यह बात अन्त सयम द्वारा होती है और ऐसे अन्त सयम द्वारा अपने अभेद अतस्तत्त्वकी उपासनाके अर्थीका बाह्य कुछ सयम ऐसा होना चाहिए कि जिसमे उसके विकल्पकी बढवारीका अवकाश न रहे । सयम किया जाता है विकल्पकी वृद्धि हटानेके लिये और विकल्पकी हानिका अवसर पानेके लिए ऐसे बाह्य सयममे रहता हुआ पात्र आत्मा अन्तः सयमके बलसे अभेद अन्तस्तत्त्वकी उपासना करता है । तो अभेदउपासनादृष्टिसे यह आत्मतत्त्व उपासनीय है ।

स्वभावविवरणदृष्टिसे आत्मा किस तरह देखा जाता है ? स्वभावका ब्योरा, स्वभाव यद्यपि एक स्वरूप है वह शब्दो द्वारा वाच्य नही है, फिर भी जैसे द्रव्यका हम विवरण करते है, गुणभेद द्वारा ऐसे ही स्वभावका भी विवरण करते हैं हम स्वभावभेद द्वारा । जैसे अभेद रूपसे तो आत्मामे एक चित्स्वभाव है । भेदरूपसे जितने गुण हैं वे सब स्वभाव ही तो हैं—

ज्ञानस्वभाव, दर्शनस्वभाव, आनन्दस्वभाव। तो ये हुए स्वभावके विवरणकी दृष्टि। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे वस्तुकी परख होती है। यहाँ भावोंकी परखमे दो विधियाँ बनती है—(१) भेदभाव, (२) अभेदभाव। भेदभावसे तो गुणोके माध्यमसे परख चलती है और अभेद भावसे एक स्वभावमात्रकी परख चलती है। तो ऐसे स्वभावके विचरण करके जो दृष्टि बनती है उससे भी आत्मतत्त्वकी उपासनाका उपाय बनता है। अब सब दृष्टियोमे प्रधान और साक्षात् अतस्तत्त्वसे मिलाने वाली दृष्टिको देखिये, वह है परमशुद्धनिश्चयदृष्टि। निश्चयका अर्थ होता है कि एक ही द्रव्यका उस ही मे उस ही की बात निरखना। तो निश्चयके इस अर्थके द्वारा यदि कोई एक ही जीव द्रव्यको अशुद्ध परिणतिमे उसमे ही देख रहा है, उसके ही साधनसे उसके ही लिए उसके ही प्रयोजनसे निरख रहा है तो वह भी निश्चयदृष्टि है, किन्तु है अशुद्ध निश्चयदृष्टि। कोई पुरुष एक ही जीवद्रव्यमे केवल ज्ञानादिक शुद्धपरिणमनो को यो निरख रहा है, इसमे है, इसके साधनसे ही है, इसका प्रयोजन यही है, ऐसे शुद्ध परिणमनको निरख रहा है, वह भी निश्चयदृष्टि है, किन्तु उसका नाम है शुद्धनिश्चयनय दृष्टि। जब पर्यायोका भेद न करके केवल एक स्वभावमात्रकी दृष्टिसे आत्मतत्त्वको देखा जाता है, शुद्ध अशुद्ध पर्यायके विकल्पसे रहित अनादि अनन्त शाश्वत अहेतुक चित्स्वभावको निरखा जा रहा है उसे परमपारिणामिक भाव कहो, शाश्वत स्वरूप कहो, सहज भाव कहो, यह दृष्टिमे जिस नयके प्रतापसे आ रहा हो उसे कहते हैं परमशुद्धनिश्चयदृष्टि।

अन्तस्तत्त्वकी प्राप्तिकी उपायभूत नित्यभावनादृष्टि—एक बडा ही पवित्र अन्तस्तत्त्वका दर्शन कराने वाला उपाय है नित्यभावनादृष्टि। भावनाओमे अनित्यभावनाका पाठ लोग पढ़ते हैं—सब कुछ मरने वाला है, यह भी मरेगा, वह भी मरेगा, तो इस प्रकारकी भावनाओसे वे कौनसा प्रयोजन साध लेंगे? यदि अपने नित्य तत्त्वको समझते हुए अनित्यभावना भायी जाय तो बाहरी बातोको अनित्य देखकर लाभ उठा लेंगे और जिन्हे अपने नित्यकी सुध नही वे तो अनित्य-अनित्य देखकर घबडा जायेंगे, तब यही तो मानना होगा कि नित्यभावना दृष्टि इस जीवको एक शान्तिके धाममे पहुचा देती है। यह मै आत्मतत्त्व नित्य हू, सदाकाल रहने वाला हू। जिसने यह सोचा कि मैं आत्मा सदा रहने वाला हू, उसको क्या यह दिखने वाला देह ध्यानमे आयगा? नही। जो सदा रहता है, ऐसा जो कुछ भी चैतन्यस्वरूप तत्त्व है, उसको ही देखकर कहेगे कि यह मैं नित्य हू। तो नित्यकी भावनाका जहाँ दर्शन हुआ वहाँ इस जीवको आत्मतत्त्वकी आराधनाका उपाय मिल गया। मै नित्य हू। इसी प्रकार अशरण-भावनामे खूब विचारते जाना कि मेरा कोई सहारा नही, मेरा कोई मददगार नही, लोग अपने-अपने स्वार्थके हैं, यो कोई अशरणभावना भाता रहे तो उससे इस आत्माको कुछ लाभ मिल जायगा क्या? अरे उससे तो घबडाहट ही मिलेगी, और दुःख ही बढ जायगा।

अरे अपनी शरणभावना अंतरंगमे पडी हुई है तो वह अशरणभावना काम कर देगी। मेरा शरण मेरेमे अतः प्रकाशमान यह मै सहज परमात्मस्वरूप हू। उसका दर्शन हो, उसकी उपासना हो, उसके लिए कोई खेद नही, सकट नही। तो खुद खुदके लिए शरण है, कौनसा खुद ? परम शुद्ध निश्चयनयका विषयभूत यह अतस्तत्त्व इसका जिसने आश्रय किया, आलम्बन लिए, उसके लिए वह स्वय शरणभूत है। तो शरणभावनाकी दृष्टिके उपायसे भिन्न आत्मतत्त्वकी उपासना करनी है। इसी प्रकार नि.ससारभावना है। यह मैं आत्मा ससाररहित हू, ससारसकट विकल्पजाल इनसे मैं रहित हू। यद्यपि वर्तमानमे पर्याय ऐसी है, मगर इसका यह भेदविज्ञानका यत्र कैसा अनोखा है ? इसका यह सूक्ष्मस्वभावस्पर्शी ज्ञान एक ऐसा अनोखा यत्र है कि वर्तमानकी पर्यायको भी दृष्टिमे न रखकर अन्तः विराजमान उस सहज स्वरूपको दृष्टिमे निरख ले। ज्ञानमे ऐसी कला होती है कि जिसको यह जानना चाहे, बीचमे कितनी ही चीजे पडी हो उनमे नही अटकता, और जिसका लक्ष्य करके यह ज्ञानी जानने चलता, उसे जान लेता है, तो इस भावनामे भी आत्माके नि ससारस्वरूपकी भावना की गई। लोग तो ससारभावना घातक पदार्थ मान लेते है। ठीक है, पर वह ऊपरी भावनासे। संसार मे सभी जीव दु खी है, सब असार है। अरे दु खी दु.खी ही देखते रहे तो इससे आत्माको लाभ मिलेगा क्या ? दु ख भी बढेगा। अरे ससारभावना भाते समय सब जीवोको दु खी देखो तो सही असार देखो तो सही, पर जब अपने आपके अन्दर जो नि ससार स्वरूप पडा हुआ है, समस्त ससारके सकल्प विकल्पजाल, मोक्ष, बध आदिकसे भी परे, ऐसा यह आत्मतत्त्व नि ससारस्वरूप देखा जा रहा है तब यह ससारभावना भाना लाभकारी होगा। देखिये—वर्तमान मे बात कुछ और बीत रही, मगर यह ज्ञानद्वारा कैसे लक्ष्य बना रहा कि जिसके प्रतापसे यह पर्याय मिट जायगी, अशुद्ध परिणति हट जायगी। ऐसे अपने आपके अन्त प्रकाशमान स्वरूप का दर्शन कर रहा है यह नि ससारदृष्टिभावना वाला ज्ञानी। तो इस प्रकार यह अनेक दृष्टिभूत जो उपाय है उस उपायसे ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वकी उपासना करता है।

एकत्वभावनादृष्टि व अन्यत्वभावनादृष्टिकी परस्पर सहयोगिता—एकत्वभावना व अन्यत्वभावना ये दोनो परस्पर सहयोगी है। जहाँ एकत्वका विचार है वहाँ अन्यत्वका भी विचार आ जाता है। जहाँ अन्यत्वका विचार आता है वहा एकत्वका भी ध्यान होता है। एक तो विधिमुखेन वर्णन करता है, दूसरा अन्यत्वभावना प्रतिषेधमुखेन वर्णन करती है। मैं एक हू, अन्य नही। इन दोनो भावनाओमे एक इस शुद्ध सहज ज्ञायकस्वभावकी ओर उन्मुख होनेकी प्रेरणा की गई है। आत्मतत्त्वकी उपासनाके लिए ही एकत्वभावनादृष्टि और अन्यत्वभावनादृष्टि है।

अशुचिभावनादृष्टिका परिणाम—अशुचिभावनामे देहकी अपवित्रताकी भा ना की

जाती है। "पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तै मैली। नवद्वार बहै छिनकारी, अस देह करै किम यारी॥" यह देह तो अपवित्र है, इसमे तू ममता क्यो कर रहा है? ममता कर इसी पवित्र तत्त्वकी। वह पवित्र तत्त्व है निजमे अतःप्रकाशमान शुद्ध ज्ञानस्वभाव, ऐसे पवित्र स्वभाव वाले अतस्तत्त्वकी दृष्टि करनेको शुचिस्वभाव भावनादृष्टि कहते है। जिसने अपने इस पवित्र ज्ञानस्वभावको लक्ष्यमे लिया है, वह इस ज्ञानस्वभावमे ऐसा एकरस हो जाय कि फिर कोई अन्य विकल्प न रहे तब उस आनन्दानुभूतिके पश्चात् वह सोचता है कि ओह! यह हमारी सर्वस्व सम्पदा है। अब मुझे कुछ करनेको नही रहा, मेरे सारे सकट हट गए। सकट भी क्या था? एक भ्रमका सकट था। भ्रम हटा कि सकट दूर हुआ। जितने भी लोकमे सकट है वे सब भ्रमकी नीवपर निर्भर है। भ्रम गया कि सकट भी खतम हुए। तो जब यह जीव शुचिस्वभाव वाले ज्ञानस्वभावका अनुभव करता है, इसकी ओर उन्मुख होता है उस समय वह स्वय ही बाह्य विकल्प न होनेसे आश्रयभूत पदार्थ उपयोगमे न रहनेसे इसको स्वत शान्ति मिलती है। यो समझिये कि इस जीवको सकट देने वाले ये विकल्प बैरी है। उनको दूर करनेके लिए, उनका विनाश करनेके लिए यह ज्ञानानुभूति शस्त्रकी तरह है, पर साथमे यह भी मत भूलिये कि इन्द्रियविजय, व्रत सयम आदिक ये उसके लिए कवचका रूप धारण करते हैं। जैसे योद्धा कवच पहनकर शस्त्र हाथमे लेकर युद्धमे उतरता है तो कवचसे अपनी रक्षा करता है और शस्त्रसे शत्रुपर प्रहार करता है इसी प्रकार बाह्य त्याग चरणानुयोगके विषय ये कवचका रूप है इनसे इसने अपनी रक्षा की। कही विषयकषायो मे उपयोग चला गया तो वह इसके लिए बरबादी है। यह नियम सयम रखता है और ज्ञानानुभूति शस्त्रके द्वारा यह उन विकल्प-सकटोका विनाश करता है। तो जिसने ज्ञानद्वारा ज्ञानस्वभावका परिचय पाया, जिसकी चर्यामे ही तृप्तिसी आती है, उसका मिलन हो, उसका दर्शन हो, उसका अनुभव हो, तो वहाँ बहुत ही बडी तृप्ति है और समझो कि उसने करने योग्य सब कुछ कर लिया। जो न करने योग्य था उसमे विकल्प चलते थे, वे हट गए। ऐसी स्थिति आती है शुचिस्वभाव भावना दृष्टिसे।

निरास्रवभावनादृष्टिका परिणाम—आत्माके स्वरूपको जब निरखते है तो यह आत्म-स्वरूप निरास्रव है। यह तो जो है सो ही है। इसके विषयमे बताया कि जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, किन्तु ज्ञायकभावमात्र है। इसे यो समझिये कि आत्माकी ही बात क्या? एक यदि चौकीका ही स्वरूप पूछ लिया जाय कि बताओ यह चौकी किस प्रकारकी है? तो कोई कहेगा ऐसा कि जिसमे यह बीट लगा है, मल लगा है वह चौकी है। कोई यह कहेगा कि जो मल, बीट आदिकसे रहित है वह चौकी है। कोई और कुछ भी बता देगा, पर ये कोई उस चौकीके सही स्वरूप नही है। चौकी निजमे क्या है? चौकीका चतुष्टय बतानेसे चौकी

बात आयगी, न कि किसी परभावसे सहित होना या परभावसे रहित होना बताकर चौकीका स्वरूप आयगा। तो इसी तरह जानें कि आत्मा न कषायसहित है, न कषायरहित है। कषाय सहित होना या कषाय रहित होना आत्माका लक्षण नही। आत्माका लक्षण तो जो कुछ है वह विधिरूप है उसके सत्‌रूप है, वह है एक ज्ञानस्वभावरूप, ज्ञायक स्वभावरूप। जो इस लक्षणसे परखा गया आत्मतत्त्व है उसके स्वभावका परिचय पायें। हम भक्ति करते हैं प्रभुकी वह भी उपयोग है, पर हमारे ज्ञान द्वारा जो अवलम्बन है प्रभुका वह तो परावलम्बन है। निश्चयत तो उस समय भी ज्ञानने अपने ही भावका आलम्बन लिया। जैसे हम बाह्य पदार्थों को जानते है तो वहाँ बाह्य पदार्थोंका जानना व्यवहारसे है और खुदमे जो ज्ञेयाकार परिणमन होगा अर्थात् खुद ही इस रूपको जाने यह निश्चयसे जानना हुआ तो ऐसे ही वह भक्ति व्यवहारसे भक्ति है अर्थात् वह अरहतदेव पर आत्मा है, उत्कृष्ट आत्मा होकर भी पर आत्मा है। तो उनका आश्रय करके यह भक्त भक्ति करता है। इस भक्तिरूप परिणामकी तन्मयता किसके साथ है ? इसी भक्तिके साथ है। इस भक्तिरूप उपयोगका विषय कार्यपरमात्मा है। यों परभक्ति व्यवहारभक्ति है। अगर यह व्यवहारभक्ति न करे तो फिर निश्चयभक्ति करे। मगर बताओ तो सही कि निश्चयभक्ति भी किसकी करें ? वर्तमानकी पर्याय अशुद्ध है। तो खुदकी उपासना करें क्या ? जब वह शुद्ध आत्मतत्त्व जिसकी उपासनासे निश्चयत हम भक्त है तो कैसे परखा जायगा ? यहाँ ही प्रज्ञा द्वारा अन्त.प्रकाशमान अनुमानत· युक्तिबलसे परखा जायगा कि यह मैं सहज अपने सत्त्वके कारणमात्र किसी पर-उपाधिके सम्बन्ध बिना जब यह सत् है तो अपने ही सत्त्वसे यह स्वय किस प्रकार है ? इस प्रकारसे बुद्धि द्वारा जान कर हम उस सहज शुद्ध तत्त्वको जानेंगे। उसका जो आलम्बन होगा उपयोग द्वारा वह तो यहाँ ही तन्मयरूप है। तो वह निश्चयका आलम्बन है, तो हम उस आत्माका जब कुछ आश्रय करें, भावना करें तो वह आत्मा हमे कैसा मिला ? निरास्रव। ऐसे निरास्रव अत-स्तत्वकी भावना करना सो निरास्रवभावना है। उस दृष्टिके उपायसे आत्मतत्त्वकी प्राप्ति की जाती है।

संवरभावनादृष्टिका परिणाम—सम्वरभावनादृष्टि—जो निरास्रवता है वही सम्वरका रूप है, पर वहाँ तो प्रतिषेधमुखेन वर्णन हुआ। यहाँ यह बतला रहे हैं कि यह आत्मा, यह कारणसमयसार तत्त्व स्वय सम्वररूप है। यद्यपि यह आज अक्षुण्ण ज्योका त्यो व्यक्त नही है, मगर जब इसके स्वभावकी परख करते है तो स्वभाव तो विशुद्ध ही बताया जायगा। स्वभाव का बताना, परिणमनका भोगना ये दो बातें है। जैसे गर्म जल है, उसे कोई पियेगा तो जल जायगा, पर उस जलको जब स्वभावदृष्टिसे निरखने चलेंगे तो यही कहेगे कि जलका ठडा स्वभाव है। तो ऐसे ही हम इस समय भी अपने अन्त.प्रकाशमात्र स्वभावको निरखने चलेंगे

तो वह आस्रवरहित है, सम्वररहित है और ऐसे उस सम्वरमे अपने आपके विशुद्ध चतुष्टयमे रहने वाला आत्मतत्त्व, उसको परखनेका उपाय है सम्वरभावनादृष्टि । हम उस आत्मतत्त्वको विरागपरिणामदृष्टिके उपायसे भी परख सकते है, रागरहित परिणाम । आत्माका जो अपने आपके सत्त्वकी ओरसे जो भी परिणमन होगा उपाधि बिना निरपेक्षतया अपने ही सत्त्वसे जो परिणमन होगा वह रागरहित परिणाम होगा । वह क्या ? जानना, निरन्तर जानना । उस ज्ञायकस्वभावकी ओरसे जाननेका ही परिणाम होता है । अब उपाधिवश जैसे स्फटिक पाषाण स्वय रागादिक रूप नही परिणम सकता, किन्तु उपाधिका सयोग होनेसे वह रागादिक रूप परिणम जाता है, इसी प्रकार यह सर्वविशुद्ध आत्मतत्त्व स्वय अपने तत्त्वकी ओरसे स्वयं रागादिकरूप नही परिणमता, किन्तु उपाधि सम्बधसे रागादिकरूप परिणमता है । जैसा समयसारके इस दृष्टान्तमे जो कि बताया गया उससे हमे यह शिक्षा लेना है कि यह आत्मा स्वय अपने स्वरूपतः अपने ही स्वभावसे यह विकाररूप नही होता । यो समझ लीजिए कि इसमे विकारका सामर्थ्य नही, किन्तु अविकार रहनेका सामर्थ्य है । विकार उपाधिवश होता है और अविकारका इसका निजी हक है, निजी सामर्थ्य है । जब विराग परिणामदृष्टिसे इस आत्मतत्त्वको निरखने चलते है तो यह आत्मतत्त्व रागरहित अपने उत्पाद व्ययरूपसे अपनी अर्थ पर्यायरूपसे परिणमता हुआ दृष्टिमे आता है । यो विराग परिणामदृष्टिसे यह आत्मतत्त्व निरखा जाता है ।

शुचिभावनादृष्टिका व निरास्रवभावनादृष्टिका विषय—बारह भावनाओमे हम एक अशुचिभावना भी पढते है । अशुचिभावनाका भाव यह है कि यह देह अपवित्र है । हाड, मास, खून, मज्जा आदिक अपवित्र पदार्थोका यह पुञ्ज है । ऐसे उस अशुचि देहकी भावना करते है । उसका प्रयोजन क्या है कि अशुचि देहसे वैराग्य जग जाय । लेकिन इस अशुचि देहसे वैराग्य उसके ही जगेगा, जिसने अपने शुचि पवित्र अन्तःस्वरूपको भी समझा है । जो पुरुष अपने आत्माके उस पवित्र ज्ञानज्योतिस्वरूपको न जानता हो और बाहरमे इन देहोको पवित्र देखा हो तो जैसे कही रास्ता चलते हुएमे कूडा, करकट, विष्टा आदिक दिखते है तो तो वह नाक, भौ आदिक सिकोडकर आगे बढ जाता है, उस अशुचिको देखनेका फल एक घृणा ही रहती है, इसी तरह जिसे आत्मज्ञान नही हुआ वह देहकी अशुचिताको भी कुछ समझे तो उससे लाभ क्या होनेका ? लाभ यह था कि अशुचिकी उपेक्षा करके शुचिमे लगे । तो अपना पवित्र अन्तस्तत्त्व जो अपने स्वभावसे स्वरूप रचा हुआ है, ऐसा ज्ञानज्योतिस्वरूप मैं हू । इसकी भावना करना अशुचिभावनादृष्टिमे बताया गया है । आस्रवभावनामे कहा ही है कि "आस्रव दुखकार घनेरे । बुधवत तिन्हे निरवेरे ।" ये जितने क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक परिणाम है वे आस्रव हैं । इनसे नवीन कर्मका आस्रव होता है, और यह जीव कर्मो

के भारमे दब जाता है। उसके लिए ये सब अहितकारी भाव हैं। जिनमे रमते हैं, जो सुहावने लगते है, जिन्हे देखकर खुश होते हैं, जिनमे रागद्वेष होता है ये सारे भाव हमारी बरबादी के ही भाव है। जिसको अपने निरास्रव याने विषयकषायरहित केवल ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वका पता है वह इन आस्रवोमे हटकर निरास्रव आत्मतत्त्वमे लगता है। जगतमे हम आप कुछ भी नही कर रहे है सिवाय एक भाव बनानेके, और उन भावोमे भी हम अपनी दृष्टि कहाँ रखते हैं, कहाँ ले जाते है? बस दृष्टिको रखने और ले जानेका ही काम किया करते हैं। बाहरी पदार्थ मुझसे भिन्न है, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वरूप मुझसे निराला है। तो यह स्वयं उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप धर्मको रखता है तो वह उत्पन्न होता है, विलीन होता है। जो कुछ बाहरमे हो रहा है वह उनके परिणामनमे हो रहा है, और मेरेमे जो कुछ हो रहा है वह मेरे परिणमनसे हो रहा है अर्थात् मैं किसीका कुछ कार्य नहीं कर सकता हू। अपने अन्दर भाव बनाता हू, सुधार विगाड, यहाँ तक ही मेरी करतूत है, इससे आगे मेरी करतूत नही। लेकिन जिन्हे इस मर्मका बोध नही वे तो अहकारमे ही रहते हैं कि मैंने किया, यह मैं कर दूगा, यह मैंने इतना वैभव बढाया, इस प्रकार उसमे अहभाव रहता है। आस्रवोमे मुख्य आस्रव है अहकार, मिथ्यात्व, पर्यायबुद्धि करना। जिस शरीरमे हम है उस शरीरसे भी निराला मैं हू। ऐसा निरखना चाहिए, लेकिन मनुष्य आदिक इनको ही देखकर ये ही तो मैं हू, इस प्रकार अहङ्कार रखते हैं, और जब शरीरको माना कि यह मैं हू तो दूसरे शरीरको देखकर माना कि यह दूसरा जीव है। न तो ये दूसरे जीव हैं जो दिख रहे हैं, और न यह मैं जीव हू जो यह शरीर है। शरीरसे निराला जैसे चैतन्यस्वरूप मैं हू इसी प्रकार इन देहोसे निराला चैतन्यस्वरूप यह भी जीव है और वह स्वरूप स्वभाव अविकार है, निरास्रव है, वस्तुकी परीक्षा करें, जीव स्वय अपने आप अविकारी है, उसमे द्वद-फद नही। वह तो एक ज्ञानस्वरूप है, ऐसे निरास्रव आत्मतत्त्वकी भावना करनेका नाम है निरास्रवभावनादृष्टि। हम दृष्टि करने तक ही समर्थ है तो हमे अपनी दृष्टि ही ठीक बनाना है। हम अपनी दृष्टि कहा ले जायें, कहाँ रमायें? इसकी जिन्होने सही कुशलता पायी है, उन्होंने समझिये कि ससारसकट दूर करनेका उपाय कर लिया।

विरागपरिणामदृष्टिका अभ्युदय—आस्रवको रोकने वाली स्थिति है सम्वरकी स्थिति। तो सम्वरभावनामे भावना भाते हैं कि मोह नीद मिटती है, विषयकषाय दूर होते हैं तो आस्रव रुक जाता है, तो वह सम्वर तत्त्व क्या है? एक विरागपरिणाम। जैसे कोई पुरुष शरीरमे तेल लगाकर धूलभरे अखाडेमे तलवार लेकर आ जाय, वहाँ कुछ शस्त्र चलानेका अभ्यास करे तो थोडी ही देरमे उसका शरीर धूलसे लथपथ हो जाता है। वहाँ यह विचार करे कि उस पुरुषके धूल क्यो चिपटी? क्या तलवार चलानेसे? नही, क्या उस अखाडेमे आने

से ? नही, क्या उस अखाडेमे बडा श्रम करनेसे ? नही । वह धूल चिपकी है तेलके लगाने से । क्योकि बिना तेल लगाये कोई पुरुष उस अखाडेमे जाये, वहाँ तलवार चलाकर बडा श्रम कर डाले, तो उसका शरीर तो धूलसे लथपथ नही होता । तो वहाँ निष्कर्ष यही निकला कि चूकि उस पुरुषने अपने शरीरमे तेल (स्नेह) लगा लिया, इस कारण उसका शरीर धूलसे लथपथ हुआ । तो इसी तरह हम आप भी इस ससारमे रह रहे है । तो इस लोकमे रहनेके कारण कर्म नही बँधते, क्योकि इस लोकमे अरहत और सिद्ध भी तो रहते है । लोकसे बाहर तो नही रहते, पर उनके तो कर्म नही चिपकते । तो कही इस लोकमे (ससारमे) रहनेसे कर्म-बध नही होता अथवा कोई तनका व्यापार होनेसे कर्म नही बँधते ? यद्यपि आजकल हम ऐसी स्थितिमे है, यह देखा जाता है कि शरीरका श्रम करते है, भाव भी बधते है, कर्मबध होता है, लेकिन यह नियम न बनाया जायगा । अरहत भी चलते है, उनकी भी दिव्यध्वनि खिरती है, पर उनके तो कर्म नही चिपटते । किसी जीवकी हिसा हो गई तो वहाँ देखो भाव प्रायः साथमे लगे हुए है, इसलिए हिंसाका दोष लगा, पर जीवका घात हो गया, इससे कर्म नही बँधा । तो जीवका घात करनेका मनमे जो सकल्प बना उससे कर्मबध हुआ । अगर जीवघात से कर्मबध हो जाय तो मुनिजन जो ईर्यासमितिसे विहार करते है और कदाचित् कोई कुन्थु प्राणियोका घात हो जाय तो उन्हे कर्मबध नही बताया । तो निष्कर्ष यह निकला कि हम जो ज्ञान बहिस्तत्त्वमे लगाये है, हमारे ज्ञानमे उपयोगमे जो राग समाया है यह कर्मबधका कारण है । देखिये कितनी वडी विपत्ति है इस समय हम आपपर ? है अकेले चैतन्यमात्र, किसीसे सम्बध नही । थोडे दिनको आये है, कुछ दिन बाद चले जायेगे । क्या नाता है ? क्या सम्बध है ? लेकिन पर्यायबुद्धि हो जानेपर यह देह है सो मैं हू, बस इतना अपराध हो जानेपर फिर इसके साथ सकटोका सम्बध हो जाता है । कोशिश यह करना है कि अपनेको इन सकटोसे दूर रखे, अपने आपको शान्त रखें । मैं ज्ञानमात्र हू, जाननमात्र मेरा कार्य है, ऐसा ही मेरा स्वरूप है, इसमे रागद्वेप नही भरे है । ये कर्मके उदयका निमित्त पाकर बँधते है । ये रागद्वेप नैमित्तिक भाव है, मेरे स्वरूप नही है, ये मेरी बरबादीके लिए ही आये है । उनसे विरागता हो, उनमे राग न जाय और अपना जो एक स्वच्छ ज्ञानस्वरूप है उसमे प्रतीति जगे, ऐसा उपाय करना चाहिए ।

निजलोकभावनादृष्टिका अभ्युदय—एक दृष्टि आत्महितके लिए है निजलोकभावना-दृष्टि । मेरा लोक क्या है, मेरी दुनिया क्या है ? इसकी भावना बनाना । मेरी दुनिया मेरेमे बाहर नही है । मेरेसे बाहर हो और मेरी कहलाये, यह कभी हो ही नही सकता । शब्द ही गवाही नही देता कि मेरेसे जो बाहरकी चीज है वह मेरी कहलाये । जो मेरा होगा वह मेरेमें होगा । मेरेसे बाहरकी कोई भी वस्तु मेरी हो ही नही सकती, क्योकि वह बाहर है,

वह भिन्न है, भिन्नप्रदेशी है, भिन्न द्रव्य है, तो मेरा लोक मेरा चैतन्यस्वरूप है। मेरा स्वरूप ही मेरी दुनिया है, अन्य कुछ मेरी दुनिया नही है, ऐसे निजलोककी भावना करना सो लोक-भावनादृष्टि है। ऐसे अपने लोकको जो पहिचानता है, गृहस्थीकी स्थितिमे भी हो, कोई बडे सकटकी घटनामे भी आ गया हो तो भी उसकी घटना, उसका सकट नगण्य हो जाता है। जिसने अपने आपसे ही केवल रुचि रखी है कि यह ही मात्र मैं हू और मेरेको कोई जाननहार भी बाहरमे नही, अगर कोई मेरा जाननहार है तो वह ज्ञाताद्रष्टा मात्र है, चैतन्यस्वरूपका जाननहार है, मुझ व्यक्तिका जाननहार नही है। तो मेरा जब यहाँ बाहर कुछ है ही नही तो बाहरकी बातोमे उपयोग क्यो बसाऊँ ? मैं अपने आत्मलोकमे ही अपना उपयोग रमाऊँ, ऐसी भावनाका नाम है निजलोकभावनादृष्टि।

बोधिलाभभावनादृष्टिका अभ्युदय—इस लोकमे सबसे दुर्लभ चीज क्या है ? इस र भी विचार करें। बाहरी वस्तुवे, वैभव समागम ये लभ्य ही नही हैं याने ये मुझको प्राप्त ही नही है, फिर दुर्लभताकी बात ही उनमे क्या सोची जाय ? और तब भी तो यह विदित होता कि ऐसा वैभव इस जीवने अनेक बार पाया, इसे याद नही है। जो मनुष्य बने है, अच्छे कुल मे आये है, अच्छी स्थिति है तो यह वर्तमान स्थिति इस बातका अनुमान कराती है कि हमारा पूर्वभव भी कोई अच्छा ही तो था, खोटे भवसे यहाँ नही आये। एक ऐसा अन्दाज होता है, और एक कल्पनामे तो यो भी जच सकता है कि खूब अच्छा पुण्य किया, धर्म किया, ऊँची साधना बनायी तब हम मनुष्य हुए, लेकिन कोई गल्ती भी तो कर डाली होगी जिससे कि पचमकालमे पैदा हुए, नही तो विदेहमे मनुष्य होते, धर्मके प्रसग साक्षात् देखते, अरहत भगवानके साक्षात् दर्शन करते। इतना तो अदाज है कि हम किसी अच्छे भवसे ही आये हुए है। तो उस पूर्वभवमे हमारे क्या समागम न होंगे, परिजन, वैभव, इज्जत आदि, मगर उनका आज हमे कुछ परिचय नही है। तो ऐसे ही रहा सहा जितना जीवन है यह भी गुजर जायगा तो फिर मेरे लिये यहाँकी क्या चीज रह जायगी ? कुछ परिचय भी हो सकता है ? ये बाहरी चीजें अनेक बार पायी, और उनसे लाभ कुछ न मिला। पर अपने आपके आत्माका सही ज्ञान होना, अपने आत्माके सही स्वरूपका श्रद्धान होना, अपने आत्माके स्वरूपमे रमण होना, यह स्थिति नही पायी। यदि यह स्थिति पायी होती तो फिर ससारमे रुलनेकी बात क्यो होती ? सब कुछ सुलभ है, किन्तु आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान, आत्मआचरण, आत्मरमण और आत्ममग्नता ये ही दुर्लभ चीज है। यह कष्टकी कोई बात नही है। यह तो एक आनन्दकी बात है कि बाहरी चीजें छूट जायें। देखिये—सभी लोग भगवानसे प्रार्थना करते है कि हे भगवन ! मेरेको मुक्ति प्राप्त हो, मेरेको ससारके जन्म मरण मिट जायें। प्रार्थना तो करते हैं मगर कदाचित् कोई आ जाय, मान लो लेनेके लिये कि हाँ चलो हम तुम्हे मोक्ष देते हैं, तुम

तैयार रहना, हम तुम्हारा जन्म मरण मेटते है, तैयार रहना।' हाँ हाँ साहब! अच्छा तो देखो—मुक्तिमे ये पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक नही होते, न ये कोई समागम होते, तो इन्हे छोड दो। मुक्तिमे यह देह भी नही होती, मुक्तिमे ये धन वैभव भी नही होते, तो इन सबको छोड दो। लेकिन प्रायः प्रार्थना करने वाले कुछ ऐसा समझ रहे है कि जैसे यहाँ कुछ सुख मिल रहा है तो इससे कई गुना अधिक सुख होता होगा मोक्षमे, इसलिए मोक्षकी प्रार्थना करते है, मगर इससे हजारो गुना, लाखो गुना सुख मोक्षमे नही, गुना तो कोई लगाया ही नही जा सकता। यहाँका सुख तो आकुलतारूप है, आकुलताओसे भरा हुआ है, भ्रमका सुख है, कल्पनाका सुख है, धोखेका सुख है, दुःखोसे भरा हुआ सुख है और मोक्षमे है आत्मसुख। शुद्ध ज्ञान रह गया, शुद्ध चैतन्यस्वरूप बना हुआ है, तरग भी नही उठती, कोई विकल्प विचार भी नही जगता, ऐसा शुद्ध निस्तरग यह आत्मा प्रकट हुआ है। स्वभाव जो था, जैसा था, सहज था वह अब व्यक्त हो गया, इसीका नाम है मोक्ष। और इस मोक्षमे अद्भुत आनन्द है, अलग नही है। उस सुखका क्या करें जो दुःखोंसे भरा हुआ है। जो सुख पराधीन है, जिस सुखमे निरन्तर दुःख बने हुए है, उसमे क्या आस्था रखे? यह आत्मीय आनन्द और सत्य ज्ञान, इसकी रुचि जगे, यह चीज दुर्लभ है। इसकी भावना चाहिए कि मेरेको मै मात्र चाहिए। जो एक निजको चाहेगा उसको समस्त वैभव मिलेगा, और जो एक निज स्वरूपको छोडकर बाहरमे अनेक कुछ भी चाहता रहे तो उसको कुछ भी प्राप्त न होगा। इससे ऐसी भावना करें कि मेरेको सत्य ज्ञान, चारित्र प्राप्त हो, यही दुर्लभ चीज है, इसे कहते है बोधिलाभभावनादृष्टि। अपने आपके आत्मस्वरूपका लाभ करनेकी भावनादृष्टि।

धर्मभावनादृष्टिका अभ्युदय—कुछ थोडा उपयोग अच्छा होता है। धर्मकी ओर दृष्टि जगती है, धर्मकी ओर चित्त तो चलता है, पर धर्मका यथार्थस्वरूप विदित न होनेके कारण जिस किसी भी भावमे धर्मकी बात मान ली हो तो लो धर्मसे च्युत हो गए। धर्म क्या चीज है? अरे तुम स्वय साक्षात् धर्मस्वरूप हो। मेरा जो वास्तविक स्वरूप है, अपने आप मेरा जो कुछ भी निर्माण है वह सब धर्मरूप है, प्रत्येक पदार्थ धर्मरूप रहता है। अधर्मरूपता तो किसी अन्य पदार्थके निमित्तसे हुआ करती है। प्रत्येक पदार्थ स्वय अपने-अपने धर्ममे ही रहता है, मैं आत्मा एक ज्ञानस्वभावमात्र हू। जानना, प्रतिभास करना, ज्ञानज्योति जगना, बस यही मेरा स्वरूप है। तो इस ज्ञानस्वरूपमात्र अपनेको जाने तो यही है धर्मपालन और जितने भी और धर्म पाले जाते है व्यवहारमे, उन सबका उद्देश्य यह है कि रागद्वेष मिटे, कषाय दूर हो और अपने आपमे जो धर्मस्वरूप है उसकी मेरी दृष्टि रहे। जगतके सब जीवोको एक समान समझना। मेरा कोई विरोधी नही, मेरा कोई बन्धु नही, सब चैतन्यस्वरूप है। हालाकि ये जीव कुछ बिगडी हालतमे चल रहे है, उनके साथमे कषायें लगी है, अन्य परपदार्थोंका बन्धन

सम्बन्ध भी लगा है । यो बिगडी हुई स्थिति है । इन जीवोने अपराध किया इस कारण इनके साथ कर्मोका नाच चल रहा है । यह जीवस्वभावसे निरपराध है । सब जीव एक समान है । जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही सभीका स्वरूप है । मेरा कोई विरोधी नही, मेरा कोई शत्रु नही । सब जीव है और अपनी-अपनी योग्यतासे अपना-अपना परिणमन करते है । मेरा कौन विरोधी ? ऐसी निर्विरोध भावना बने, यही धर्मस्वरूप भावना है । हम भीतरमे कोई परिवर्तन करना नही चाहते । जैसे समता रखना । कैसी ही घटना घटे, उसमे अधीर न होना, अपने धैर्यको न खो देना, सभी जीवोमे समता बुद्धि रखना, सभी जीवोंके प्रति करुणा का भाव रखना, इस प्रकारका परिवर्तन तो अपनेमे लाते नही और कुछ ऊट-पटाग बाहरी कुछ भी चेष्टायें कर रहे तो भला बतलाओ शान्तिका लाभ कैसे प्राप्त हो सकता है ? कभी कभी लोग यह शका करने लगते कि देखो अमुक आदमी बहुत दिनोंसे पूजा करता आया है, उपवास करता आया है, इतनी साधना करता आया है, मगर फर्क तो कुछ नही पडा । वैसी हो कषायें हैं, जरा-जरासी बातमे क्रोध आता है । तो बात वहाँ क्या हुई कि जो धर्मस्वरूप है, जो धर्मतत्त्व है उसकी दृष्टि ही नही की । अभी तक उसकी भावना ही नही बनाया । अगर धर्मस्वरूपकी भावनाका अभ्यास रहता तो नियमसे उसकी अशुद्धतामे कमी आती । तो धर्म यही है स्वरूपकी पहिचान । अगर किसी मकानकी जड (नीव) मजबूत हो तो फिर उसपर कितने ही मजिल खडे हो सकते हैं और अगर ऐसी ही पोली-पाली जमीनपर बिना नीव बनाये ही जमीनपरसे भीत उठा दी जाय तो थोडी ऊँचे उठनेपर वह नीचेको धस जायगी और ढह जायगी । ठीक ऐसे ही धर्मके मार्गमे चलें । अपने आपके स्वरूपकी पहिचान जीवका सत्य सहज स्वरूप अपने आप जीव जिस प्रकारकी स्थितिमे होता है—उसकी पहिचान अनुभव हो, इस ढगसे अगर हम आगे बढें तो हम प्रगति कर जायेंगे । मूलमे इस आत्मस्वरूपका परिचय ही नही, कुछ और धार्मिक क्रियायें कर रहे, यद्यपि वे भी ठीक हैं, अन्य विषयभोगोंसे तो अच्छा ही है, लेकिन आत्मपरिचय बिना हम विषयकषायोको जडसे उखाड फेंकें, यह कला मिल नही सकती । यह कला इस ज्ञानमे बसी है । मैं उपयोग ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व हू । यहाँ स्वभाव को देखा जा रहा है और स्वभावसे जो देखा जाय उससे ही बल प्रकट होता है । पर्यायमे क्या है, बात क्या गुजर रही है, उसका विरोध नही किया जा रहा है । वह है, मगर उसकी चर्चा करें तो उसमे हमे लाभ नही मिल पायगा, इसलिए हम स्वभावकी दृष्टि करते है, स्वभावका परिचय करते है और हम लाभ प्राप्त करते हैं । तो धर्मस्वरूप यह मैं स्वय हू । साक्षात् यह मैं भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा धर्मरूप हू, मगर उस ढगसे उस स्वभावको देखे तो वहाँ धर्मका प्रकाश मिलेगा ।

भूतार्थसरणी दृष्टिका परिणाम—हम जानते तो सदा रहते है, मगर जानते रहनेकी

हम एक पद्धति अगर बनाये तो उससे बहुत लाभ है। कौनसी पद्धति ? जिसे कहेंगे भूतार्थ-सरणीपद्धति। जिसे अब बता रहे है। किसी भी बातको देखकर इसका ज्ञान करे कि इसका स्रोत क्या है ? जो कुछ यहा निकला है वह किसका परिणमन है ? हम ऐसे उसके मूलको विचारें। किसी भी बातको देखकर जैसे हम व्यापारमे लाभ-हानि देखकर या अन्य घटनाओ को देखकर उसके मूलका पता लगा लेते है इसी तरह हम इस जानकारीमे भी इस तरहकी दृष्टि बनाये। यह सब जो दिख रहा है काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदिक यह कहासे आया ? यह किसका स्रोत है ? दिखता तो यह है कि कभी और रग था, अब और रग हो गया। तो आखिर इसकी जड क्या है ? कुछ विचार करनेपर मालूम होगा कि कोई एक शक्ति है ऐसी रूपशक्ति, जिस रूपशक्तिके परिणमनमे अनेक प्रकारके रूप निकला करते है। तो यह रूपशक्ति किस आधारमे है ? इसको भली-भाँति सोचेंगे तो विदित होगा कि रूपशक्ति परमाणुमे है। लो दिखने वाली चीजसे हटकर हम ऐसी रहस्य और परमार्थभूत चीजपर पहुच गए। फल क्या हुआ कि हमारी इष्ट अनिष्ट बुद्धिका अभाव हो जायगा। अब आत्मतत्त्व के बारेमे सोचें। यह पुरुष नजर आता है। ये नाना विषय कषायके परिणाम बना करते है तो ये सब कहाँसे उठते है ? इनका मूल क्या है ? अरे इनका मूल यह आत्मपदार्थ है। न हो आत्मपदार्थ तो यह शरीर भला बन तो जाय, किसी प्रकार कोई आविष्कार बना तो दे। तो इसमे आत्मपदार्थ मूल है। विषय कषायके परिणाम बन रहे हैं ये कहाँसे उठ रहे है ? ये किसी शक्तिसे चल रहे है, उन शक्तियोका आधार यह ज्ञानज्योतिस्वरूप है। तो इन बाहरी बातोसे हटकर अव्यक्तकी तरफ पहुचना है, और उस मूल आत्मतत्त्वमे जब इस ज्ञानकी पहुच है तो फिर ये बहुतसे विकल्प दूर हो जाते है, और इतना विशेष लाभ मिलता है कि स्वानुभव बने, ज्ञानमात्र यह मै जब अपने ज्ञानमे रह जाऊँ तो ज्ञानानुभव बनता है भीतरमे। यह बात दुर्लभ रही अब तक। बाहरकी बाते कितनी ही मिले, सुलभ हो या दुर्लभ हो, उनसे मेरा कुछ होनेका नही। परभावके, परवस्तुके प्रमगमे मेरा गुजारा नही चल सकता। मेरा गुजारा तो मेरे इस चैतन्यमूर्ति आनन्दधाम भगवान आत्मतत्त्वके दर्शनसे, ज्ञानसे और उसकी उपासना से होगा। अन्य उपयोगसे मेरा भला नही हो सकता। तो इस तरह हम कुछ भी समझे, उसके मूलको खोजें तो इसे कहेगे भूतार्थसरणीदृष्टि।

अबद्धदृष्टिकी हितकरता—हम वर्तमानमे बडे परतत्र हो रहे है, कर्मसे बँधे है, शरीर से फँसे है, अनेक और विकल्प बाधायें होती है। इतना बन्धन होते हुए भी हम उन बधनोसे छूटनेके उपायमे क्या करें ? हमे बन्धनरहित बनना है। तो देखिये—जो कोई भी वस्तु बधन मे हो और बन्धनरहित बने तो जैसी वह बनी है बन्धनरहित ऐसी वह चीज अगर मूल स्व-भावमे हो तो बधनरहित हो सकता है, अन्यथा नही। गाय गेरवांसे बँधी है। गाय मूलमे

गेरवासे अलग है तब उसका बधन भी दूर हो सकता है। इसी तरहसे यह आत्मा कर्मसे बँधा है, लेकिन कर्मसे छूट जाता है। क्यो छूट जाता है कि आत्मस्वरूप आत्मद्रव्य आत्मस्वभाव यह स्वय आत्मा स्वय अपने अकेलेमे है, यह किसी दूसरे पदार्थमे मिला नही, अबद्ध है। तो इस तरह अपने आपके स्वभावदृष्टि करके अबद्ध देखें तो ऐसा अवसर मिलेगा कि उस दन्धनसे दूर हो जायेंगे। बन्धन ही विपदा है, और ऐसी निर्वाध स्थिति चाहनेके लिए अपने आपको अबद्ध परखना होगा। तो इस अबद्ध दृष्टि करनेमे भी अपने आपको एक अलौकिक वैभवका आनन्द प्राप्त होता है। हमारा कर्तव्य यह है कि बाहरी बातोंके सुधार-बिगाडमे अधिक न उलझकर अथवा उनकी अपेक्षा करके हम अपनी आत्मदया करनेके लिए आत्मतत्त्वके चिन्तन मननके उपयोगमे लगें, ऐसा हमारा समय गुजरे, यह हमारे जीवनके लिए सफलताकी बात है।

अनन्यदृष्टिका परिणाम—अपने आपको जैसी दृष्टिमे निहारें उसके अनुसार अपनी सृष्टियाँ बनती है। हमारा भविष्य कैसा बनता है? हम कैसी-कैसी पर्यायोंमे जायेंगे, यह सब अपने आपको परखनेकी दृष्टिके अनुसार है। जब जीव अपनेको अन्य अन्य रूपसे अपनेको माननेकी दृष्टि रखता है तब उसका जन्म मरण ससार भ्रमण—ये सब सकट चलते रहते हैं। इन सकटोसे मुक्त होनेका उपाय है कि अपनेको अन्य-अन्य रूप न मानकर एक अनन्यरूपसे समझना अर्थात् अन्त प्रकाशमान जो अपना शुद्ध चिद्भाव है तन्मात्र मै हू, ऐसा अपने आपको स्वीकार करके जो अपनी परिणति बनाता है उसको मोक्ष है और निकट कालमे ही वह समस्त झझटोसे छूटनेका अवसर पाता है। अपने आपके बारेमे सोचें कि हम अपने आपको किस-किस प्रकारसे प्रतीत किए हुए है? मैं मनुष्य हू, मैं व्यापारी हू, मैं अमुक काम वाला हू, परिवार वाला हू, ऐसी इज्जत वाला हू, पडित हू, मूर्ख हूँ, समझदार हू आदिक किसी भी प्रकार नाना रूपोंसे अपनेको प्रतीतिमे लिए हुए हो तो उसका फल उसके लिए अच्छा नही है। आस्थाकी बात कही जा रही है। श्रद्धामे यह रहना चाहिए कि मैं तो शुद्ध चिन्मात्र हू अर्थात् मैं जब जीव हू तो अपने सत्त्वसे मैं अपने आप किस स्वरूपमे हू, उस रूप ही अपना स्वरूप स्वीकार करना चाहिए। भले ही परिस्थितियाँ नाना बन रही हैं, लेकिन उन परिस्थितियोमे किसी भी परिस्थितिमात्र मै हू, यह मैं हूँ इस प्रकारकी श्रद्धा न होनी चाहिए। इसे कहते है अनन्यदृष्टि। जब जीव अपने आपको ऐसी अनन्यदृष्टिसे निरखता है तो उसका मोक्षमार्ग चलता है।

नियतदृष्टिका परिणाम—आत्मतत्त्वकी उपासनाके लिए उपायभूत दृष्टियोकी बात कही जा रही है कि कैसी-कैसी दृष्टियाँ हैं? एक नियत दृष्टि भी कार्यकारी है। यद्यपि पर्याय रूपसे अनियत चले आ रहे हैं, कभी कुछ पर्याय पाया, कभी कुछ, लेकिन इस अनियत पर्याय रूप स्वरूप अपना स्वरूप मानना भूल है। जो इन अनियत पर्यायोंके रूपमे अपनी श्रद्धा बनाता

है उसकी सृष्टि कैसी बनेगी, कि वह ऐसी पर्यायोको पाता ही रहेगा। तो ऐसे इस अनियत या विभावरूप या क्रोधादिक जो भीतरी कषायें बन रही है उनरूप अपने आपकी श्रद्धा न करे। मैं क्या हू ? जब यह प्रश्न उत्तरके लिए आया तो वहाँ उत्तर यह होना चाहिए कि मैं एक चैतन्यमात्र हू, एक जीव हू। किसी खास परिणति रूपमे अपने आपकी श्रद्धा न बनाये कि यह मैं हू। तो जिस रूप श्रद्धा बनाता है वह स्वभाव नियत है। अनादि अनन्त नियत जो एक चैतन्यस्वभाव है अर्थात् जो स्वभाव कभी बदला नही, परिणतियाँ कितनी ही हो गई हो, पर जीव कभी पुद्गल बन गया क्या ? नही बदला। तो बात वहाँ क्या थी कि यह जीव अब तक इतने झझटोमे रहकर भी पुद्गल नही बन सकता। ऐसा जो कुछ भी स्वभाव हो, स्वरूप हो बस वह मैं हू, ऐसे उस नियत स्वभावरूपमे अपने आपके स्वरूपकी श्रद्धा करना, यह मै हू। ऐसी दृष्टि रखनेका परिणाम है कि ये अनियत और ये सब विभावकी सृष्टियाँ समाप्त हो जायेगी। तो अपना कर्तव्य है कि जैसे अपनेको एक अनन्य देखा उसी प्रकार अपनेको नियत स्वभावरूपमे भी परखे। इसे कहेगे नियतदृष्टि।

अभेद स्वभावदृष्टिका परिणाम—इन तत्त्वदृष्टियोमे परखा क्या ? एक अपना अभेदस्वभाव। मै चैतन्यमात्र हू, ऐसा अभिन्न हू, इस अभेदस्वभावपर जिसकी दृष्टि गई, उसकी यह आस्था क्यो बनेगी कि मेरा अमुक है ? जब अपने आपके भेदस्वभावरूपमे अपने आपको स्वीकार किया हो, जिस ज्ञानी पुरुषको उसे सब पृथक् जच रहे है, देखिये जीव निष्पन्न है, परिपूर्ण है, उसका स्वभाव बना हुआ है। उसे अब जरूरत क्या रही, झझट क्या रहा किसी अन्य बातका ? सुरक्षित है, परिपूर्ण है, स्वतत्र है, अपने आपमे पूरा है; कुछ अधूरा भी नही है। ऐसा भी नही है कि इस जीवका कुछ बनता है। पर्यायरूपकी बात नही कह रहे। स्वरूपको देखिये, स्वभावको देखिये—सब मामला सही है। अब इसको फिक्र क्या ? ऐसा जब नही जान रहे तब उसके लिए फिक्रकी सारी बात है। जब अपने आपका स्वरूप समझ लें, दृढ़ रहे और ऐसा ही अपना भाव बनाये, उपयोग बनायें तो जो बात होना चाहिए, जिस तरह पर्याये ससारकी दूर होना चाहिए, कर्म कटना चाहिए, वह सब बुद्धि इसको मिलेगी। मूल एक धन, वैभव, बल यह है कि स्वभावकी दृष्टि करना वह स्वभाव है अभेद स्वभाव। भिन्न करके भी न देखें। इसमे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ऐसा भेद करके भी न परखें, किन्तु एक अभेद चैतन्यस्वभावरूप ज्ञानद्वारा जब उसकी कल्पना बनती है, धारणा बनती है और उस तरहकी जानकारीमे चलते हैं तो वह तत्त्व इसके परिचयमे आ जाता है। मैं अभेद स्वभावरूप हूं, ऐसी दृष्टिको अभेद स्वभावदृष्टि कहते है। इन सब दृष्टियोंमे परखा क्या गया ? यह मैं एक चैतन्यमात्र हू। देखिये—मूलकी बात कही जा रही है। परिणतियोंमे क्या गुजर रही हैं, क्या परिणतियां हो रही हैं, क्यो हो रही हैं ? यह एक जुदा विषय है, वह निमि-

नैमित्तिक योग है और वस्तुके परिणमनोकी विधियाँ है, हो रही है, ऐसी परिणतियाँ, पर मैं जो द्रव्य हू सो वह कैसा हू, क्या हू, इस आस्थाकी बात कही जा रही है।

निरञ्जनदृष्टिका परिणाम—मैं एक हू जो हू सो ही हू, उसमे दूसरा कुछ नही लगा है, और दूसरेके निमित्तसे इसमे कुछ [नही लगा होता। यद्यपि दूसरे भी साथ लगे हैं और निमित्त पाकर विभाव भी साथ आ गए है। इतना होनेपर भी जो केवल अपने स्वरूपकी दृष्टि कर रहा है उसे तो यह विदित होता कि मुझमे कोई दूसरा द्रव्य नही लग रहा है, और दूसरे द्रव्यके निमित्तसे अन्य कुछ भी नही है मेरे स्वरूपमे। ऐसा यह मैं निरञ्जन हू। इसमे किसी प्रकारका अजन नही है। भीतरी चिपटावको अजन कहा करते हैं याने रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ ये जो विभाव है, इन गुण पर्यायोमे अजन भी मेरे स्वरूपमे नही है। मैं तो एक चैतन्यमात्र हू। ऐसे अपने ध्रुव पदार्थको निरञ्जनदृष्टिसे देखनेका प्रभाव यह होता है कि जो केवलको देख रहा है तो वह केवल बन जायगा। केवल मायने शुद्ध और केवल देखने के मायने अपने सत्त्वके ही कारण स्वय सहज जो कुछ स्वरूप हो उसकी परख करना, तो जो ऐसा अपनेको निरञ्जन रूपसे देखता है वह निरञ्जन हो जाता है।

सामान्याविर्भावदृष्टिका परिणाम—एक दृष्टि होती है सामान्यके आविर्भाव वाली दृष्टि। अपने ज्ञानमे सामान्यका प्रकाश करना। लोकमे आदर होता है विशेषका। यह पुरुष आया है, बडा विशिष्ट है, इसमे ये ये विशेषताये है। तो दुनियामे प्रशसाके लिए विशेषका आलम्बन लेना होता है। लेकिन अध्यात्मशास्त्रोमे उत्कृष्टता पानेके लिए सामान्यके आलम्बन की प्रशसा की गई है। विशेषका आलम्बन इस जीवकी आकुलताके लिए है, और सामान्यका आलम्बन इस जीवकी निराकुलताके लिए है। यद्यपि सब पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते है। विशेषशून्य कोई पदार्थ नही, सामान्यशून्य कोई पदार्थ नही। हाँ जान लो है ऐसा, पर जैसा जिसको रोग लगा हुआ है, उस रोगको दूर करनेके लिए उस रोगके प्रतिपक्षीभूत औषधि दी जाती है। यहाँ हम आप लोगोको विशेषके आलम्बनका, विशेषकी दृष्टिकी, विशेषके आग्रह का रोग लगा है, इस रोगको दूर करनेके लिए सामान्यका आविर्भाव हो—अपने उपयोगमे सामान्य एक उपयोग बने, परिणति बने, इसकी प्रतिष्ठा है आत्मविकासमे। मैं ज्ञान, दर्शन सामान्यात्मक हू, इस प्रकारकी भावनाका उपदेश भी किया है। ज्ञानविशेषरूप नही, दर्शन-विशेषरूप नही। ज्ञानके और दर्शनके जो भेद प्रभेद हैं उन रूपसे देखनेकी बात नही, किन्तु ज्ञानसामान्य और दर्शनसामान्य ही जिसका स्वरूप है इस स्वरूपसे अपने आपको देखनेकी बात है। तो ऐसी अपने आपमे विशेषकी दृष्टि हटाकर एक सामान्य चैतन्यभावके आलम्बन की दृष्टि हो तो उसे कहेगे सामान्याविर्भावदृष्टि, और इस दृष्टिका फल है निर्विकल्प होना, निर्जरा होना, शान्ति पाना, क्षोभ झझटोसे दूर होना। जो भी लोग व्याकुल होते हैं वे अपने

विशेषको देखकर और विशेष रूपमे अपनेको मानकर व्याकुल होते है। जितने भी झगडे चलते है उनमे भी मूल पायेंगे विशेषके पकडकी दृष्टि। इसमे मुझे यो कह दिया। अब मुझके मायने यह मै बडा, यह मैं खास, यह मै पढा-लिखा। इस तरह माना कि यह मै हू और इसने मुझे यो कह दिया तो विशेषकी ओर उसकी बडी दृढ दृष्टि बनी है। इससे उसे पद-पदपर आकुलता और ठोकर मिलती है। सामान्यका आदर न किया इस जीवने। अब तक विशेष-विशेषका ही आदर करता रहा, इसलिए यह तकलीफमे इतना पडा हुआ है।

भावेन्द्रियविजयभावनादृष्टि, द्रव्येन्द्रियविजयभावनादृष्टि व असंगभावनादृष्टि का परिणाम—इस जीवको कष्ट क्या लगे है, इन्द्रिय द्वारा बाह्य विषयोका सम्बध करना, उपयोग करना, विषय करना, उनका मौज लेना, बस यह जीवपर आपत्ति लगी हुई है। इस आपत्तिसे जो दूर है उन्हे कहते है जिनेन्द्रदेव। जो इन्द्रिय और विषयोके सम्बधमे मौज नही लेते है, इन वैभवोसे जो परे हैं उनका नाम है जिनेन्द्र। तो यह आपत्ति है कि जो हम इन द्रव्येन्द्रिय द्वारा बाह्य पदार्थोका सम्बध बना रहे हैं। यद्यपि हम जो कहते है। इन्द्रियाँ हमारे लगी है, इनका सम्बध है, ये जायें कहाँ ? अरे कही नही जा सकते तो सम्यग्ज्ञान तो कर लें, सम्यग्ज्ञान की जानेकी बात कह रहे है। ये इन्द्रियाँ मेरी नही हैं। इन इन्द्रियो द्वारा विपयो को जानना, उनका सम्पर्क बनाना, यह मेरा काम नही है। हो रहे है ये सब, पर मेरे योग्य नही है, इस प्रकारका ज्ञान तो हो सकता है। तो जो इन्द्रियका सम्बध बन रहा तो इस सम्बधमे तीन बाते काम कर रही है, जितने भी ये सासारिक सुख है, मौज लिए जाते है, उनमे तीन बातें आती हैं, एक तो बाह्य परिग्रह विषयभूत पदार्थोंका सम्पर्क, दूसरा इस द्रव्येन्द्रियके द्वारा जो शरीरमे प्राण है, काम लिया जाना, और तीसरा भीतरमे उस प्रकारके विचार भाव बनना। इसको कहते है भावेन्द्रिय। तो भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और विपय, इन तीनका सम्बंध है सासारिक सुखोमे, मौजोमे, इन भ्रम भटकनाओमे। तो हमे इन तीनपर विजय प्राप्त करता है। कैसे विजय प्राप्त करें ? तो विजय प्राप्त करनेका यहाँ यह तरीका नही है कि विषयभूत पदार्थोंका विकल्प तोडें, छिन्न-भिन्न करें या द्रव्येन्द्रियपर विजय प्राप्त करनेका यह तरीका नही है कि इन्द्रियको फोड दें, नुक्सान पहुचा दें। ये क्यो मेरे बीचमे पड़ी है ? इनसे ही मेरी भटकना लगी है तो नाक, आँख, कान आदिको तोड-फोड खत्म कर कर दें, यह तरीका द्रव्येन्द्रियके विजयका नही है, और भावेन्द्रिय, जो भीतर विचार उठते है, विकल्प होते है उनको भी दूर करनेका क्या तरीका है ? तो सबका तरीका एक है। ...क्या ? उपेक्षा करना। परिग्रहसे उपेक्षा भाव करना, द्रव्येन्द्रियसे उपेक्षा भाव होना, भावेन्द्रिय विचार विकल्प इन सब परिणतियोसे उपेक्षाभाव होना। यह तरीका है इन तीनो पर विजय पानेका ? अब उपेक्षा कब होती है ? उपेक्षा करनेमें एक कोई आलम्बन चाहिए,

अगर एकने उपेक्षा की तो आलम्बन कोई दूसरा तो हुआ। अगर कोई बाहरी बातोमे उपेक्षा करता है तो वह अपने आत्माका आलम्बन ले रहा है, यह जीव उपयोगमय है। इसका उपयोग कही न कही रमेगा ही, मगर उनसे उपेक्षा कर लें, हम उपयोगको वहाँसे हटा लें तो हटा-हटा ही उपयोग न रहेगा, वह कही न कही लगेगा अवश्य। इन तीन चीजोसे जो उपेक्षा करता है, इतना जो प्रतिपक्षी है उसका उपयोग होना चाहिए। वह उपयोग है भावेन्द्रियपर विजय प्राप्त करनेका। वे भावेन्द्रिय क्या है ? खण्डज्ञान। जो विचार उठते है, जो टुकडे-टुकडे मे ज्ञान आया, खण्ड-खण्ड चीजका जो ज्ञान है, थोडी देरको होने वाला जो ज्ञान है, तो उन भावेन्द्रियकी उपेक्षा करें। इसका अर्थ है कि खण्डज्ञानसे उपेक्षा करना याने अखण्ड ज्ञानस्वभावपर दृष्टि ले जाये। यह है भावेन्द्रिय विजय दृष्टि। द्रव्येन्द्रियपर विजय करना है तो द्रव्येन्द्रिय अचेतन है, पौद्गलिक है, मै चेतन हू, उपयोगस्वरूप हू। मैं द्रव्यरूप नही हू, द्रव्येन्द्रियके विरुद्ध जो अतस्तत्त्व है, उसका आलम्बन कीजिए, लो द्रव्येन्द्रिय विजय बन गई। परिग्रहोका विजय करना है, परिग्रहोसे अलग हटना है। परिग्रहसे उल्टा है अपरिग्रह। मैं असग हू, केवल हू, परिग्रहसे दूर हू, इस तरह नि सग आत्मतत्त्वकी भावना करना यह है असगभावनादृष्टि। इसके द्वारा परिग्रहसे उपेक्षा बनती है।

टकोत्कीर्णवन्निश्चलदृष्टान्तदृष्टि—एक दृष्टान्त आता है टकोत्कीर्णवत् निश्चल। आत्मतत्त्वका ध्यान करे तो टकोत्कीर्णवत् निश्चलके दृष्टान्तकी बात जो अध्यात्मशास्त्रोमें आती है उस दृष्टान्तसे हम अपनी दो दृष्टियाँ बनाये—एक तो यह कि जैसे टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमा निश्चल है, उसके हाथ पैर आदिक किसी अगको हिलाया नही जा सकता इसी तरह मेरा चैतन्यस्वरूप निश्चल है। दूसरी दृष्टि हमे यह मिलती है कि जैसे टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमा जो प्रकट होती है तो उसके कारीगरने कोई चीज बाहरसे लाकर जुटाकर तैयार किया हो, सो बात नही है। वह तो जो थी सो ही प्रकट हो गई है। उसके आवरण करने वाले जो पाषाण खण्ड थे, उनको हटाने-हटानेका ही काम कारीगरने किया। तो ऐसे ही हम आपको शुद्ध बननेके लिए, केवल बननेके लिए कही बाहरसे कुछ लानेकी जरूरत नही है। हाँ उसमे जो अभी बाधक हो रहे है ये विषयकषाय विकल्प तरग, इनको हटाना भर है। यह एक दृष्टि भी हमे उस टकोत्कीर्णवत् निश्चल दृष्टान्तसे मिलती है। हम ऐसी दृष्टि बनायें कि जिसके करनेसे हमे अन्तःप्रकाशमान इस कारणसमयसारका परिचय मिला करे।

अकर्तृत्वदृष्टिका परिणाम—इन दृष्टियोमे एक यह भी दृष्टि कार्यकारी है कि हम अपनेको अकर्तारूपमे देखे। प्रथम तो यहाँ यह परख करना चाहिए कि मैं किसी दूसरे पदार्थ का करने वाला नही हू, क्योकि प्रत्येक द्रव्यका क्षेत्र, काल, भाव उस ही पदार्थमे रहता है। परिणति उसकी उसमे ही है। अपने ही प्रदेशमे अपना ही व्यापार प्रत्येक पदार्थ करता है,

किसी भी दूसरे पदार्थका कोई कुछ करने वाला नहीं । अब चलो—अन्दरकी ओर । तो मै अन्दरमे रागद्वेषादिकका करने वाला तो होऊँगा ? तो यहाँ स्वभावको निरखकर यह देखे कि मै स्वभावमात्र हू, ज्ञानस्वच्छतामात्र हू, उसमे करनेकी बात क्या ? आया है और हो रहा है, लेकिन ये सब कुछ तो ये परिणतियाँ है, निमित्तनैमित्तिक योग है, यहाँ ऐसा बन रहा है, पर मैं किसी भी बातको अभिप्राय करके, कर-करके चल-चलित तो नही कर रहा और जो चल-चलितकी भी बात कर रहे तो वह भी निमित्तनैमित्तिक योगमे इस तरह होनेकी बात चल रही है । निजमे होती है, ऐसा निमित्त पाकर हो रहा है, इसमे करनेकी बात क्या है ? जैसे अजीव पदार्थोंमे अग्निका सम्बध होनेपर पानी गर्म हुआ तो हो गया गर्म, ऐसा योग है, उसमे अग्निने क्या किया ? इसी तरह इस निमित्तनैमित्तिक योगकी व्यवस्था परिस्थितियोको देखकर ऐसा सोच होता है, ऐसा हो गया, ऐसा हो रहा तो इसमे करनेकी बात क्या ? एकमे स्वयके करनेकी बात क्या ? जैसे दार्शनिक लोग भी कहा करते है कि इस दृष्टिसे भी अपने को अकर्ता निरखना और इसमे और भी अन्तरङ्ग दृष्टि ली जाय तो स्वभावदृष्टि हुई । स्वभाव न कर्ता है, न भोक्ता है, न बन्ध है, न मोक्ष है, स्वभाव स्वभावमात्र है । इस दृष्टिसे अन्त· पहुचिये । यो अकर्तृत्वदृष्टि इस जीवके हितके लिए साधक होती है ।

अभोक्तृत्वदृष्टिका परिणाम—जैसे अकर्तृत्वदृष्टि की जाने योग्य है, ऐसे ही अभोक्तृत्वदृष्टि भी करने योग्य है । मै भोगने वाला नही हू । देखिये—वर्तमानमे यह सब बाह्य पदार्थोंका भोग चल तो रहा है भोजन, भोग, वस्त्राभूषण आदिक । जो जिसका सुख माने वह उसका भोगना कहलाता है । तो क्या यह भोगना नही है ? भले ही यह सब हो रहा है, लेकिन यहाँ यह बुद्धि रखनी है कि मै इन बाह्य पदार्थोको भोग नही सकता, क्योकि ये बाह्य पदार्थ है, परपदार्थ है, इनकी परिणति मेरे भोगनेमे नही आ सकती । मेरी ही परिणति मेरे भोगनेमे आ सकेगी । होता यह है कि इन पदार्थोंका परिचय हुआ, ज्ञान बना, आममे मीठा रस है, इस प्रकारका ज्ञान बना तो अब हम उस ज्ञानको भोग रहे हैं, उस मीठे रसका स्वाद ले रहे है, आनन्द मान रहे है, तो हमने अपनी परिणति भोगी, आमको नही भोगा । आमके रसका विषय बनाकर जो-जो रसनाइन्द्रिय द्वारा बना, उसका परिज्ञान किया । अब उस परिज्ञानके साथ हममे रागभाव लगा था तो हमने उस ढगसे स्वाद लिया । किसका स्वाद लिया ? रस ज्ञानका, रसका नही । वह तो परपदार्थ है । परका न हम अनुभव कर सकते, न परका हम कुछ कर्तृत्व कर सकते । तो यो हम किसी परके भोक्ता नही है । अब अपने आपके अदर गुजरने वाली बातोपर दृष्टि दें । लोकमे बाह्य पदार्थोको भोगता तो नही, लेकिन भीतरमे जो विकार बन रहे, विकारभाव बन रहे उनको तो मैं भोग रहा हूँ । ठीक है, चेतना है, जान है, इसलिए भोगकी बात कही जा रही है, मगर पदार्थके नाते देखना भोगना क्या ? अनुभवन

परिणमन हो रहा है, वही परिणमन कर्तृत्व भोक्तृत्व इन दो धाराओमे कहा जाता है। मगर जो ये इसमे परिणमते हुए अनेक पुद्गल पदार्थ है उनमे करना भोगना क्या ? परिणमन तो उनमे भी होता, वही परिणमन करना कहो, वही भोगना कहो। तो ऐसा ही मात्र एक द्रव्य के नातेसे वह एक परिणमन हो रहा है। भोगनेकी बात भी क्या ? और अन्तरदृष्टिमे चलकर निरखें तो जो चैतन्यस्वभावमात्र हो उसमे बन्धन मोक्ष नही, कर्तृत्व भोक्तृत्व भी नही, स्वभाव तो स्वभावमात्र है। यो अभोक्तृत्वदृष्टिसे भी अपना कुछ गहरा मनन करना चाहिए।

प्राप्यकर्मत्वदृष्टि, विकार्यकर्मत्वदृष्टि व निवर्त्यकर्मत्वदृष्टिका परिणाम—जीवोमे एक ऐसी धारणा बनी हुई है कि मैंने इसको किया, परपदार्थको कर्म माननेकी एक दृष्टि बनी रहती है। मैंने अमुक चीज बनायी, मैंने इसको किया, दुकानको किया, रोटी बनायी, अमुक कार्य किया। जो लोग नही जानते कि मैं तो एक चैतन्यमात्र हू, अपने अन्त प्रदेशमे चैतन्यस्वरूपको लिए हुए हू, ऐसा जिनका बोध नही है वे बाहरमे अपना कर्म समझते हैं। वस्तुतः अपना कर्म खुद है। खुदको ही मैं करता हू, जिस किसी भी रूप करूँगा खुदको ही करता हू। कर्म कौन होता है ? कर्मको पहिचाननेकी तीन दृष्टियाँ होती है—जो बाधा जाय वह कर्म, जो बदला जाय वह कर्म और जो रचा जाय वह कर्म। जिसे शास्त्रीय परिभाषामे कहो—प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य। अब इन तीन दृष्टियोको निरखिये—मेरे द्वारा पाया क्या गया ? मेरे द्वारा बदला क्या गया ? मेरे द्वारा रचा क्या गया ? तो मेरे द्वारा मै ही पाया गया, मैं ही बदला गया और मैं ही रचा गया। तो सब दृष्टियोसे मेरा कर्म मैं हू, मेरे कर्ममे कोई बाहरी पदार्थ नही है, इस तरह मेरे द्वारा मै ही होता हू, मेरे द्वारा मेरेमे ही मेरेसे मेरी बात चलती है। इस तरहकी एक दृष्टि जब बनती है तो इसके विकल्पमे बहुत फर्क आता है, इसके विषयकषायोमे बहुत फर्क आता है। कषायें मन्द होती हैं, विचार सयत होते है, वह अपने अन्त स्वरूपमे प्रवेश करता, उसे अपनी एक अलौकिक दुनिया विदित हो जाती है। इसे कहते है प्राप्यकर्मत्वदृष्टि, विकार्यकर्मत्वदृष्टि और निर्वृत्यकर्मत्वदृष्टि।

अतद्भावदृष्टि व अमरत्वदृष्टिका परिणाम—यहाँ परखा जा रहा है कि मैं किसरूप हू ? सबमे यही परखनेकी बात चल रही है। मैं चैतन्यभावमात्र हू, इसमे जो अदर भाव उठ रहे है, अनेक पर्यायें चल रही है उनरूप मैं नही हू, ये अतद्भाव हैं, मैं और मेरा अनादि अनन्त जो स्वभाव है सो ही तद्भाव है, मेरा भाव है। ये सब अतत्त्व है, अतद्भाव हैं, बहिस्तत्त्व है। इन दो बातोमे परखिये—अतस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व। अन्तस्तत्त्व तो चैतन्यस्वरूप है, उसके अतिरिक्त जो कुछ भी परिणतियाँ बन रही है वे सब बहिस्तत्त्व है। उन्हे बहिस्तत्त्व माना, उन्हे अतद्भाव माना, इस दृष्टिका फल क्या है कि मैं उनसे हटकर मेरेमे जो एक स्वरूप बसा है उस स्वरूपमे अपनी आस्था बनती है। इस दृष्टिका प्रभाव होता है विकल्पसे हटना, सकटोसे दूर होना तो यो अतद्भावदृष्टि करके भी हम अपने आपके अन्त.प्रवेश कर

सकते है और अन्तरङ्ग मेरा अमर है। कभी भी विनाशको प्राप्त नही होता। मेरा स्वरूप अमर है, सदा काल रहता है। मै अरक्षित कहा हू ? क्यो भय कर रहा हू ? कुछ भी परिस्थितियां बनें, वियोग होगा उन परिणतियोका। एक परिणति मिटेगी, दूसरी परिणति बनेगी। पर मैं जो स्वय आत्मद्रव्य हू वह सदा रहने वाला हू। यहा न रहा और जगह चला गया। ये यहाके समागम न रहे, अन्य जगह चले गए। ये समागम मेरे कुछ नही है, ऐसा जो अपने मनमे साहस बनाया उसे शका क्या ? और वास्तवमे परमाणुमात्र भी अपना नही है। उसे अपनाये तो यह ही एक खेदका विषय है। ससार सकटोके भोगनेकी कुञ्जी है। हम बाह्य समागमोको, इस शरीरको अपनाते है। इनसे हटकर हमे भीतर अपने आपके चैतन्य-स्वरूपकी दृष्टि करनी है और अपनेको प्रतीतिमे लेना है कि मैं चैतन्यमात्र हू और अमर हू। इस दृष्टिको कहेगे अमरत्वदृष्टि। ऐसी दृष्टि द्वारा अपने आपका हित करना, इसीमे जीवन की सफलता है।

स्वयंरक्षित दृष्टिकी भावना—लोग अपने भविष्यकी कुछ न कुछ चिन्ता बनाये रखते है, लेकिन हमारा भविष्य कैसा बने ? भविष्यका निर्माण मूलमे इस आधारपर है कि मैं अपने को क्या समझ रहा हू ? यदि मैं अपनेको इन बाहरी परिस्थितियोसे परे अत प्रकाशमान केवल चैतन्यमात्र समझ रहा हू, तब भविष्यकी कोई चिन्ता ही नही है। जो कुछ भी प्रयत्न होगा वह शुद्ध होगा, निर्दोष होगा। वहाँ आकुलताका काम न होगा। यदि अपनेको किसी बाहरी वेपरूप समझ रखा है। मैं मनुष्य हू, मैं अमुक जातिका हू, अमुक व्यापारी हू, इस तरह बाहरी-बाहरी दशाओ रूप अपनेको समझ रखा हो तो वहाँ आकुलता है और भविष्य भी दुर्गतिपूर्ण है। तो हमारा सब कुछ भविष्य अपने आपके निर्णयपर निर्भर है। तब प्रयास यह करना चाहिए कि मैं अपना सही निर्णय बनाऊ कि मैं क्या हू ? मैं अपने स्वरूपका सच्चा दर्शन करूँ। इस कोशिशमे तो शान्तिका मार्ग मिलेगा, किन्तु बाहरी पदार्थोंकी कोशिशमे शान्तिका मार्ग न मिलेगा। बडे बडे पुरुष हो गए है धनी, राज्य वाले, उनमे जिन्होंने बाह्य समागम छोडा है और अपने आत्माके स्वरूपका आलम्बन लेते है उन्होंने तो सफलता पायी और जो गृहस्थीमे रहे, राज्यमे ही रहे, ममतामे ही रहे उनकी गति ठीक नही हो सकी। पुराणोमे यही तो दिखाया गया है कि ऐसे-ऐसे पुरुष हुए, बडे हुए, उन्होने जैसा किया वैसा पाया। अपना भी यही हाल है, जैसा करेंगे वैसा पायेंगे। जब कोई भाव करता है, कषाय करता है, विषयका परिणाम करता है तो वहाँ नियमसे उस प्रकारका कर्मबन्ध होता है और जब उनका विपाक काल आता है तो उस तरहकी उसकी गति बनने लगती है। तो अब इस जीवनकी गति मोडनी चाहिए और वह गति होनी चाहिए अपने अतरङ्गकी ओर। बाहरमे जो कुछ होता हो, हो। जो भी परिणमन हो, जो भी पदार्थ जैसा

परिणमे, आखिर सभी हमसे निराले है, भिन्न है । उनके फेरकी क्या बात ? मैं ज्ञानमात्र हू । मेरेमे एक ज्ञान ही ज्ञान बसा हुआ है । ज्ञान ही से मै रचा हुआ हू । मुझमे आकाशवत् किसी अन्यका प्रवेश ही नही है तो मेरे पर भार क्या आयेगा ? जिसका जैसा भाग्य है, जैसा उदय है वैसा उसके सामने आयगा । दूसरेका मुझपर क्या भार ? मैं अपने स्वरूपको देखता हू तो मैं स्वय रक्षित हू । मेरी अरक्षा नही है । विपरीत माननेमे अरक्षा है, पर जब मैं सत् हू, स्वय कुछ पदार्थ हूँ तो रहूगा तो कुछ । नष्ट तो होऊँगा नही । तब अरक्षा कहाँ है ? मैं यह स्वय सत् हू, स्वय परिपूर्ण हू, स्वय स्वरक्षित हू, मेरी कही भी अरक्षा नही । ऐसी दृष्टिको कहते है स्वय स्वरक्षित ।

निर्भयतादृष्टिका परिणाम—जब यह परखमे आया कि मेरा आत्मा आकाशकी तरह अमूर्त किन्तु ज्ञानस्वरूपमे अधिक एक जगमग है, ज्ञान ज्योतिर्मय पदार्थ है, इसका अन्य किसी वस्तुसे सम्बध नही है, मेरेमे किसी वस्तुकी कोई दखल नही है । मैं स्वय कल्पनायें करता हू और दु खी होता हू । मानो आज जिसके पास ५० हजारका वैभव है, न होता इतना, १०-५ हजारका ही होता तो क्या वहाँ मरे जाते ? वहाँ भी गुजारा था । किस स्थितिमे गुजारा है हमारा बाहरमे ? तो बाहरकी स्थितिमे उत्तर न मिलेगा । आपका गुजारा है अपने मनोबलके आधारपर । जो होता हो, हो, हम उसीमे ही व्यवस्था बना लेंगे । गुजारेके लिए चिन्ताकी क्या बात ? जब यह देखा ज्ञानी जीवने कि मेरा आत्मा स्वय पूर्ण है तब उसे कही भय नही है । अब निर्भयताकी उसकी दृष्टि बन जाती है । मेरेको भय क्या ? आत्मानुशासनमे बताया है कि कर्मकी मार दो प्रकारसे होती है—एक तो निर्धन बना दे, दूसरे मरण करा दे । इन दोनो बातोका तो डर है । कही गरीब न बन जायें, कही मर न जायें । लेकिन जो ज्ञानी इन दोनो बातोके लिए तैयार बैठा हो कि गरीबी आये तो आये । उससे मेरेमे क्या बाधा आयगी ? मरण आये तो आये, उससे मेरेसे क्या बाधा आयगी ? जैसे कोई कह दे कि तुम यहाँ न बैठो, वहाँ बैठो अच्छा भाई । नही बैठे यहा तो वहा बैठ जायेंगे । क्या बिगड गया मेरा ? इसी प्रकार ये कर्म यह कहे कि इस देहमे मत बैठो, दूसरे देहमे बैठ जाओ । तो चलो क्या हर्ज ? उस दूसरे देहमे बैठ जायेंगे । उससे मेरा क्या बिगाड ? बिगाड तो उसका होता है जिसके मोह लगा है । मोही जीवोको ही मरणभय सताता है । अरे मेरा घर छूटा, अरे मेरा धन छूटा, अरे मेरा अमुक छूटा । इस प्रकारका भय मोही जनोको बना रहता है, पर ज्ञानी पुरुषको इन किसी भी स्थितियोमे रच भी भय नही है, वह जानता है कि इन किन्ही भी स्थितियोमे मेरा रच भी बिगाड नही है । मै तो चैतन्यस्वरूपमात्र हू, ज्ञान, दर्शन-स्वरूप हू, ज्ञातादृष्टा हू, जानना देखना मेरा काम है । तो ऐसा बना रहूगा, मुझे कोई नही मेट सकता । तो जिसने निर्धनता और मरण भी मजूर कर लिये, अब कर्म उनका क्या

करेंगे ? कर्मकी बात तो दो बातोपर थी । तो यो ज्ञानी पुरुषको जिसने अपने आत्माके अन्त स्वरूपकी धुन बनायी है, वही जिसकी दृष्टिमे है, ऐसे पुरुषको भय कुछ नही है । भय किसका करे ? जो सबसे निराला अपनेको मान चुका उसे कोई भय नही । भय किसका ? मकान छूट रहा है, तो वह तो था ही नही मेरा, फिर उसमें छूटनेकी बात क्या ? मैं तो पूराका पूरा यहासे विदा हो रहा हू, मेरा जो स्वरूप है उसको मैं छोड नही रहा, उस अपने पूर्ण वैभवके साथ मै इस लोकसे विदा हो रहा हू । मुझे किस बातका भय है ? तो अपने आपका ऐसा विचार करनेसे अपनेमे निर्भयता आती है ।

ज्ञानदृष्टिका परिणाम—जो पुरुष ज्ञातादृष्टा रहनेकी प्रकृतिमे रहता है उसको आकुलताये नही सताती । देखो—जब हम बाहरकी ओर देखते है तो विपदा ही विपदा पडी हुई है । और जब हम अन्त स्वरूपकी ओर देखते हैं तो वहां विपदाका नाम निशान नही । दो ही तो चीजें है—बाहर और भीतर । जब हम बाहर दुनियामे देखते है तो बडे-बडे कष्ट हैं, बडी-बडी विपदायें है और जब हम बाहरसे हटकर अपने आपके भीतर ज्ञानस्वरूपमे देखते हैं तो वहा तो विपत्तिका नाम भी नही है । अब देख लो—जिसका स्वाद लेना हो, ले लो, और वह स्वाद लेना केवल एक देखनेपर निर्भर है । बाहर देखें, तो आकुलताका स्वाद लें, अपने अन्दरमे देखे तो आनन्दका स्वाद लें । यह ही तो सम्यक्त्व कहलाता, यह ही सम्यग्ज्ञान कहलाता । सब कुछ पा लें दुनियाका वैभव, मगर सम्यक्त्वके बिना यह जीव गरीब ही है । चाहे कोई करोडपति हो, चाहे राजा हो, लेकिन आत्मदर्शन जिसे नही है वह गरीब ही है । तो यह सब बात एक अपने आपको जाननेपर निर्भर है । हम अपने आपको चैतन्यमात्र रूपसे जानते है, मेरा किसीसे सम्बध नही । वहा आनंद रहेगा । जहा कुछ सम्बधकी परख करते है वहा दुःख होगा । अब मोटे रूपसे यही देख लो—आप जिस घरमे पैदा हुए है मानो वहाँ न पैदा होते, किसी दूसरे नगरमे दूसरे घरमे पैदा होते तो यहाँकी आपको कुछ ममता भी होती क्या ? न होती । तो यहाँका जो कुछ मिला है आपको वह आपका कुछ भी नही है । कल्पना मे मान रहे तो वह एक आत्माकी यात्राका बिगाड़ है । यात्रा कर रहे हैं रात-दिन । उस यात्राका बिगाड़ है जो हम वर्तमानमे ममता कर रहे है, यह ही तो ससारकी उलझन है । ममता छोडी नही जाती और ममतासे ही दुःखी होते जाते । जैसे लाल मिर्च खाने वाले लोग लाल मिर्च खाते जाते, मुखसे सी-सी करते जाते, आँखोंसे अश्रु बहाते जाते, दुःखी भी होते जाते और कहते कि लाल मिर्च और दे दो, यो उस दुःखमे वे सुखकी (मौजकी) कल्पना भी करते, इसी तरह ये संसारके मोही प्राणी जिन बाह्य प्रसंगोंसे दुःखी होते रहते उन्हीमे और भी लगते जाते और उनसे कल्पित मौज (सुख) भी मानते । उनका यह कितना बडा भ्रम है, भूल है, अज्ञान है ? इसका फल किसे भोगना पड़ रहा ? खुदको ही । तो इस ज्ञातृत्वदृष्टिका

अपना आश्रय बनायें। मैं ज्ञाता हू, जाननहार हू, मेरा किसीसे कोई सम्बध नही। जो जों भी लोग आपके घरमे गुजर गए माता-पिता अथवा स्त्री, पुत्रादिक, उनके प्रति तो यह ख्याल जल्दी बना सकते कि वे मेरे कोई नही थे, पर आज जो वर्तमानमे घरमे रहने वाले लोग है उनके प्रति ऐसी दृष्टि नही बन पाती कि ये मेरे कोई कुछ नही हैं। अरे समय गुजर रहा है, मरणकाल आयगा तो फिर वहाँ बडा पछतावा होगा। अगर कुछ विवेक है तो यह पछतावा होगा कि अरे मैंने अपना यह ६०-७० वर्षका जीवन व्यर्थ ही खो दिया। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आराधना मैंने नही किया। भला ये पशु पक्षी गधा, सूकर, वगैरा क्या धर्म करेंगे? यद्यपि ये भी धर्म कर सकते, सम्यक्त्व पा सकते, लेकिन ये जो विषय कषायोमे रत है उन्हे सम्यक्त्व कैसे प्राप्त हो? ये मोही प्राणी कैसा बाह्यदृष्टि किए है कि जिसके कारण अपनेको सदा दु खी अनुभव करते रहते है। मानो कोई लखपति है और कदाचित् एक हजारका टोटा पड जाय तो उसकी दृष्टि उस एक हजारके टोटेपर ही रहती है, फलस्वरूप वह अपनेको दु खी अनुभव करता है। यद्यपि अभी उसके पास ९९ हजार और भी है पर उनको दृष्टिमे न रखनेसे उनका सुख नही लूट पाता, और कोई व्यक्ति मान लो हजारपति ही है, मान ले १ हजारका ही धन है और कहीसे उसे १ हजारकी प्राप्ति हो जाय तो वह अपनेको बडा सुखी अनुभव करता है। यहाँ जो भी दु ख हो रहे है वे मूलमे भूल हो जानेके कारण हो रहे है। इन परपदार्थोमे ममत्वबुद्धि होनेके कारण इन्होने अपनेको दु खी बना डाला। रात-दिनके चौबीसो घटे मोहियोके प्रसगमे ही व्यतीत होते, फिर क्यो न मोही बनें और क्यो न ससारके सकट सहे? अरे इस दुर्लभ मानवपर्यायको पाकर सारा जीवन व्यर्थ ही मोह ममतामे पडकर गवा दिया। कोई बूढा सोचे कि अब मैं फिर पहिले जैसा जवान या बालक बन जाऊँ, फिर धर्म ही धर्म करूँगा। तो यह कैसे हो सकता है? और मान लो कदाचित् यहाँसे मरण करके फिर वैसे ही बालक बन गए तो फिर वहाँ भी वही विषयकषायकी बातें आ जायेगी, फिर वैसी ही प्रवृत्तियाँ होने लगेंगी। तो इस तरहका जन्म मरणका दु खद चक्र इस जीवका चल रहा है। आज बडी दुर्लभतासे यह मानव-जीवन पाया है तो कितना सुन्दर अवसर है अपना कल्याण कर जानेका? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्रीति हो जाय और समस्त बाह्य पदार्थोंकी उपेक्षा हो जाय तो समझिये कि उसका मोक्षमार्ग बन गया और निकटकालमे ही वह परमात्मा होगा। तो अपनी दृष्टि करें ज्ञातृत्वकी। हम ज्ञातामात्र है, किसीके हम करने वाले नही है, भोगने वाले नही हैं। मेरा ज्ञानस्वरूप है। जानना मेरा काम है। जानना हो रहा है। इस तरह की दृष्टि आत्मप्रभुके लिए कार्यकारी है।

स्वस्वामित्वदृष्टिका परिणाम—प्रायः सभीके चित्तमे स्वामित्वकी दृष्टि बनी रहती

है । मै ही इसका स्वामी हू । यदि थोडा धन हुआ तो उसीका स्वामीपन आ गया, अधिक धन हुआ तो अधिकका स्वामीपन आ गया । यो कैसी भी स्थिति हो, किसी न किसीका अपने को स्वामी माननेकी आदत इस जीवमे बनी हुई है । तो बताओ कि मेरा कुछ हुआ क्या अब तक बाहरमे ? मै अपनेको किसका स्वामी मानू ? अभी तक कितने ही जन्म पाये, सर्वत्र कितने ही समागम पाये, पर अब कुछ रहा क्या ? यहाँ भी हम देख रहे कि जो पुरुष गुजर गया वह यहाँसे खाली हाथ जाता है । एक तिनका मात्र भी साथ नही जाता । मान लो कोई अपने हाथकी अगुलीमे अगूठी पहिन रखी हो और उसे कोई निकाले नही तो भी वह उस चिताके साथ अग्निमे जलकर भस्म हो जाती है, साथ वह भी नही जाती । यहाँकी कोई चीज किसीके साथ नही जाती । तब फिर यहाँ किसका स्वामी अपनेको मानना ? किसी परवस्तुपर मेरा कुछ भी अधिकार नही । मै तो अपने आपके स्वरूपका ही स्वामी हू, किसी दूसरे पदार्थ का मैं अणुमात्र भी स्वामी नही । इसे कहेगे स्वस्वामित्वदृष्टि । जरा दृष्टि बताओ तो ऐसी । मैं अपने आत्माका ही स्वामी हू, अन्य पदार्थका स्वामी नहीं हू । वास्तविकता है, इसलिए कहा जा रहा है । कही बहकानेसे धर्मपालन न बनेगा, कही झूठे आश्रयसे धर्मपालन न होगा । जो बात सत्य है, यथार्थ है उसके आश्रयसे ही धर्मका पालन होता है । मैं अपने स्वरूपका ही स्वामी हू, अन्यका स्वामी नही हू, बाहरी पदार्थका तो स्वामी क्या होऊगा ? मेरेमे जो कषायभाव उठते है उनका भी मैं स्वामी नही । कर्मका उदय आया तो कषाय झलक गई । कर्मका उदय न रहा तो कषाय मिट गई । तो उन कषायोपर भी मेरा अधिकार नही होता है । मैं तो अपने ज्ञानदर्शन स्वरूपका ही स्वामी हू । जिसका स्वामी हू वही मेरा है । इससे अतिरिक्त मेरा कही कुछ नही है । इस दृष्टिको स्वस्वामित्व दृष्टि कहते है ।

ज्ञानानन्दस्वभावदृष्टिका परिणाम—अब अपने स्वभावको परखें । मेरे स्वभावमे ज्ञान और आनन्द बसा है । हर एक लोग इस धुनमे है कि मेरा ज्ञान बढे, सच्चा ज्ञान हो और मेरेको सच्चा आनन्द प्राप्त हो । यह आदत उनकी अच्छी तो है कि वे सच्चा ज्ञान और सच्चा आनन्द चाहते है । झूठ जानना कोई नही चाहता । सभी लोग अपने-अपने मनकी बात सोच लो—क्या कोई यह चाहता है कि मैं झूठ जानू ? कोई नही चाहता । पर जो झूठ जान रहा है वह भी झूठ जाननेकी इच्छा नही कर रहा, पर उदय ऐसा है कि झूठ जान रहा । किसीके चित्तमें यह बात नही रहती कि हम झूठ समझें । इसी तरह खुदके बारेमे कोई यह नही सोचता कि मैं झूठा सुख पाऊ । यद्यपि झूठा सुख भोग रहे हैं, मगर उनकी भीतरमे ऐसी भावना होती नही कि मैं झूठा सुख भोगू । वह झूठा सुख भोगने वाला तो उसे सच्चा सुख समझ रहा है । तो सच्चा ज्ञान और आनन्द पानेकी बात सबके मनमे है । पर ५

अपना बोध होनेपर सच्चा ज्ञान और आनन्द मिल जायगा। ज्ञान और आनन्द तो मेरे आत्मा का स्वभाव है। मै अपने स्वभावसे ही रचा हुआ हू। ज्ञान और आनन्दका ही मेरा ढाँचा है। इसके सिवाय और कुछ मेरेमे लगा ही नही है, ऐसे ज्ञानान्दस्वभावकी दृष्टि रखना यह आत्महितके लिए लाभकारी दृष्टि है। मैं ज्ञानस्वभाव हू, आनन्दस्वभाव हू।

सर्वसंन्यासदृष्टिका परिणाम—मेरेमे मै अपने स्वरूपको निरखता हू, सो निर्णय करता हू तो यह बात पायी जाती है कि मैंने सबका परित्याग कर दिया। केवल अपने स्वभावका ग्रहण कर रखा है, सर्वसन्यास है, स्वतः सन्यास है। लोग कहते है कि हम अमुक चीज छोड दें, घर छोड दें, अमुक मित्रोको छोड दे, पर यह आत्मा किसी परपदार्थको लिए कहाँ है? उनका विकल्प लिए है, इसलिए विकल्प छोडनेकी बात कही जाती है। तुम घर पकडे नही हो तो उसके छोडनेकी बात क्या कही जाय? तुम मित्र, स्त्री, पुत्रादिकको पकडे नही हो तो उनके छोडनेकी बात क्या कही जाय? उनके सम्बधमे जो विकल्प बनाये हो वे विकल्प तो मिथ्या है। उन विकल्पोको छोडनेका उपदेश है ग्रथोमे, और चूंकि सर्व साधारण कैसे समझें, इसलिए इन शब्दोमे भी लिख दिया है कि परिग्रह छोडो। तत्त्वत परिग्रहको यह आत्मा ग्रहण ही नही कर सकता। परिग्रहके बारेमे विकल्प बनाया है, उन विकल्पोंके त्यागकी बात कही जाती है। तो मैं सर्वसे न्यारा हू, मैंने तो सर्वथा त्याग ही कर रखा है, ऐसा सर्वसे निराला रहनेकी दृष्टि करना सर्वका परित्याग है। ऐसी दृष्टिका नाम है सर्वसन्यास दृष्टि। वैसे देख लो, यह जो चौकी है सो बाकी चीजोको लिपटाये हुए है या बाकी चीजोको छोडकर अपना स्वरूप रख रही है। अगर यह चौकी अन्य चीजोको चिपकाये होती तो फिर चौकी ही न रहती। वह तो तखत, भीत आदिक सबको छोडे हुएके स्वभावमे है तब तो चौकीकी सत्ता है, इसी तरह जब कि मेरेमे सिवाय मेरे सर्व पदार्थोंको छोडे रहनेके स्वभावसे मैं हू तब तो मेरा अस्तित्व है। यदि मैं किसीमे चिपटा होऊँ, उन्हे छोडे हुए न होऊँ तो मेरी सत्ता ही नही रह सकती। मैं हू यह ही यह सिद्ध करता है कि मैं अन्य सबको छोड करके ही हूँ, किसी मे मिला नही हू, इसे कहते हैं सर्वसन्यासदृष्टि।

ध्रुवदृष्टिका प्रभाव—आत्महितकारक सब दृष्टियोमे क्या परखा गया? एक ज्ञानानद स्वभावी शाश्वत ध्रुव आत्मा। तो इस ध्रुवदृष्टिमे क्या पाया कि मैं अनादि अनत एक शाश्वत आत्मतत्त्व हू। देखो इस ध्रुवको देखेंगे, इस ध्रुवको अपनायेंगे, इस नित्यपर दृष्टि रहेगी तो हमारा भविष्य शुद्ध बनेगा, और बाहरी अनित्यपर हमारी दृष्टि रहेगी, उनके समागममे रुचि रहेगी तो ये ससारके जन्ममरण चलते रहेगे। विवेक इसमे है कि जैसे कोई राहगीर किसी गाँवको जा रहा है तो रास्तेमे अनेक पेड आ रहे है, कुछ गर्मी भी है, पेडोकी छाया भी लगती जा रही है, उन पेडोंके नीचेसे चला जा रहा है तो पेडोकी छाया उसे मिलती जाती है, मगर

किसी पेडकी छायामे वह रम नही जाता । उन्हे वह छोडता जाता है, नही तो वह अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुचे कैसे ? तो जैसे वह रास्तागीर सारे वृक्षोको छोडकर अपने लक्ष्यमे बढता जाता है । ऐसे ही हम आप सब आत्मा इन अध्रुव समागमोमे प्रीति न करे, ये मिले हुए हैं । इस जीवनयात्रा करते हुएमे तो इनमे रम न जायें, अपने लक्ष्यपर आगे बढते जाये । हम आप जो यात्रा कर रहे है, सो इस यात्राके बीच जो कुछ भी अध्रुव पदार्थ हमको मिल रहे है उनमे रुचि (प्रीति) न करनी चाहिए, उनकी जकड न करना चाहिए कि ये सब कुछ मेरे ही है, उनको जानें कि अध्रुव है । अध्रुवकी प्रीतिसे अध्रुव ही मिलेगा, उनकी प्रीति छोड-कर जो ज्ञानानंदस्वभावको आपा जानता है वह अनाकुल रहता है । अतः ज्ञानानदस्वभाव निज तत्त्वमे प्रीति करना चाहिए । मैं सिद्धके समान अनन्त ज्ञानानदका निधान हूं । मैं वह हू जो भगवान है, जो भगवान है सो मैं हू । अन्तर एक पर्यायका है, अध्रुवका अन्तर है, पर्यायें सब अध्रुव होती है । पर्याये हमारी रागरूप चल रही है । भगवान रागसे रहित हैं तो यह ऊपरी अन्तर तो रहा, पर भीतरी स्वरूपमे अन्तर नही है । जिस चेतना जातिका मै पदार्थ हूँ, उसी चेतना जातिके पदार्थ सिद्ध भगवान है । मै बडा बनू तो ऐसा बडा बनूँ कि जो बड-प्पन कभी नष्ट न हो । इस लोकका बडप्पन कोई भी ऐसा नही है कि जिसके बाद क्षोभ न आता हो । यह ही तो दुःख है । बडा बनकर भी क्या पावोगे ? ससारका बडा बनकर भी दुःख ही पावोगे । यदि अलौकिक बडप्पन मिले, परमात्मपद मिले, सिद्धपद मिले तो वह बडप्पन अच्छा है कि जिसके बाद फिर कभी छोटा न बनना पडे । यहाँ कोई मान लो राष्ट्र-पति बन गया, तो भी क्या है ? उसके कितने दु ख है, कितने विकल्प है, कितने भय है । एक यही चिन्ता बनी रहती है कि पता नही अगले चुनावमे हम जीत सकेंगे या नही ? अगर न जीते तो फिर छोटे रह जायेंगे, फिर कैसे किसीको मुख दिखा सकेंगे ? तो लोकमे किस स्थिति मे आनन्द है ? सो बताओ । यही बात घर-घर है । घरमे सास बहूमे जो नही बनती है, उसका भी कारण क्या है ? सास जानती है कि मैं घरमे सबसे बडी हू । इस बहूको मेरे आदेशोपर चलना चाहिए, पर वह भी कैसे चले ? वह पढी लिखी, एम. ए., बी ए पास, वह अपनेको उस साससे अधिक होशियार समझती है । तो उनमे परस्परमे नही बनती । यहाँ का यह लौकिक बडप्पन इस जीवके लिए कुछ भी कल्याणकारी नही । इसकी उपेक्षा करें, उसके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहे और सब प्रकारसे मोक्षमार्गमे बढनेके लिए प्रयत्नशील रहे । कभी परमात्मा हो जायें, सिद्ध हो जायें तो ऐसा बड़प्पन बनाना वह ठीक चीज है । यह बात मिलेगी, इस ध्रुव आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे । मैं ध्रुव हू, इसमे सुख, विचार, वितर्क ये सब अध्रुव चीजें है, ये मेरे स्वरूप नही है । मेरा जो ध्रुव परमात्मस्वरूप है, उसीको ग्रहण करें, इन अध्रुव पदार्थोको ग्रहण न करें । इन अध्रुव पदार्थोकी रुचि करनेसे न वे साथ रहेंगे और

न यह ही कुछ अच्छा बन पायगा। तो अपने आत्मामे अपने ध्रुवस्वरूपको देखें और प्रसन्न रहे। चिन्ता, रज, शोक आदिकका कुछ काम ही नही है। बाहरमे ये मायामयी दिखने वाली चीजें अध्रुव है। यो विचारने वाला ज्ञानी सत अपने ध्रुव आत्मस्वरूपका आलम्बन करके अपना कल्याण करता है।

एकत्वदृष्टिका प्रभाव—अपनेको एक अकेला व्यवहारसे व निश्चयसे अकेला निरखने पर शान्तिकी वृद्धि होती है। व्यवहारमे जब यह अपनेको अनेक परिवार वाला, मित्र वाला धन सम्पदा वाला नाना प्रकारका मानता है तो वहाँ इसकी व्यग्रता होती है और जब अपनेको सबसे निराला अकेला समझता है तो व्यग्रताका यद्यपि अभाव नही है मगर बहुत कमी हो जाती है। परमार्थ दृष्टिसे जब अपने आपको एक अकेला देखा तो अपने सहज स्वभावसे, स्वरूपसे जैसा स्वय सत् है, अपने आप जो सहजस्वरूप है तन्मात्र अपने आपको देखें। ऐसा देख सकें, ऐसा जान सकें जैसा कि यह ज्ञानमात्र है तो ऐसा अनुभव होनेपर इस जीवको अशान्ति नही रहती। यह बहुत दुर्लभतम वैभव है। जीवने इन बाहरी वैभवोको अपनाया और बाहरी वैभवोसे अपनी शान समझी, लेकिन शान नही है। यह तो बडी गरीबी रही। भीतरसे व्यग्रता नही मिटी ऐसी स्थितिको अमीरी न कहेगे। वह तो गरीबीकी स्थिति है। यह जीव अनादिकालसे अब तक अज्ञानके कारण अपनी निधिको न जानकर गरीब ही बना रहा। इसकी रुचि जगी बाहरी वैभवोमे। भीतरसे तो शून्य लापता। खुद होकर भी खुदकी सत्ता तक भी कबूल नही की। कितनी गरीबीकी परिस्थिति है इस अज्ञानी जीवकी? थोडा पुण्योदयसे बाहरी वैभव पाया और इस ही को सब कुछ पाया। इज्जत भी इसीमे माना, लोकमे परिचय भी इसी ढगका बढाया तो इससे इस जीवको क्या मिला? कितने समयका जीवन है और क्षेत्र भी कितना है? उस अनन्तकालका विचार करो, कितना काल गुजर गया? अनन्तकाल गुजर गया। इतने सारे कालोंके सामने यह १००–५० वर्षका जीवन काल कुछ गिनती भी रखता है क्या? क्षेत्र कितना बडा? ३४३ घनराजू प्रमाण। एक राजूका ही कितना बडा विस्तार है, फिर घनराजूका तो कहना ही क्या? एक राजूमे असख्याते द्वीप समुद्र समा गए जो कि एक दूसरेसे दुगुने-दुगुने चले जा रहे है और पहला द्वीप एक लाख योजनका है, ऐसे असख्याते द्वीप समुद्र समा गए, फिर भी अभी पूरा एक राजू नही हुआ। तो समझिये कितना बडा लोक है? इतने बडे लोकमे यह हजार पाँच सौ मीलका क्षेत्र, जिसका परिचय बना हुआ है, जो कि एक राजूका लाखवाँ भाग भी नही है, इतनी सी जगहमे जो मौज मान रखी है इससे क्या पूरा पडनेका? यहाँकी बाहरी दृष्टिमे, इस जीवको शान्ति नही मिलती। एकत्वदृष्टिमे शान्ति है।

अपने एकत्वका परिचय—मैं एक हू, अकेला हू। ऐसा अकेला हू कि किसी भी

परद्रव्यमे मैं मिला नही। कोई भी परद्रव्य मेरा नही, परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नही और अजीवके निमित्तसे जो विभाव उत्पन्न हो रहे है, कषाय विचार, विकल्पभाव, भावना, वासना, इनसे भी शून्य हू, ऐसा मै अपना केवल ज्ञानस्वरूप हू। ऐसा एकपना जिस दृष्टिमे आये उस दृष्टिके प्रतापका कौन वर्णन कर सकता है? मोक्षमार्ग है, कर्मनिर्जरा है। बडी शान्ति बसी है। आनन्द आनन्दका ही बास है इस एकत्वदृष्टिमे। ऐसा यह मैं सब जगह अपने स्वरूपमात्र हू, अकेला हू, सब समय अपने स्वरूपमात्र ही हू, अकेला हू। यह मै द्रव्य हू। इसमे परिणतियाँ निरन्तर होती रहती है। भेददृष्टिसे विचार करने पर ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र आदिक अनेक गुण विदित होते है तिसपर भी पर्यायें तो अध्रुव है। मै ध्रुव हू, पर्यायें अनेक है, मैं एक हू और इसी तरह ये गुणभेद इस रूपमे भी सत् नही हुए। कही मैं सत् हू, दर्शन सत् हू आदि भेद सत्मे तो जीव हुआ और वह है चैतन्यस्वरूप। भेददृष्टिको, इस तरह प्रतिपादक कहा जाता है और वह बुद्धि सही है, और जो व्यवहार निश्चयका प्रतिपादन कर सके, उसका दर्शन करा सके वही तो व्यवहार है। तो व्यवहारसे गुणभेद किया है, मगर वह सत्य कल्पना है। उससे हम अपने ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप आत्माकी अनुभूतिका अवसर पाते है। तो मै तो वह एक हू जो सदा रहता हू और भिन्न-भिन्न रूप नही। ऐसा एक स्वभावमात्र अपने आपको दृष्टिमे लें तो वहा फिर कोई सकट नही ठहरता। जितने जीव सिद्ध हुए है, उन सब जीवोने एक ही काम किया था। जो अनेक काम जचते है कि व्रत किया, तप किया, सयम किया, विहार किया, और और भी तपश्चरण किया, मगर वे सब एक इस ही धुनमे किए गए कि मुझे तो अपने आपके स्वरूपको जानकर उसमे ही मग्न रहना है, और ऐसा होनेके लिए समय-समयपर परिस्थितियोमे अशुभोपयोगको टालनेके लिए, विषयोका आक्रमण टालनेके लिए ये सब शुभोपयोग किए गए, मगर प्रयोजन उनका भिन्न नही हो सका, लक्ष्य उनका एक ही रहा, और हर स्थितिमे किसी भी पर्यायमे चल रहा हो तो प्रयत्न यह रहे कि अपनेको जानू और अपनेमे गुप्त होऊँ। यह उपयोग इस ही ज्ञानकी वृत्ति है, कही भिन्न चीज नही है। तो यह उपयोग इस ही ज्ञानको जानने लगे तो ज्ञान ही ज्ञेय बना, ज्ञान ही ज्ञाता बना, ऐसी जब एकता हो जाती है तब वहाँ जो अनुभूति होती है वह अनुभूति आनन्द देने वाली है, कर्म काटने वाली है। इस जीवका सर्वस्व हित करने वाली चीज वही है। तो इसका निर्णय यह ही रखना चाहिए कि हमें यह ही प्रयत्न करना है कि किस तरह हम अपने इस सर्वविशुद्ध ज्ञायकस्वरूप को अपने उपयोगमे ले जायें।

विभक्तैकत्वदृष्टिका प्रभाव—इस एकत्वदृष्टिको सिद्ध करने वाली विभक्तदृष्टि है और उस विभक्तदृष्टिके साथ एकत्वदृष्टि रहे तो उसे कहते हैं विभक्तएकत्वदृष्टि। जिसे कहते हैं एकत्वविभक्त। एकत्वविभक्त होना तो चैतन्यका स्वरूप है। यह चौकी चौकी है, ऐसा क्यो है—

कि चौकी अपनेमे है और चटाई, भीत, फर्श आदिकसे निराली है, एकत्वविभक्त तो स्वरूप है। भेदके स्वरूपमे कोई गाली करे तो उसको समझाया जाय, एकत्वविभक्त गल्ती न करे तो उसको समझानेकी क्या जरूरत है ? एकत्वविभक्त तो सब पदार्थोंका स्वरूप है, अपनेमे है, परसे निराला है। जब जीव यह गल्ती करता है कि जो अपना स्वरूप नही है उसमे भी जब अपनापन मानता है तो उसे समझाया है कि एकत्वविभक्तदृष्टि द्वारा हम समस्त परसे न्यारे हुए। यह अज्ञानी कषायको अपनाता है, सो तो ठीक है। कर ही रहा मूलमे भूल, मगर इसकी भूल इतनी विकट हुई कि अत्यन्त भिन्न जो परपदार्थ है उनको भी अपनाता है। अपने क्षेत्रमे, एक क्षेत्रमे अवगाही जो विषयकषायोके भाव है उनको अपना रहा है अथवा वर्तमानमे इस जीवकी परिणतियाँ है विभावरूप, उन्हे अपना रहा है, सो तो मोटे रूपसे यह कहा जायगा कि भाई क्या करें ? उस ही की तो परिणति है, मगर जो अत्यत भिन्न पदार्थ हैं धन वैभव, मकान, पुत्र, परिवार आदिक इनको भी अपना रहा है। इसने एकत्वविभक्तदृष्टि कराकर यह प्रयास किया है कि हम परसे अपनेको निराला समझें, देहसे अपनेको न्यारा जानें, कर्मसे अपनेको न्यारा जानें, विषयकषायोसे अपनेको न्यारा जानें। जैसे दर्पणमे हाथकी छाया गई तो यह ही तो कहेगे कि दर्पणमें हाथ है, दर्पणने हाथको अपनाया, दर्पणमे हाथका प्रतिबिम्ब है। जब किसीसे पूछते है कि बोलो—इस दर्पणमे क्या है ? तो कहते है कि हाथ है। ऐसे ही इस आत्माके क्षेत्रमे जो कर्मविपाक आ रहे है, कर्मोदय उदयावस्थापना कर्म बन रहे हैं तो उनकी झलक यह है, वह झलक है तामस, अधेरारूप, जहाँ यह नही कहा जा सकता कि यह कर्म है, पर झाँकी तो है, उस कर्मोदयको हमने अपनाया है। यह हमारी दूसरी गल्ती है। पहली—झाँकी, दूसरे—अपनाना, तीसरे—आसक्त होना, बस यही व्यापार करता चला आ रहा है यह जीव। इसने कभी विभक्त एकत्व अपने स्वरूपको नही परखा। लगता है ऐसा कि बडी कठिन चीज है। हाँ कठिन तो है, मगर एक बार हो गया तो सब कुछ हो गया। सदाके लिए सकट दूर हो गए, कल्याण हो गया। इतनी बडी बात हो नही पा रही, कठिन तो है, लेकिन साहस यो न गवावें कि अनेक जनोने इसे प्राप्त तो किया है और यह मेरेमे मेरा स्वरूप तो है, मगर मोह ममता टूट जाय बाहरी पदार्थोंकी तो मेरे लिए मेरे आत्मतत्त्वका दर्शन सुगम है। बाहरी धन वैभवका सचय करना कठिन है, क्योकि वे बाहरी चीजें हैं और कठिन क्या, वे तो असभव है। योग जुड गया, सम्बध मिल गया तो मान लिया कि मेरे लिए सुगम है। पर वह बडा कठिन है, और कठिन भी क्या, वह तो असम्भव है, लेकिन अपने आपमे अपने सहज स्वरूपका उपयोग बनाना, इसके लिए कठिन चीज नही है। वह सुगम है। एक बार भी तो यह ममताकी आड जडसे मिटे, जिस आडमे परमात्मस्वरूपके दर्शन नही होते। इतनी कठिन बात हो रही कि जिस परसगके कारण हम दुःख भोग रहे,

कष्ट सह रहे, विकल्प विपदा छा रही, हम अनन्त आनन्दसे हटे हुए बन रहे, वे परसग इसे रुच रहे है । कितनी अविवेककी बात है । अपना अन्तः साहस बनायें, अपने आपमे अपनेको निरखे और मग्न होनेका उपाय बनायें, डर न मानें किसी बातका कि ये लोग क्या कहेगे ? बहुतसे लोग हमे समझ न पायेंगे, हमारा परिचय न कर पायेंगे । अरे बहुतसे क्या, मेरेसे भिन्न कोई एक भी जीव मुझे न समझे तो इसमे मेरा बिगाड क्या ? मैं मेरेको समझ लु और भीतरी ज्ञानप्रकाशके द्वारा अपनेको अपनेमे पा लू, बस यही मेरे कल्याणकी बात है । तो यह सिद्ध होगा विभक्तैकत्वदृष्टिसे ।

भूतार्थताकी उपलभ्यता—मैं सर्व परपदार्थोंसे निराला अखण्ड चैतन्यमात्र हू, इसीको कहते है भूतार्थपना । अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव, यह तो है भूतार्थनयका विषय और उसके भेद प्रभेद व्यवहार विस्तार बने ७ तत्त्व और ६ पदार्थ, इन सबको कहते है भूतार्थ । पर इनकी समझ आये बिना हम भूतार्थकी परखमे नही पहुच सकते । ऐसा इसका वर्णन है । ७ तत्त्वोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । ६ पदार्थोंका ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है, यह बात ठीक है, सही है, पर इस श्रद्धा और ज्ञानमे क्या मिला ? वह अखण्ड एक चैतन्यस्वरूप । वह न मिले तो ७ तत्त्वोका श्रद्धान श्रद्धान नही, इसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही । तो विभक्त बनकर एकत्वमे पहुचनेकी आवश्यकता है, इसके लिए भाई बहुत समय तकका सत्सग चाहिए, बहुत समय तकका स्वाध्याय चाहिए । खुद पढें, दूसरोको सुनायें या दूसरोसे सुनें, चर्चा करे, इस ही परमात्मतत्त्वकी (आत्मारामकी) चर्चा बहुत काल तक रहे तो वह टिकेगी थोडी देर और ऐसे पुरुष पुरुषोका, ज्ञानीजनोका सग बना रहे, जो इस आत्मतत्त्वकी चर्चाको पसद करते हो, जिनके इस बाह्य ससारसे उदासीनता हो, अपने आपके स्वरूपके प्रकाशमे ही कल्याण समझते हो, ऐसे पुरुषोका अधिक समय सग रहे तो यह परिवर्तन होगा और यही कोशिश करनी चाहिए कि जिसमे ज्ञानियोका सग अधिकाधिक मिले, और ज्ञानार्जन करनेका अधिकाधिक मौका मिले । धर्मकी दिशा वह है जिस दिशामे चलकर हमे आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो । अब भला बतलाओ—कोई पुरुष यदि किसी एक कक्षाका धार्मिक ज्ञान लेता है तो जो धर्मके कार्य है पूजा विधान आदिक, क्या उनसे यह कम कार्य है ? देवदर्शन करना, पूजन करना, सामायिक करना, आध्यात्मिक शिक्षण करना आदि ये सब धर्मके साधन है । ज्ञानमे उपयोग अधिक देर रह सके तो समझो कि यह विषयोकी दुर्गन्ध कम होगी, नही तो विषयोकी दुर्गन्धमे ही बने रहे, यह बात रहेगी । कही कोई दुर्गन्धित चीज पडी हो तो उसकी दुर्गन्धको दूर करनेके लिए लोग यह भी उपाय करते है कि उस जगह कोई अच्छी सुगधित चीज रख देते है । तो ऐसे ही अपने इस उपयोगमे विषयोकी दुर्गन्ध बस गई है । इस दुर्गन्धको टालनेके लिए ज्ञानकी

सुगध बढावे तो वह विषयोकी दुर्गन्ध टलेगी, नही तो न टलेगी, और ऐसे धर्ममे, ऐसे जाप आदिकमे क्या मिलेगा जो कि एक देखादेखी ऊपरी बातें कुछ प्रतिष्ठा पानेकी या कुछ आदत सी बन गई तो उस धर्मसे क्या मिलेगा ? आदत मिली सो तो ठीक है, मगर सदुपयोग तो यह है कि धार्मिक ज्ञान बनायें, तत्त्वज्ञान बनायें उसमे हासिल होगा, अन्य प्रकारमे कुछ हासिल न होगा । एक बार किसी सेठके पास चार व्यक्ति जाप देनेके लिए पहुचे और बोले—सेठजी हम लोग जाप जपकर आपका सकट दूर कर सकते है । सेठजी ने कहा अच्छी बात है । एक बोला—ॐ विष्णु विष्णु स्वाहा, दूसरा बोला—जो तुम जपा सो हम जपा स्वाहा, तीसरा बोला—ऐसा कब तक चलेगा स्वाहा, चौथा बोला—जब तक चले तब तक सही स्वाहा । यो वे और कुछ तो जानते न थे, सो इस तरहसे जाप देकर सेठजी से कुछ पैसे ठगकर ले गए । तो समझिये कि जैसे उनका एक अटपट जाप चल रहा था, ऐसे ही हम आपकी सारी बातें यहाँ अटपट हो रही हैं । अरे अपनी इस दुर्दशापर कुछ खेद करना होगा, अपने आपके स्वरूप मे बसे हुए वैभवकी दृष्टि करनी होगी । ये सब बातें एकत्वविभक्तदृष्टिसे प्राप्त हो रही हैं ।

सत्त्वदृष्टिका प्रभाव—मैं स्वरूपमात्र हू, विभावोंसे भी निराला, अपनी परिणतियोंसे भी निराला जो अपना शुद्ध अनादि अनन्त शाश्वत चैतन्यस्वरूप है उसमे उपयोग लगाना होगा । मै हू—इसीका ही तो विश्वास नही किया जा रहा । अपने आपके सत्त्वको भी स्वीकार नही किया जा रहा । मैं सत् हू । एक सत्त्वमात्रसे भी अपनेको निहारें तो भी अनेक सकट इसके छूट जायें । मैं सत् हू । जैसे सब पदार्थ हैं वैसा ही मैं भी हू । जैसे अरहत सिद्ध भगवान हैं वैसे ही मैं भी हू । उस सत्त्वदृष्टिमे यह नजर आयगा कि मैं सत् हू, स्वतः हू, स्वतः परिणामी हू । सत् होनेके कारण मैं निरन्तर परिणमता रहता हू । यह ही बात भगवान कर रहे, वही बात हम कर रहे । जो कुछ औपाधिक अन्तर है उसकी बात अभी न देखिये । सत्के कारण क्या क्या हो रहा ? मैं सत् हू, अपनेमे अपनी नई अवस्थायें बनाता हू, अपनेमे अपनी पुरानी अवस्था विलीन करता हू और सदा बना रहता हू । यह ही बात सिद्ध भगवान कर रहे, यही अरहतदेव कर रहे और यही मैं कर रहा हू । एक सत्त्व दृष्टिमे सबकी बात कह रहे हैं । सबकी एक-सी बात बन रही है । अब विशेषकी ओर अगर देखें तो विशेष परिणमनमे विशेष कारण होता है । कही विभावपरिणमनके कारणोका अभाव है तो वह भी विशेष परिणमन है अर्थात् पहिले परिणमनोमे विलक्षणता आये उसे विशेष परिणमन कहते है । है यद्यपि अविशिष्ट परिणमन, पर सर्वपरिणमनोंके मुकाबलेमे विशेष है और यहाँ ससारके परिणमन ये तो टटके विशेष हैं याने वहाँ तो अपेक्षा लेकर विशेष बताया है कि भगवानका जो परिणमन है वह पहिले ससारी प्राणियोंसे विलक्षण है इसलिए विशेष बात है, लेकिन इस ससारी जीवको तो सारी की सारी पूरी विशेष-विशेष बातें है । लोग

विशेपका महत्त्व समझते है, ऐसी महत्त्वकी बात तो हम आप ससारी जीवोको मिली है, भगवानको तो नही मिली है। रही बात परिणमनोकी तो मै जैसे भगवानकी परिणति नही बना सकता इसी तरह भगवान भी मेरी परिणति नही बना सकते। भगवानकी लीला है कि वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, निस्तरग अवस्थामे परिणमे, तो हम आपकी क्या कम लीला है ? हम आप कभी पेड पौधे बन जाते। डाली डालीमे विभिन्न प्रकारके फूल बन जाते। विभिन्न प्रकारकी पखुड़ियाँ और पराग रूप बन जाते, अन्य भी विचित्र पर्यायोमे पहुच जाते तो यह कोई कम लीला है क्या हम आपमे ? किसी बातमे भगवान लीला दिखानेमे कुशल है तो हम आप जीव भी किसी बातमे लीला दिखानेमे कुशल बन रहे है। तो हम आपमे और भगवानमे लीला करनेमे बराबरी है, हाँ वह किसी बातमे कुशल है तो हम आप किसी अन्य बातमे। भगवानकी सारी परिणतियाँ तो हितरूप हो रही और हम आपकी परिणतियाँ अहितरूप हो रही। हम आपकी परिणतियाँ जन्म मरणके कारणभूत बरबादी ही करने वाली है। इन खोटी प्रवृत्तियोसे हमे हटना चाहिए, इनसे कुछ लाभ नही है।

सत्त्वदृष्टिसे अपनेको निहारकर संतुष्ट होनेका अनुरोध—सत्त्वकी दृष्टिसे निहारें। मेरे ही सत्त्वके कारण बिना दूसरेके सम्बधके, बिना परलक्ष्यके, बिना कोई तरग उठाये अपने इस सत्त्वके कारण मुझमे जो हो सकता हो सो हो। यह भावना अपनी रहनी चाहिए। मै क्यो व्यग्रता करूँ कुछ भी परिणमनेके लिए, स्वत जो होता हो सो होने दो। जब मैं सत् हूं तो होगा ही सब कुछ। हममे जो कुछ होता हो सो अपने आप हो, मैं क्यो किसी परका लक्ष्य करके सक्लेश करू, क्यो मैं परका विकल्प बनाकर विह्वल होऊ ? मुझे कुछ नही करना। मुझमे मेरे ही सत्त्वके कारण जो होता हो सो हो। यदि यो साहस बढाकर बाह्यदृष्टि छूटती है, विकल्प छूटते है तो समझिये कि ज्ञानी जीवने सत्त्वदृष्टिका लाभ उठा लिया। मै सत् हूं और स्वतः हू, निरन्तर परिणमनशील हू। मैं अपनी अवस्था बनाता, मिटाता और सदा बना रहता हू। इस मेरेका सब कुछ मुझमे ही है। मेरेसे बाहर मेरा कुछ भी नही है, समग्र बाहरी पदार्थोंसे इस तरहका ससर्ग टूटे और ऐसा छिन्न होवे कि उसका कुछ ध्यान भी न रहे और यो अपनी दृष्टिमे केवल अपना आत्मतत्त्व बसे तो इस जीवका सर्व कल्याण ही कल्याण है, इसके विपरीत ये सब दशायें बन रही है। यहाँ मनुष्यभवमे सोचते है कि मेरेमे इतनी कमी है, मेरेको इतनी कमी है, पर यहांसे मरकर बन गए चीटा, चींटी आदिक कुन्थु जीव तो फिर वहाँ पूछो कि तेरेमे कितनी कमी है ? अरे बाहरी कमाई देखकर जो कुछ पासमे है उसका भी सन्तोष और सुख नही लिया जा पा रहा। ये बाहरी चीजें परमाणु मात्र भी मुझे न चाहिएँ, फिर गुजारेके लिए जितना आवश्यक है वह तो हुआ ही करेगा। मेरा जीवन तो आत्माके लिए श्रद्धान, ज्ञान और आचरणके लिए है, ऐसा अन्दरमे साहस बने तो भाई अपना उद्धार

है और ऐसे दुर्लभ मानव-जीवनकी इसीमे सफलता है । तो अपने सत्त्वमात्रको निरखकर अपने मे कुछ जाननेकी जो दृष्टि है, वह सत्त्वदृष्टि है ।

ध्रुवत्वकी वाञ्छनीयता--सभी मनुष्योंके हृदयमे ऐसा भाव रहता है कि मैं अच्छा रहू । सामान्यतया सभीके चित्तमे यही वात बनी रहती है । कोई भी मनुष्य ऐसा ऊँचा वनना स्वीकार न करेगा कि जिसके वाद फिर नीचा वनना पडे । जैसे किसीने किसीसे कहा कि हम आपको दो दिनके लिए राजा वनाये देते है । मगर दो दिनके वादमे ही जो कुछ तुम्हारे पास मे है वह भी छीन लिया जावगा, तो ऐसा राजा वनना वह स्वीकार न करेगा । प्राय सभी की ऐसा सोचनेकी प्रकृति पडी है कि मैं वह रहू जो सदा रह सकूं । यद्यपि स्वरूपदृष्टिकी वात यह है कि वस्तुन कोई भी स्थिति ऐसी नही होती जो कि सदा रहती हो । हाँ शुद्ध पर्याय होनेपर, इस जीवके मात्र अकेले रहनेपर जो इसमे परिणतियाँ होती है वे सभी समान-समान होती है, उन समान परिणतियोकी अपेक्षासे वे ध्रुव रहती है । केवलकी अपेक्षासे, व्यक्तिश जो अनुभव चल रहा, सदा वह नही चलेगा । कोई भी एक परिणमन अनत कालके लिए नही होता, क्योकि जो परिणमन जिस समय होता उसका उसी समय अनुभव होता । शुद्ध द्रव्यमे समान-समान परिणमन चलता है, समान परिणमन चलनेके कारण कहना चाहिए कि वह एक परिणमन कहलाता है । कोपमे भी एकका अर्थ समान कहा गया है, एक भी कहा गया है । जैसे कहते है कि ये दोनो एक है, मायने समान है, यो भी एक शब्दका प्रयोग होता है । जब समान-समान परिणमन है तो वहाँ सब परिणमनोमे अनेकताका बोध नही हो पाता । अगर रच भी फर्क हो तो उसमे भेद आये । भगवानने अपने केवलज्ञानसे जैसा पहिले जाना वैसा ही अब भी जानते है, वैसा ही आगे भी जानते रहेगे । जो आनद इस समय पा रहे है वही आगे भी पाते रहेगे । दिखता तो ऐसा है कि जो जाना वहीका वही जाना, जो आनद पाया वहीका वही पाया, किन्तु वहाँ प्रत्येक समयकी एक-एक परिपूर्ण परिणति है । इन परिणतियोका सिलसिला समान है । यही परिणति वाञ्छनीय है, अन्य सर्व विषम परिणतियाँ अवाञ्छनीय है ।

शुद्ध परिणतियोकी समानताका कुछ उदाहरणो द्वारा स्पष्टीकरण व विषम परिणति की अकाम्यता—एक मनुष्य १० सेर वजनकी चीज अपने एक हाथपर रखे खडा है, वैसा ही काफी देर तक खडा रहा तो दिखता ऐसा है कि उसने उतने समय तक वहीका वही काम किया, कोई नया काम नही किया, पर देखिये तो सही, वह प्रतिक्षण अपना नया-नया काम कर रहा है । उसका जो श्रम लग रहा है वह तो भिन्न-भिन्न समयकी शक्तियो द्वारा लग रहा है । उसके श्रममे क्षण प्रतिक्षण नया-नया श्रम रहा है । जैसे बिजलीका बल्ब काफी समय तक एकसा जलता रहा तो दिखता ऐसा है कि वह कोई नया काम नही कर रहा है, वह तो

ज्योका त्यो एक ही काम कर रहा है, पर ऐसा नही है । वह तो एक सेकेण्डके प्रत्येक हिस्से मे अपना नया-नया काम कर रहा है । तभी तो कहते है कि देखो अब इतनी बिजली खर्च हुई, अब इतनी । मगर काम समान होनेसे ध्यानमे नही आता । तो समानको भी एक शब्दसे कहा है । यद्यपि निश्चयतः परिणमन कोई ध्रुव नही होता, लेकिन वैसाका वैसा ही परिणमन चलता रहता हो तो उसे ध्रुव परिणमन कहते है । सदा वैसा ही हो रहा है । तो अपने बारे मे प्रत्येक पुरुष ऐसा सोचता है कि मै वही रहू जो सदा रह सकता हू । आज तो बडा बना दिया जाय और कल छोटा हो जाय तो ऐसी स्थिति कोई नही चाहता । मनुष्योको ससारमे और दुख ही क्या है ? चाहते तो है बडा होना, पर छोटा होना पडता है । सासारिक स्थितियाँ ही ऐसी है कि जो बढकर घटना पडता है । कोई मान लो इस वर्तमानके भवमे बडेसे छोटा होना न दिखे तो मरण होनेके बाद तो सारा फैसला हो ही जाता है । बडेसे छोटा होना यही तो है कि निम्न गतिके जीव होना पडता है । ऐसा छोटा धीरे-धीरे नही होता है कोई, एकदम होना पडता है । कभी हाथ नही रहे, कभी नेत्र नही रहे, कभी पैर भी नही रहे, कभी मात्र पिण्डोला ही रह गया, यो नही, मरणके बाद तुरन्त हो गये कीडे तो एकदम ही तो छोटा हो गया । कोई पुरुष ऐसी स्थिति कोई नही पसद करता, जिसमे बडा होनेके बाद फिर हल्का होना पडे । अभी ये जो खोम्चा जगाने वाले लोग होते है उनसे ही कोई कहे कि देखो हम तुमको दो दिनके लिए राजा बनाये देते है, मगर दो दिनके बादमे जो कुछ तुम्हारे पास छोटी मोटी पूजी है वह भी छीन ली जायगी, 'तो वह राजा बनना पसद न करेगा । वह तो ऐसी ही स्थिति पसद करेगा जो सदा चली जाय । तो प्राय. सभी मनुष्योकी ऐसी प्रवृत्ति है कि वे यही चाहते है कि मुझे तो वह स्थिति चाहिए जो सदा रहे । यही परिणमन शुद्ध परिणमन कहलाता है । निरुपाधि परिणमन, निर्विकार परिणमन सम होते है, किन्तु सोपाधि परिणमन, सविकार परिणमन विषम होते है ।

समपरिणमनके लिये उपयुक्त आश्रेयताका विचार—अब इस विचारमे आइये कि उस निरुपाधि परिणमनके लिए ऐसा कौनसा परिणमन उपयुक्त है कि जिसमे कोई बाधा न आये ? उपाय यहा दो प्रकारके मिलेंगे—एक तो यह कि अध्रुव तत्त्वोंका प्रसग बनाना, और एक यह कि ध्रुव तत्त्वका सग बनाना । ये ध्रुव और अध्रुव ऐसे दोनो प्रकारके तत्त्व जगत मे है । जो स्वभाव है, जो द्रव्यत्व है, जो वस्तुत्व है वह ध्रुव है और जो उसकी अवस्था है वह अध्रुव है । अब सग बनाना भी क्या है ? दृष्टि बनाना, उपयोगमे जमाना । उनमे उपयोग देना है, प्रसग और सग बनाना है । तो अध्रुवकी दृष्टि की जा सकती है, ध्रुवकी दृष्टि की जा सकती है, और फिर जो उसके साथ अध्रुवकी दृष्टि आत्मीयतासे लगाये, यह मैं हू, यह मेरा है, इससे मुझे सुख शान्ति है, इसीको मै भोगता हू, इसीको मैं करता हू, इसीसे मेरा सब

है, सो यह है अध्रुवदृष्टि । अध्रुव पदार्थोंमे कुछ तो भिन्न पदार्थ हैं और कुछ अध्रुव तत्त्व अपनेमे हैं । जैसे मकान, दुकान, परिजन, मित्रजन, वैभव आदि ये सब बाहरी चीजें है, और विकल्प, विचार, कषाय, इच्छा ये अपनेमे अध्रुव हैं । उन अध्रुव पदार्थोंको जो यह मनमे सोचता है कि मेरे स्वरूप है, मेरे हैं, इनसे मेरा बडप्पन है, इनसे ही मेरी शोभा है, ये ही मेरे सर्वस्व हैं तो ऐसे लोगोका वर्तमानमे ही देख लो क्या परिणमन है ? आकुलता, क्लेश, अधीरता आदि है, और जब कभी यह दृष्टि हो जाय कि जो मेरा स्वरूप है वह तो टकोत्कीर्ण-वत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभावरूप है । "मैं" एक सहज ज्ञानस्वरूप हू । यहाँ उस "मैं" को कहा जा रहा है जो सबके नाते अपना स्वरूपास्तित्व रख रहा है । "मैं" जब कोई वस्तु है वह तो अपने स्वरूपमे परिपूर्ण है ।

वस्तुकी सहज परिपूर्णता—भैया ! कोई द्रव्य ऐसा नही होता कि उसका स्वरूप अधूरा रहता हो । कल्पनामे अधूरापन है, पर सत्त्वमे कोई अधूरापन नही है । कोई चीज ऐसी है कि जो अभी आधी "है" बन पायी है, कोई वस्तु अधूरी नही है । अधूरा तो कुछ जगतमे होता ही नही, जो है वह पूराका पूरा ही है । वस्तुके स्वरूपमे अधूरापन नही होता । लोग अपने मकानके विषयमे ऐसी कल्पना कर बैठते है कि अभी तो हमारा मकान अधूरा है, अभी थोडा ही बन पाया है , पर वह अधूरा है कहाँ ? अरे जो काम उसमे हो चुका वह तो पूराका पूरा ही है । हाँ आपने अपनी कल्पनामे १५ फुट ऊची भीत को एक द्रव्य पूरा मान लिया था और वह अभी ७ फुट ही ऊची उठी है तो उसे आप अधूरा कहते है । पर वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो कोई भी काम अधूरा नही होता । जो है वह परिपूर्ण है, उसका जो परिणमन है वह परिपूर्ण है । जो जीव पुद्गल विभावरूप परिणमते है वे उपाधि का निमित्त पाकर परिणमते है । कोई सनातन निरुपाधि है तो वह निरुपाधिरूप परिणम रहा है । अब हम जब रागद्वेषसे आविष्ट होते हैं तो अपनेमे भी अधूरेपनकी कल्पना करते हैं और बाहरमे भी अधूरेपनकी कल्पना करते हैं । स्वभाव देखो तो सब पदार्थ हैं और ध्रुव है ।

ध्रुवकी दृष्टिकी शिवकारिता—हम बाहरी पदार्थोंका आश्रय लें, उनका आलम्बन लें, उनकी दृष्टि बनायें तो वह सब अध्रुवका आश्रय करना कहलायेगा । कदाचित् हम किसी भिन्न द्रव्यका आलम्बन करें तो भी वह मेरे लिए अध्रुव है । यद्यपि वह ध्रुव है, पर मेरेसे भिन्न है, मेरे साथ नही है, मेरेमे नही है । एक यह मैं जो चैतन्यस्वरूप सहज ज्ञान-मात्र हू वह ध्रुव हू । ध्रुवकी दृष्टिसे ध्रुव मिलेगा । लेगा का अर्थ है—ज्ञानमे आयगा, उप-योगमे समायेगा । उपयोग जब ध्रुवमे रहा, अध्रुवकी ओर उपयोग न गया तो वहा फिर आकुलताका कोई निदान नही रहता । तो जब हम ध्रुवदृष्टि करेंगे तो इसमे क्या प्रभाव होता और जब अध्रुव दृष्टि करेंगे तो इसमे क्या प्रभाव होता ? इसका जो विचार, मनन

करता है वह इस निर्णयमे आ जाता है कि अध्रुवका आश्रय तजकर ध्रुवकी उपासना करना चाहिये । जैसे कोई रास्तागीर जा रहा है और रास्तेमे अनेक पेड मिलते है, वह पेडो की छायासे गुजरता जाता है, मगर क्या किसी मुसाफिरको देखा जो किसी पेडकी छायामे ही विलम होकर रह जाय ? हाँ कुछ प्रयोजनवश कभी रहना भी पडे तो भी उसके विवेक बराबर बना रहता है । गर्मीके दिन है, नीचे भी गर्मी, ऊपर भी गर्मी, सडकपर पेड भी नही हैं, बडी तकलीफसे जा रहा है, नगे पैर है, तो उसके मनमे यह भावना आती है कि कोई पासमे छायादार वृछ मिले और वहाँ कुछ आराम करूं । मिल जाता है सडक छोडकर २५ कदमपर कोई छायादार वृक्ष, लो वहाँ पहुचता है और आराम करता है, मगर छायाके नीचे आराम करने वाले की वृत्ति देखी होगी । वह पेडसे यह तो नही कहता है कि हे वृक्ष ! मुझे छाया चाहिये, तुमसे हमको बडा आराम मिलता है । वह तो शामको चार पाँच बजे ठडा हो जाने पर उस पेडकी छायाको छोडकर चल देता है । वह उस छायाकी ओर फिर मुडकर भी नही देखता । तो प्रयोजनवश उसने छायाकी सेवा तो की, लेकिन छाया और अपने आपके लक्ष्य, इन दोनोके अदर विवेक उसके बराबर बना रहा । तो यहाँ जितने भी समागम मिलते हैं वे सब अध्रुव है । इन अध्रुव समागमोमे ऐसा विश्वास नही करना है कि ये ही मेरे सब कुछ है, मेरा कल्याण इन्ही मे है ।

ध्रुवता व अध्रुवताके विवेकियोकी सुस्थिति—जो अध्रुव पदार्थोंमे ध्रुवताकी आस्था बनाये हैं उनकी दशा उनके विनाश हो जाने पर बडी कलुषित होती है । उनको बडा सक्लेश करना पडता है और जो अपने आपको मान रहा हो कि ये तो अध्रुव है, आश्रयके योग्य नही है, इनमे दिल रमाना हमारा कर्तव्य नही है, तो वियोग होनेपर वह वहाँ यह प्रकाश पाता है कि लो जो मैं १० वर्ष पहिले जान रहा था वही हुआ, अनहोनी कुछ नही हुई । हम तो इसे पहिले से ही जान रहे थे कि इसका वियोग अवश्य होगा । जो जानते थे सो ही हुआ । धक्का तो उसके ही दिलमे लगता है जो जानता है कि यह मेरा है, सदा रहेगा, दूसरोका मिटा करता है, मेरा कही मुझसे अलग हो सकता है, इस मेरे मकान की तो नगरपालिकामे पक्की रजिस्ट्री है, इसे कौन छुडा सकता है, अथवा यह तो मेरा ही लडका है, मेरेसे प्रतिकूल कैसे हो सकता है, अथवा यह मर कैसे सकता है, मरा तो दूसरोंके करते है । यो अध्रुवमे ध्रुवकी दृष्टि बनाये है । कदाचित उन पदार्थोंका वियोग हो जाय तो फिर उनके हृदयमे बडा धक्का लगता है । और जो समझदार है वे तो जानते है कि इन अध्रुव पदार्थोंका बियोग तो होना ही है, कदाचित कोई घटना घट गई तो समझ लिया कि मैं तो इसे पहिलेसे ही जानता था, इसमे अनहोनी क्या ? ऐसी बात ज्ञानमे रहनेके कारण उस घटनाके प्रसगमे उसे कष्ट नही होता । तो अध्रुवको अध्रुव जाननेका अर्थ है ध्रु

आश्रय लेना।

ध्रुवकी भावनाका महत्त्व—अनित्यभावनामे यही तो सब गाते हैं कि राजा राणा, छत्रपति आदि बडेसे बडे लोग सभी एक दिन मरेंगे, और थोडा यह भी ध्यान लाते हैं कि यह मैं भी एक दिन मरूँगा, पर यह बात ध्यानमे लाना बहुत आवश्यक है कि मैं आत्मा जो सहज ज्ञायकस्वरूप हू वह कभी नही मरता। नित्यकी भावना साथमे हो तो अनित्यभावना का अर्थ सही है और यो अनित्य-अनित्यपर ही दृष्टि धरे रहे तो इसमे लाभ क्या मिलेगा? तो नित्यभावना भावो। मैं आत्मा जो सहज चैतन्यस्वरूप हू सो नित्य हूँ। अनित्यभावना भानेका अर्थ है नित्यभावना करना, न कि अनित्यमे उपयोगको डालना। कोई उसका उद्देश्य न समझे और बाहरमे ही अनित्य-अनित्य समझता रहे तब तो फिर उसे न बाहर ही सहारा मिलेगा और न भीतर। तो अपने आपके ध्रुवस्वरूपको पहिचानो। वह मेरेसे कभी अलग नही होता। उसपर उपयोग न दे रहा हो कोई, तो यही उससे अलग होना कहलाता है। मेरा स्वरूप मुझसे कभी अलग होता है क्या? नही अलग होता। मैं मेरे स्वरूपको नही जानता हूँ। बस इसीके मायने अलग होना कहलाता है। जैसे किसी पुरुपके घरमे कोई मणि छिपी रखी हो, उसका उसे पता नही है, तो घरमे मणि होकर भी वह निर्धनताका ही अनुभव कर रहा है। और जिस समय उस मणिको वह पा लेगा, उस समय वह अपनेको धनिक अनुभव करेगा। इसी प्रकार यह आत्मदेव, यह सम्पूर्ण परमात्मतत्त्व मेरे अपने आपके सत्त्वमे, स्वरूप मे प्रकाशमान है, उसकी जिसे खबर नही है वह तो गरीबीका ही अनुभव करेगा। अपनेको माना कि मैं मनुष्य हू तो फिर मनुष्यके उचित परिणाम बनेंगे। मैं इसका बाप हू, यो अपने को किसीका बाप माना तो फिर बापके उचित (योग्य) परिणाम बनेंगे। जैसे बच्चेको खिलाना-पिलाना, पढाना-लिखाना, सेवासुश्रुषा आदि करनेकी शल्य रखना।

"मैं" के सही निर्णयपर सुभवितव्यताकी निर्भरता—मैं क्या हू, इसके निर्णयपर सारे निर्णय सही बनेंगे। और "मैं" का ही पता न हो, अनेक अध्रुव तत्त्वोमे मैं मानते रहे, तो फिर उससे आत्माकी कभी शुद्धि नही होनेकी। इससे बहुत बडा रोजगार केवल एक मात्र रोजगार यह है कि मैं अपने आपमे अपने ध्रुवस्वरूपको पहिचानू। इसकी पहिचान ज्ञान और सयम द्वारा साध्य है। कुछ भीतरी सयम बनायें, मनपर कन्ट्रोल कर सकें, बाहरी पदार्थोमे चित्त न जाय, ऐसी हम भीतरमे स्थिरता पा सकें, तव हम अपने आपके स्वरूपका अनुभव कर सकते है कि यह मैं हू। जैसे मिश्रीके स्वादका पता केवल बातोसे नही होता, किन्तु उसके चखनेसे होता है, इसी प्रकार आत्माके स्वरूपका सही पता केवल बातो द्वारा नही होता, बल्कि ज्ञानमे उस ज्ञानस्वरूपका ग्रहण करनेके द्वारा ज्ञानज्योतिका अनुभव होता है। उसका जब सही पता पडेगा तो काम बनेगा, नही तो काम न बनेगा। एक बाबूजी बाहरी पदार्थोंकी

व्यवस्था बनानेमे बडे चतुर थे। एक दिन शामको वह अपने कमरेकी व्यवस्था बना रहे थे तो घडीकी जगह घडी रख दी और उसपर लिख दिया घडी, छातेकी जगह छाता, जूतोकी जगह जूता, कोटकी जगह कोट आदि रख दिया और उनपर भी लिख दिया। कमरेमे सब सामानो की व्यवस्था कर चुकनेके बाद जब निद्रा आ गई और पलगपर लेट गए तो उस पर लिख दिया "मैं" याने इस पलगपर मैं पडा हू। जब सबेरा हुआ, सोकर उठे तो देखने लगे कि सब व्यवस्था ठीक है या नही। तो देखा घडीकी जगह घडी, छडीकी जगह छडी, कोटकी जगह कोट, ओ यस, सब ठीक है, पर जब पलगपर लिखा हुआ दिखा "मैं" तो उस "मैं" को ढूढने लगे, निवारके छेदोमे देखा, सिरहना झटका कर देखा, पर वह "मैं" मिले नही। बाबू जी बडे हैरान हो गए। घबडाकर बोले—अरे मनुवा (नौकर) मेरा "मैं" गुम गया। नौकर बाबू जी की बात सुनकर हँसने लगा। वह सब बात समझ गया। बाबूजी से कहा, अरे बाबू जी आप थके हुए है, सो जाइये, आपका मै आपको मिल जायगा। बाबू जी को अपने उस नौकरपर बडा विश्वास था, उन्हे विश्वास हो गया कि हमारा पुराना नौकर है यह ठीक ही कहता होगा, इसे हमारे "मैं" का पता होगा। बाबू जी पुनः बिस्तरपर लेट गए। नौकर ने कहा, अब देखिये बाबू जी आपका मै मिल गया कि नही। बाबू जी ने ज्यो ही अपने ऊपर हाथ फेरा तो याद आ गया कि इस बिस्तरपर मैं लेटा था तो लिख दिया था "मैं" याने इसपर मैं पडा हू। याद आते ही बोल उठे ओ यस. मेरा मै मिल गया। तो जो बाहरी बाहरी व्यवस्थाये ही बनाता रहे और जिसे अपने आपका कुछ पता ही न हो तो उसे बेचैनी तो रहेगी ही। कोई दुनियावी बातोकी तो बडी व्यवस्था करता रहे और अपने आपके आत्म-स्वरूपका कुछ पता ही न हो तो उसकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है ? अरे इस आतमा को भी तो कुछ भोजन देते जावो, केवल शरीर-शरीरको ही भोजन देते रहनेसे क्या फायदा ? आत्मज्ञान, स्वाध्याय, ध्यान द्वारा, चर्चा द्वारा, अध्ययन द्वारा दो एक घटा समय लेकर अपने आपके स्वरूपकी उपासना करनेका यत्न करना चाहिये।

हम सबका अपने-अपने भावपर अधिकारित्व—हम आप सब जीव सिवाय भाव करनेके और क्या कर सकते है ? जहाँ कोई यह मान रहा है कि मैं अमुक काम करता हू, मैने यह किया, उसने भी केवल विकल्प भर किया। बाह्य पदार्थमे कुछ परिणमन नही कर पाया। वस्तुस्वभावके खिलाफ कोई बात किसी तरह कैसे हो सकेगी ? प्रत्येक पदार्थ स्वय उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। यह तो परिणमने वालेमे ही कला बसी हुई है कि वह कैसे उपा-दानका हो, तब किस निमित्तको पाकर किस रूप परिणम जाय ? पर कोई दूसरा पदार्थ अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल कुछ भी स्वभाव छोड दे, यह तो नही होगा। प्रभाव भी क्या ? भावमे 'प्र' लग गया तो प्रभाव बन गया। भाव-प्रभाव तो परिणमने वालेका ही है। जहाँ ऐसा निमित्त-

नैमित्तिक सम्बन्ध दिखे तो वहाँ उपचारसे प्रभाव कहा जाता है। पर सर्व पदार्थ अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहते है और परिणमते रहते है। उनमे ऐसी कला है जीव और पुद्गलमे कि वे अशुद्ध उपादानमे हो तो वे अन्य उपाधिका निमित्त पाकर अपनेमे विभावरूप परिणमन बना लेते है। इस स्थितिको देखकर यह निर्णय कर लीजिए कि मैं जगतमे एक अपने भावके सिवाय अन्य और कुछ नही कर सकता हू। जब हमारा सारा भविष्य हमारे भावोपर ही निर्भर है, जब हम किसी मित्रसे राग और विरोधीसे बैरकी कल्पना मनमे लाते हैं तो उस कल्पनासे दु खी हम ही होते है, कोई दूसरा दुःखी नही होता, दु खी खुदको ही होना पडता है। कर्मबन्धनमे कौन जकडता है ? खुद ही जकडता है, कोई दूसरा नही जकडता। तो हमे मानो प्रत्येक कदम फूंक-फूंककर धरना है, क्योकि मेरे बुरे परिणामोका वटवारा करने वाला कोई दूसरा न मिलेगा। मुझे अपनी करनीका फल स्वय अपनेको ही भोगना पडेगा। बाल्मीकि ऋषिके प्रति एक कथन है कि वे पहले एक डाकू थे। उस मार्गसे कोई निकलता था तो उसका सब कुछ छीन लिया करते थे। उसे मारते-पीटते थे और कभी-कभी तो दूसरोकी जान भी गवा दिया करते थे। एक बार उसी मार्गसे एक सन्यासी निकला। उसके पास कमण्डल, डडा आदि जो कुछ था वह छीन लिया। सन्यासी बोला—आप सब कुछ ले लीजिए, हमे इन चीजोकी कोई आवश्यकता नही, पर आप एक काम करें, आप अपने घर जायें, इन सब चीजो को भी अपने साथ ले जायें, और घरके सभी लोगोसे यह पूछें कि हम आप सभीके लिए जो अनेक पापकार्य कर रहे है उनका फल आप बाँट सकेंगे या नही ? बाल्मीकि जब घर गए और सभीसे पूछा तो कौन पापका फल बाँटनेके लिए राजी हो ? अर्थात् कोई भी पापका फल बाँटनेके लिए राजी नही हुआ। (मनुष्योमे प्राय यह प्रकृति है कि वे पापकी बात किसीके मुखसे सुनना भी नही चाहते, पापका फल बाँटनेकी तो बात ही क्या ? पापकी बात सुनकर ही ऐसा समझने लगते है कि मानो वह पाप लग ही गया) तो जब उनके परिवारका कोई भी व्यक्ति पापका फल बाँटनेको राजी न हुआ, सभीने मना कर दिया तो झट उनको ज्ञान जग गया कि वास्तवमे मेरे द्वारा किये गए कर्मोंका फल मुझे ही भोगना होगा, कोई दूसरा न भोगेगा। झट उस सन्यासीके पास वापिस गए। उसका सामान दे दिया और स्वय भी सन्यासी हो गए। तो कहनेका भाव यह है कि जो जैसा करता है उसका फल उसको ही भोगना पडता है, किसी दूसरेको नही। अब अपने विषयमे लगा लीजिए। घरके बच्चोंके लिए, नाते-रिश्तेदारोंके लिए अथवा किसी पार्टीके लिए निरतर जो इतने क्लेश सहे जा रहे हैं, न्याय अन्याय कुछ भी नही गिना जा रहा है तो भला बताओ—उसके फलको भोगनेके लिए क्या कोई दूसरा आयगा ? अरे वह तो खुदको ही भोगना पडेगा।

भ्रमे सुधार करनेका अनुरोध—भैया ! सर्वत्र परख लीजिये—यह जीव भाव भर

करता है। जब भाव ही यह करता है तो फिर भाव करनेमे कजूसी क्यो की जाय ? अरे अपने भावोका ही सुधार कर लीजिए जिससे कि इन समस्त प्रकारके सकटोसे मुक्ति प्राप्त हो जाय। बच्चे लोग जब अपनी गोष्ठीमे बैठते है तो वे भावोकी ही तो पगत करते है। कहीसे कुछ पत्ते ले आये तो कहते है कि लो ये रोटियाँ है, इन्हे खावो अथवा कहीसे कुछ ढेले, ककड आदि ले आये तो कहते है कि लो यह गुड है, इसे खावो। अरे जब यहाँ भाव ही करना है तो फिर पत्तीकी रोटियोके बजाय कचौडियाँ और ककडोको गुडके बजाय लड्डू क्यो नही कहते ? जब भावमात्र ही करना है तो उनमे कजूसी क्यो ? यद्यपि भाव वहाँ सत्‌रूप है और जो बात कही जा रही है वह मिथ्यारूप है। तो यहाँ भी हम जो कुछ करते है वह भाव ही करते है और वे भाव सत् बन जाते है। चाहे वे भाव असत्‌रूपसे सत् हो गए, किन्तु जो उन भावोमे बात समायी हुई है वह मिथ्या है। इन विकल्पोको अनर्थक्रियाकारी कहा है। कोई यह विकल्प करे कि मैं इन्हे सुखी कर दू। अगर उसके इस विकल्पसे वे सुखी हो जायें तो समझिये कि वह विकल्प सच्चा है, किन्तु ऐसा होता नही। तो मिथ्या, अनर्थ, व्यर्थ, जिनमे अर्थ क्रिया कुछ नही, ऐसे व्यर्थके इन भावोमे पडकर उनके पीछे दौड लगा लगाकर अपनी बरबादी क्यो की जा रही है ? कुछ हिम्मत बनानी होगी। मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ नही है, ये घरमे रहने वाले पिता, पुत्र, पत्नी आदि जितने भी जीव है वे सब उतने ही जुदे हैं जितने कि जगतके अन्य सभी जीव। इन घरके जीवोसे कोई निकटता हो, ऐसी बात नही है। जब आत्माके एक क्षेत्रमे बसे हुए और जीवकी पुद्गलके साथ भी कोई निकटता नही है तब फिर अन्य पृथक् रहने वाली वस्तुओंसे तो नैकट्य क्या बताया जाय ? अपने ही स्वरूपमे मैं ही स्वय हूं और अपने आपमे अपना उत्पाद व्यय किया करता हू। मैं अन्य कुछ करनेमे समर्थ नही हू तो इस निर्णयके बाद आगे चलो। जब मैं भाव ही कर पाता हूँ और वे भाव क्या है ? ज्ञान, दर्शन, जानना, देखना या उसके साथ कुछ और ज्ञान जाननेकी कुछ विपरीत दिशा भी और यह भी पायेंगे कि उस भावसे ही हम सुखी होते है और भावो से ही हम दु.खी होते है, किन्तु किया सब जगह भाव ही भाव। तब क्यो न ऐसा यत्न किया जाय कि हम अपने भावोकी वह दिशा बदलें जहाँ अशान्ति दूर हो और शान्ति प्राप्त हो। जब बाहरमे कुछ सम्बध नही, बाहरसे तो मेरेमे कोई फर्क आता नही, सारा फर्क मैं अपने आपकी इस ज्ञानविधिसे कर रहा हू, तब ज्ञानविधि मैं ऐसी बनाऊँ जहाँ अशान्ति दूर हो।

निज ध्रुवकी दृष्टिमे शान्तिका प्रसार—प्रकरणमे यह कहा जा रहा था कि अध्रुव की दृष्टिरूप भावसे तो विह्वलता होती है और निज ध्रुवकी दृष्टिके भावसे शान्ति उत्पन्न होती है। विश्लेषणमे यह समझिये कि हमने किसी अध्रुव अनित्य, विनाशीक चीजपर दृष्टि लगाया है तो वहाँ दोनोकी ओरसे धोखा मिलता है। जो हमारा ख्याल लगा है, दृष्टि लगी है वह भी

अध्रुव है। वह भी टिकने वाली नही है और जिस पदार्थपर हमने दृष्टि लगाया है वह भी अध्रुव है। तो जहाँ दोनो ओरसे अध्रुवता बनी हो, उस मेलमे भलाईका क्या ठिकाना ? अब इस ओर आयें कि हम जिस ज्ञानमे उपयोग लगा रहे है वह द्रव्य तो ध्रुव है ना ? वह है ध्रुव, लेकिन उसमे "मैं" यह जानने वाला उपयोग एकाकार नही हो सकता हू, क्योकि भिन्न पदार्थ है, इस कारण परपदार्थके सम्बन्धमे इस जाननहार उपयोगकी अध्रुवताका कलङ्क ज्यो का त्यो बना रहता है। वह ध्रुव पदार्थ मेरेसे निराला है, उसका तो विभक्तीकरण स्पष्ट ही है, तब अपनेमे जो सकल्प, विचार, रागद्वेष विरोधके भाव पैदा होते है उन भावोमे भी, उनके पकडनेमे, उनकी भी दृष्टि करनेमे आत्माकी भलाई नही है, क्योकि यह भी अध्रुव है और यह जाननहार उपयोग भी अध्रुव है। यह उपयोग जब आत्मामे अनादि अनत नित्य अन्त प्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करे, उसे उपयोगमे ले, तो देखो एक तरफसे तो इसका पूरा मोर्चा और ठिकाना सही बन गया कि वह ज्ञानस्वरूप भगेगा नही, वह इससे अलग होगा नही। अब तो केवल एक अपने उपयोगके सम्हालकी बात रह गई। जब हम ध्रुव तत्त्वमे उपयोग लगाते हैं तो यह उपयोग अध्रुव होकर भी इस ध्रुवके एकाकार उपयोग होनेसे अध्रुवताके कलङ्कसे दूर हो जाता है। अध्रुव होकर भी वह ध्रुवकी सगतिसे कुछ विलक्षण रूपको पा लेता है। तो भाव यह है कि अपने आपके अन्दर जो ध्रुव तत्त्व है उसका आलम्बन लें, उसकी श्रद्धा करें तो हमको शिवमार्ग प्राप्त होता है। अध्रुवके आश्रयसे हमको कल्याणका लाभ नही है।

निजको निज परको पर जाननेमे ही कल्याणलाभका अवसर—भैया ! कल्याणमार्ग पर चलना ऐसा प्रायोगिक होना चाहिए, कुछ अपनेमे इसका हिसाब देखना चाहिये कि मैंने वास्तवमे यह समझ पाया कि नही कि घरके सभी लोग, सभी जीव मेरेसे अत्यन्त पृथक् हैं। उतने पृथक् हैं जितने कि जगतके अन्य जीव। इसमे यदि कुछ कसर रह जायगी तो फिर एक यह गाथाकी बात याद कर लो—"परमाणु मित्तय पि हु रागादीण हु विज्जदे जस्त, सो ण विजाणदि अप्पाण दु सव्दागमधरो वि।" अर्थात् वे रागादिक परिणाम अणुमात्र मित्र भी हुए, ऐसा कोई पुरुष बडे शास्त्रोको भी धारण कर ले तो भी आत्माका जानकार नही। यह है अज्ञानमय रागकी चर्चा कि जहाँ श्रद्धामे परमाणुमात्र भी राग पडा हुआ है वहाँ मिथ्यात्व हटा हुआ नही है। जैसे किसी युद्धमे लडने वाला योद्धा अपनी सेनाको मजबूत करके धीरे-धीरे आगे बढता है, इसी तरह हम भी अपना सही कदम बढाकर धीरे-धीरे आगे बढें। मेरा मात्र मैं ही हू, अन्य सब चेतन अचेतन पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। जिन जीवोका समागम घरमे हुआ है वे सब जीव मेरेसे अत्यन्त निराले है, वे उतने ही निराले है जितने कि जगतके अन्य सभी जीव। यदि इस आस्थामे कुछ कमी रह गई तो समझिये कि पूरेके पूरे ही मुग्ध पहिले

जैसे ही रह गए ।

अपनी जिन्दगियोके मिटानेके अर्थ ज्ञानीका जीवन—घरमे रहना पडता है, राग करना पडता है, प्रेम व्यवहार करना होता है तो वह भी एक जीवन चलानेके लिए । जीवन चला रहे है हम जीवनसे छुटकारा पानेके लिए । आगे हमे जीवनकी परम्परा न मिले, हम जिन्दगी नही चाहते, भविष्यमे सब जिन्दगीसे छुटकारा पानेके लिए ही हम यहाँ अपना कुछ जीवन चला रहे है । कोई जीव ऐसे होते है कि जीवन बढानेके लिए मरण करते है और कोई जीवन मिटानेके लिए जीवन बनाते है । लोक मूढताओमे जहाँ अनेक प्रकारकी कल्पनाये बनी हैं—इस पर्वतसे नीचे गिर जावो तो स्वर्ग मिलेगा, कासी कर्वट ले लो तो बैकुण्ठ मिलेगा आदि, इस प्रकारकी लोक मूढतायें तो जीवनकी परम्परा बढाने वाली हैं । जो सद्गृहस्थ अपने घर रहते है, जीवन चलाते है, रागका व्यवहार करते है आदि, उनके ये सब काम जीवन मिटानेके लिए हैं । वर्तमान जीवनका चलाना अनन्त जीवनकी निवृत्तिके लिए है, और उपाय ही क्या है इस कमजोरीमें ? कदाचित् कोई यह सोचकर आत्महत्या कर ले कि हमारा जीवन खतम हो जायगा, तो क्या इससे कही आगेका जीवन रुक जायगा ? अरे इससे तो जीवनकी परम्परा ही बढेगी । अनेक प्रकारके व्यवहार करके क्लेश बनाये रहे तो उसमे जन्मकी परम्परा न मिटेगी । इसलिए जीवन चलाया जाता है ।

अध्रुव तत्त्वके आग्रहमे संसारसदनमे संसरणकी नौबत—ज्ञानी पुरुषका कैसा पूर्ण निर्णय है कि प्रत्येक जीव मेरेसे अत्यन्त जुदा है । यदि ऐसी श्रद्धा आ जाय तो व्यवहार भी आपका कुछ विलक्षण बन जायगा । विरोधियोपर दया, विरोधियोंके साथ सम्वेदना, अन्य जीवोके साथ सम्वेदना आदि ये सब बातें फिर बढने लगेंगी । फिर जीवदया किसे कहते है ? यह बात सही रूपमे आयेगी । अभी तक तो यो जीवदया चलती है कि घरमे लडका बीमार है तो उसे देखकर आपका हृदय काँप जाता है, और अगर किसी दूसरेका लडका उससे भी अधिक बीमार हो तो उसे देखकर कुछ दर्द नही होता, तो उस लडकेके प्रति की गई दया कोई दया नही है । दया तो तब बने जब यह सम्भावना हो कि ऐसा सभीपर भाव हो सकता है । तो यह विश्वास पहिले रखना है कि भिन्न और अध्रुव तत्त्वपर दृष्टि रखनेसे मेरेमे कल्याणलाभ नही । निज ध्रुवके कल्याणकी उपासनासे मेरा लाभ है । अध्रुव पदार्थ है ये धन-वैभव, मकान-महल, मित्र-बन्धु आदिक, और अपने आपमे भी देखो—जो इच्छाये चल रही, जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें चल रही, वे सब विकल्प हैं, सुख दुःखके परिणाम हैं, विचार वितर्क है, ये सब अध्रुव हैं । किन्हीको ऐसा हठ हो जाता है कि मैं ऐसा ही काम करके रहूंगा, और फिर हठकी भी हठ हो गई, मैं इस हठको छोड़ूगा नही, मगर सोचो तो सही—जिस जिसके बारेमे हठ की जा रही है वे सब अध्रुव है, अशरण हैं, धो

देने वाले है, मेरे साथी नही है, असार ही तो हम हठ किए हुए हैं और कपायरहित, हठ-रहित जिसमे गुणपर्याय निष्णीत है ऐसा जो कोई एक सामान्य तत्त्व है उसकी ओर तो हम आते ही नही। करना चाहिए उसकी हठ, उसका आग्रह, पर उस ओर हम कुछ चलते ही नही तो ऐसी हमारी प्रवृत्तिमे हम चाहे कि हम शान्त हो जायें तो कभी नही हो सकते। "मोह राग रुष दुःखकी खान।" सुख दु खका देने वाला अन्य कोई नही है, हमारे ही मोह रागद्वेषादिक भाव ये दु खके कारण है। लोग अपनी शान्तिके लिए द्वेप करते है, विरोध बढाते है, मगर देखो उस द्वेष और विरोधसे शान्ति आती है या अशान्ति बढती है। यदि आप किसी विरोधीके पास जाकर दो बातें बोल दें तो उससे तो आपका मार्ग साफ हो जायगा। अब उस विरोधीका मार्ग साफ हो अथवा न हो वह जाने, उसका जिम्मेदार वह स्वय है मगर आप तो सरल हो गए, आप तो उस कषायसे बरी हो गए। अब खुदमे तो शल्य अथवा संक्लेश नही रहा। तो जो लोग नम्र बनते है, दूसरोसे क्षमाकी बात भी करते हैं, दूसरोसे स्वय बोलते है, प्रिय वचन बोलते है वे अपने आपपर ही दया कर रहे है, अपने आपको ही सुखके मार्गमे लिए जा रहे है। होना है खुदको सुखी तो सुखका ही मार्ग क्यो न अपनायें ? ऐसे व्यवहारकी पात्रता रखने वाला जीव अपने अन्त नित्य प्रकाशमान इस ध्रुव चैतन्यस्वभावकी दृष्टि करता है और उसकी उपासनाके प्रतापसे कर्मोंका विध्वस कर लेता है।

ध्रुव अन्तस्तत्वकी दृष्टिमे ध्रुव परमात्मतत्त्वके मिलापका ध्रुव सहजानदका लाभ—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि हम जब अपने ध्रुव तत्त्वकी ओर दृष्टि करें तो वहाँ कैसी दृष्टि बनती है ? देखिये—सभी कल्याणार्थी ऋषि सतोने उपाय इसीका किया, पर भले ही कुछ थोडी-थोडी त्रुटिके कारण उसका रूप बिगड गया हो, जैसे अद्वैत एकान्त, प्रवृत्ति पुरुष जैसा विभाग। लेकिन उनमे दम कुछ नही या उनमे कुछ शिक्षा नही, यह बात नही है। जहाँ कुछ थोडीसी चूक है वह चूक जिस दशामे है उसको सुधार लें। अद्वैत ही तो है उपा-सनीय चीज। जब हम अपने शुद्ध स्वभावकी उपासनामे रहते है तो मेरे लिए अन्य कुछ नही है, वही एक मात्र अद्वैत है। यह तो अनुभव भी बताता है। एक बात लो, बाहरकी ही सही, मगर उससे अन्दाजा निकाल लोगे। मान लो, आप हलुवा खा रहे हो पूर्ण आनन्दसे, तो फिर उस समय आपके कोई दूसरा विकल्प कहाँ है ? और विकल्प हो तो फिर उसकी सही उपासना कहाँ रही ? ये मोटी-मोटी बातें हैं। जब हम अपने आत्मीय ज्ञानस्वरूपकी ओर दृष्टि देते हैं, हमारे लिए स्वरूप अद्वैत है, निश्चयका स्वरूप अखण्ड है। ६ तत्त्व तो व्यवहार से बताये गए हैं, व्यवहार किया जाता है तत्त्वके समझनेके लिए। तो अखण्ड जो चैतन्यस्वरूप है वह अनुभवमे आये, ऐसी जो स्थिति है उस स्थितिमे द्वैत कहाँ रखा है ? तो ऐसे इस

अभिन्न निज ध्रुव चैतन्यस्वभावकी हम दृष्टि करे तो हमको शान्ति मिलेगी, सकट दूर होगा। हमारा शरण हमको मिल जायगा। शरण ढूढ रहे है जगतमे चारो ओर, मगर उससे चारो ओर चित्तपट्ट हो गिरते-पडते चले जा रहे है। मेरा शरण मेरेमे है, उसकी याद नही की, इसलिए बाहरमे शरण ढूँढते है, और हमारी गति हो रही है फुटबालकी तरह। हम जिसकी शरणमे जाते है वहाँसे ठोकर ही लगती है। जैसे फुटबालका और होता ही क्या है ? जिस बाल अर्थात् गेंदमे फुट अर्थात् पैर पडे वही तो फुटबाल है। तो उस फुटबालकी ही तरह हम जहाँ जाते है वहाँसे ही धोखेकी ठोकर मिलती है, सर्वत्र आशापर पानी फिर जाता है। और पानी तो फिर ही जायगा, क्योकि अन्य वस्तुसे मेरेमें कुछ आता नही है। यो हम फुटबाल की तरह यत्र तत्र चक्कर लगा रहे है। जब जान जायेंगे कि मेरा शरण यह स्वय सहजस्वरूप है, वहाँ ही दृष्टि लगाये तो फिर मेरे ये सब दुःख दूर हो जायेंगे। कितना काम है करने के लिए ? बाहरमे सर्व ओरसे दृष्टि हटाकर अपने आपमे जो सहज सामान्य स्वरूप दर्शनज्ञान सामान्यात्मक आत्मतत्त्व है वह दृष्टिमे रहे। कैसे रहे ? एक ही उपाय कर लो। ऐसा दिल बना लो कि मुझे कुछ भी बाहरकी बात नही सोचना है। एक ही काम कर लो—असहयोग अर्थात् मुझे किसी भी बाह्य वस्तुमे सहयोग नही है। कुछ भी बाहरकी बात न आये तो अपने भीतरका वह ज्ञानप्रकाश आपके अनुभवमे आ जायगा। थोडा-थोडा उद्यम करते हुए चले तो हमारा वह परमशरणभूत परमात्मतत्त्व मिल ही जायगा।

मिथ्यादृष्टिकी विविध स्वाङ्गोमे आत्मीयताकी कल्पना—प्रत्येक जीव अपने आपको कुछ न कुछ मानता रहता है। यह अनादिसे रीति चली आयी है, और अपनेको उस प्रकार मानते समय वे अपनेको उस एकरूप ही समझते है। लोग अनेक प्रकारकी अवस्थाओमे अपनी मान्यता करते है। इसलिए भिन्न-भिन्नरूप दृष्टि रहती है। यही जीव मनुष्य हुआ तो अपनेको मानता है कि मै मनुष्य हू, पर यह मै जीव मनुष्य हू क्या ? मै जीव हू, यह देह है, इस प्रकार देह और जीव दोनोका जहाँ मिलाप हो रहा है, एक जगह रह रहे हैं, ऐसी पर्याय का नाम है मनुष्यपर्याय। तो मै मनुष्य नही हू, मैं हू एक चकचकायमान ज्ञानज्योतिस्वरूप परमार्थसत्। दुनियामे सबसे आला, यह मै एक परम पदार्थ हू। मै मनुष्य नही हू। इस बातको प्राय. लौकिक जन कैसे मान सकेंगे कि मै मनुष्य नही हू ? वे अपनेको मनुष्य मानते, अपनेको दादा, दादी, बुआ आदिक सभी कुछ मानते है। अरे मनुष्य ही नही है तो दादा, दादी, बुआ आदिक कहाँसे आयेंगे ? तो भूल है इनकी, भूलमे यह कि वे अपनेको पर्यायरूप मानते हैं, द्रव्यपर्यायरूप अपनेको मानते है और अशुद्ध गुण पर्यायोरूप अपनेको मानते है। मै इतना जानकार हू, ऐसी स्थितिका हू आदिक ये तो अपूर्ण पर्याय है, ये तो विकृत पर्याय हैं। पर उसीमे अहकार है कि मै तो खूब जानता हू। अरे खूब जानने वाले लोगो, अभी तुम्हे

बच्चोमे भी कुछ पाठ सीखना पडेगा। उनको भी अपना गुरु मानना पडेगा, लेकिन जो ज्ञान मिला उसकी पर्यायमे आपा माना, मै इतना जानकार हू, यह तो पर्यायबुद्धि हुई। और जहाँ पर्यायबुद्धि हुई वहाँ सम्यक्त्व कहाँ जग सकेगा ? तो मैं जानकार हू, मैं यह जानने वाला हू, इस तरह इन जाननेकी पर्यायोमे ही जिसने अहपना लगाया है, जब यही सम्यक्त्व नही है तो नाना तरहके भाव, जो भाव अपनेमे लगाया करते है, मै क्रोधी हू, मै अमुक पोजीशनका हू, मै गृहस्थ हू, यहाँ तक कि कोई यह सोचता हो कि मै साधु हू तो वह सब पर्यायबुद्धि है। वे सब मिथ्यात्वके सपने है। साधु मुद्रा पाकर भी यदि एक यह आस्था है कि मैं साधु हू, और किसी समय कोई वैरी सताये उस समय इतनी समता रखे कि मैने साधुपद लिया है, मुझे द्वेष न करना चाहिए, समतासे रहना चाहिए, क्योकि मैने साधुपद अगीकार किया है, तो यह आस्था मिथ्यात्व है। सुननेमे ऐसा लगता होगा कि यह तो उसकी बडी भली बात है, लेकिन उस साधुकी यह बात मिथ्यात्व गर्भित है। वह भूल गया कि मै तो एक अविकार चित्स्वरूप हू, इस ओर उसकी सुध नही। यहाँ साधुपनेके उचित व्यवहार कर रहा है, मगर आत्मोचित व्यवहार वह नही कर रहा है। व्यवहारमे जो साधु है उसका उचित व्यवहार कर रहा है। निर्दोष विधिसे खाना, ईर्या समितिसे चलना, कोई विरोधी भी आये तो द्वेष न करना आदि उसके ये सब व्यवहार अच्छे है, मगर मै साधु हू, इस नातेसे किए जा रहे है, और लक्ष्य नही है कि मै अखण्ड एक चित्प्रकाश मात्र हू। तो यह एक उसका साधुपनेका तो व्यवहार है, पर आत्मोचित व्यवहार नही है। जहाँ मिथ्यात्वकी इतनी गहरी जड है तब समझिये कि हम जहा रह रहे है वहाँ कितना गलत बढे हुए है ? हमे उन सबसे हटना है।

समीचीनतामे आनेके लिये कुछ प्रारम्भिक स्थूल कर्तव्य—भैया ! पहिली बात यह है कि इन बातोसे हटनेके लिए पहिले कुछ उचित व्यवहार भी तो होना चाहिए, उचित कुछ व्रत, सयम होना चाहिए। रात्रिभोजन न करना, छना हुआ जल पीना, देवदर्शन करना, गोभी जैसे अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन न करना जिनमे कि साक्षात् माँसके रूप हैं। ऐसे कुछ नियम तो होना ही चाहिए। उसके लिये यह मत ढूढें कि पहिले मैं आत्मा बहुत ऊँचा ज्ञान प्राप्त करूँ, भीतरमे ज्ञानप्रकाश कर लू, तब इस नियममे चलूगा। अरे इस नियममे तो ज्ञानप्रकाश मिला हो तो क्या, न मिला हो तो क्या ? इसे तो करना ही चाहिए। इससे लाभ ही मिलेगा त्याग का, मद कषाय आदिका, और इस तरहका जब हमारा व्यवहार होगा तो हम इस निज गली मे केन्द्रित हो जायेंगे कि हम ज्ञानप्रकाशके योग्य बन जायेंगे, तो अपना व्यवहार ऐसा बनायें। दूसरी बात यह कि अपना भीतरी लालचमय व्यवहार न बनायें। यह लालचमय व्यवहार इस जीवको भीतर ही भीतर कदर्थित कर देता है। अपना-अपना लालच सब कोई समझ सकते है। कदाचित् गृहस्थीमे रहकर कुछ लालच करना भी पडता है, पर उसमे आग्रहबुद्धि

तो न हो। उसमे ऐसी वृत्ति जगना कि यह ही मेरे लिए सर्वस्व है। मै अगर १० लाखका धनी नही हू तो फिर मेरा जीवन क्या ? अरे तेरा जीवन तो ठीक है, पञ्चेन्द्रियाँ प्राप्त हुई है, श्रेष्ठ मन भी मिला हुआ है, बुद्धि है। जैनशासनके रत्नोंकी परीक्षा करनेकी तर्कणा शक्ति मिली है, यह तेरा वैभव कुछ कम है क्या ? इस अपने वैभवको तू भूला हुआ है। उस अपने वैभवकी सम्हाल कर और अपने आपको सही रूपमे निरख। मै एक शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हू, इस तरह अपनेको निरखेगा तो वहाँ शान्ति प्राप्त होगी, और जहाँ नाना पर्यायो रूपमे अपने आपको देखेगा, फसायेगा, वहाँ आकुलता है।

भावानुसार जीवकी स्वसृष्टि—एक प्रश्न कल चौथे प्रहर भाई सोमप्रकाश जी ने किया था। क्या ? जैसे कि अनेक लोगोकी ऐसी धारणा भी बनी है कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बने, कुत्ता मरकर कुत्ता ही बने, कीडा मरकर कीडा ही बने। ऐसा क्यो होता कि मनुष्य या अन्य कोई जीव मरकर अन्य कुछ बन जाता है ? यह प्रश्न एक उनके समझने के लिए था। उनका यह कहना था कि देखो गेहूँसे गेहूँ ही पैदा होता, चने से चना अथवा धानसे धान आदि, तब फिर मनुष्यसे मनुष्य, कुत्तासे कुत्ता और कीडासे कीडा ही क्यो नही बनेगा ? तो इसके समाधानमे इतना विचारने की बात है कि जो बीजका दृष्टान्त दिया कि गेहूँ के बीजसे गेहूँ बनता है ऐसे ही यह ले लो कि कुत्तेके बीजसे कुत्तेका देह बन गया, मनुष्य के बीजसे मनुष्यका देह बन गया। बीजकी ही तो बात है। पर जीवकी बात तो नही है। अगर यह कहा जाय कि कुत्तेके बीजसे मनुष्य बन जाय तब तो इसमे विरोध लानेकी जरूरत है, पर कुत्तेके बीजसे कुत्तेका ही देह बनता। जीव है इस देहसे न्यारी चीज। यह जीव अगर कुत्ते जैसा भाव बनाता है और यहाँ उसने कर्मबन्ध भी कर लिया तो यह जीव कुत्तेके देहमे जाकर फसेगा। तो बीजसे बीजके अनुकूल बात होती है यह बात तो ठीक है—गेहूँसे गेहूँ। तो कुत्तेसे कुत्तेका शरीर बन गया, मनुष्यसे मनुष्यका शरीर बन गया, पर इससे जीवका क्या मतलब ? जीव तो देहसे निराली चीज है। यह जीव निकलकर अपने भावोके अनुकूल किसी दूसरे देहमे फसेगा। जीव तो न्यारी चीज है। कुत्तेसे जीव पैदा नही होता या मनुष्य किसी जीवको पैदा नही करता। हाँ देहके उत्पन्न होनेमे यह देही निमित्त हो जाता है। यह जीव कभी इस देहमे फसता कभी उस देहमे। यो देहोमे फसता जाता है, इसमे कोई आपत्ति नही है। और फिर यह जीव कैसी देहोमे फसता है, यह भी उसके भावोके अनुकूल बात है। यह जीव ही ईश्वर है। इसमे इतनी अद्भुत कला है कि यह अगर अपने ऊपर प्रसन्न हो जाय तो प्रसन्नताकी सृष्टि बहुत अच्छी कर लेगा और यदि यह ही ईश्वर बिगड जाय तो वहा भी अपनी अद्भुत कला दिखायेगा। यह जीव अगर वृक्षके देहमे पहुचा तो कैसा पत्ते पत्तेमे फैल गया ? फूलोमे कितने महीन पराग होते है ? बालसे भी पतले होते हैं और ऊपर-

की घुडीमे जहा पराग होता है वहाँ तो अत्यन्त पतली तन्तुये होती है। उन समस्त तन्तुओमे इस जीवके आत्मप्रदेश फैल जाते है। जिस तरहके आकारमे इन पुष्पोका ढाँचा बनता है और उसके सर्व प्रदेशोमे जीवके आत्मप्रदेश फैलते हैं वैसी अद्‌भुत कला यहाँका कोई कारीगर दिखा सकता है क्या ? तो यह सब क्या है ? यह सब उसी बिगडे हुए ईश्वरकी लीला है। जब यह जीव बिगड जाता है, विकृत हो जाता है तब उसमे ऐसी अद्‌भुत लीला होती है कि वह सारे जगतमे एक हल्ला सा मचा देता है। कैसा मनुष्य बना, पशु, पक्षी, कीट, पतगा आदि बना, कैसी-कैसी स्थितिया हुईं, कैसे-कैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिके भाव बने, यो विचित्र लीलायें यह जीव अपनी कर लेता है। बडे-बडे समझदार लोग भी ऐसा कह बैठते है कि यह सब लीला सर्वशक्तिमान ईश्वर दिखा रहा है, उन्हे यह नही मालूम कि जीव खुद ही खुदका ईश्वर है। तो यह जीव अपने आपमे प्रसन्न हो जाय तो भी अपना अद्‌भुतपना दिखाता है और बिगड जाय तो भी अपना अद्‌भुतपना दिखाता है। इस जीवके प्रसन्न होने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द आदि गुण प्रकट होते हैं, यही वास्तविक वैभव है, जीवकी यही स्थिति प्रशसाके योग्य है, और जीव जब अपना बिगाड कर लेता है, ससारी बन जाता है, नारकी, कीट, पतिगा आदि बन जाता है, तो यह कोई उसकी प्रशसाके लायक स्थिति नही है। प्रशसाके योग्य स्थिति है अरहत और सिद्ध की।

बिगड़े ईश्वरकी करामातें—कविकी कल्पनाके अनुसार मानो सिद्ध भगवान यह कह उठें कि हम लीला दिखानेमे ससारियोसे ऊँचे है तो क्या उनसे होड लगानेके लिये ससारी उठ खडा नही हो सकता है ? अरे जिस प्रकारकी अद्‌भुत लीला सिद्धमे दिखती है वैसी ही अद्‌भुत लीला तो ससारी जीवकी दिखती है। लीलाओकी अद्‌भुततामे तो कुछ यह भेद नही रहेगा कि सिद्ध ज्यादा कलावान है और ससारी जीव कम कलावान है। हाँ किसी मामलेमे सिद्ध बडे हैं तो किसीमे ससारी बढ गये है। परन्तु फर्क यहाँ आ जाता है कि शान्ति, आनद, विश्राम, प्योरिटी, सहज बात, अपने आप क्या है ? जब इसका पाठ लेते है तो वहाँ ससारी जीव तुच्छ नजर आते है और वे सिद्ध प्रभु उत्कृष्ट नजर आते हैं। तो ऐसी उत्कृष्टता उपादेय है और संसारियो जैसी उत्कृष्टता उपादेय नही है। अगर ज्ञानके सुधारमे सिद्ध भगवान इतना उत्कृष्ट बन गए कि वे तीनो लोकके ज्ञाता हो गए, उनका ज्ञान निरावरण हो गया तो ज्ञानके बिगाडमे ससारी जीव इतना उत्कृष्ट बन जाते हैं कि वहाँ कोई निरावरण ज्ञान ही रह जाता है। सिद्ध भगवान इतना उत्कृष्ट हो गए कि उनका निरावरण ज्ञान सर्वज्ञताके रूपमे हो जाता है और बिगडे ईश्वरकी उत्कृष्टता इतनी बडी हो जाती है कि उनका नित्योद्‌घाट निरावरण ज्ञान रह जाता है। निगोद जीवोमे बताया है कि उनके अक्षरका अनन्तवाँ भाग ज्ञान है, जिसपर कोई आवरण नही आ सकता। भगवानने जितना ज्ञान प्रकट किया, उसपर

आवरण तीन कालमे नही आ सकता । तो तुच्छ निगोद जीवके भी इतना ज्ञान है कि उसपर कभी आवरण नही आ सकता । यद्यपि अभी दो-दो हाथ चल रहे है ससारी और सिद्ध भगवानके, पर सारा अन्तर एक हितकी समस्यामे आ गया । हितरूप क्या है ? शान्ति कहाँ है ? आकुलता कहाँ नही है ? जब इस दृष्टिको लेते है तो वहा बहुत अन्तर आ जाता है । "मम-स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञाननिधान । किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।" प्रभुकी स्थिति कितनी विलक्षण है ? किन्तु यहाँ याने ससारीके पराधीनता है । "मैं वह हू जो है भगवान, जो मैं हू वह है भगवान । अतर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।" यह ऊपरी अन्तर है, मायने पर्यायमे व्यवहारका अतर है । मगर इस ऊपरी अन्तरमे, इस व्यवहारके अतरने जगतके जीवोका मटियामेट कर दिया है, वह बडा गजब ढाया हुआ समझिये । ये सब परिस्थितियाँ क्यो बनी ? ये अकल्याणकी स्थितियाँ बनी है अपने सहज एकस्वरूपको दृष्टिमे न लेनेसे । मै एक वह क्या हू ? इसकी सुध नही है तो अनगिनते उपद्रव उपसर्ग इसपर छा रहे है ।

बात थी कितनीसी जड़मे हो गया कितना बतंगड़—बात इतनीसी थी कि मैं अपनेको सहज ज्ञानस्वरूप न देख सका । हमने परको 'यह मैं हू' इतना माना । हे भगवन ! हमने कोई ज्यादा गल्ती तो नही की । बस जरासी गल्ती की है, किसी परतत्त्वको 'यह मैं हू' इतना मान लेने भर की इतनी भर गल्ती कर देनेपर इतना बडा दण्ड हमको मिल गया कि कही नरक निगोदकी जैसी याननायें सहनी पड रही है, कही पशु-पक्षी कीडा-मकोडा आदि गतियोंके असह्य दुःख सहने पड रहे, कही मरूँ, कही आकुलित होऊँ, कही दु खी होऊँ, तो हे नाथ ! ये सब विडम्बनायें मेरे साथ क्यो लग गईं ? तो सोचते-सोचते यह बात निकली कि हे जीव ! देखनेमे तो तूने छोटी-सी गल्ती की है, पर वह बहुत बडी गल्ती है । जैसे कभी दो आदमियोमे आपसमे लडाई हो जाय तो उस मामलेमे न्यायाधीश यही जानना चाहता है कि इस लडाईमे मूल अपराध किसका है ? पहिले एकने दूसरेको गाली दी, उसने तमाचा मारा, फिर उसने लाठी मारी, दूसरेने छुरा भोक दिया, बडा खून-खच्चर मच गया । दोनोकी फरियाद पहुची तो न्यायाधीश वहाँ यही जानना चाहता है कि मूलमे अपराध किसका है ? जब पता लग गया कि पहिले इसने गाली दी थी तो झट निर्णय दे देता है कि अपराधी तू है । अरे जो बीचमे अनेक और बातें दोनोके द्वारा हो गईं उनकी ओर कुछ ध्यान न रखा । तो देखिये—बात जरासी थी, केवल गाली दे दी थी, मगर बतगड कितना बढ गया कि लहू-लुहान हो गया । तो ऐसे ही यहाँ देखिये कि इस जीवने गल्ती तो जरासी की—क्या ? कि परको मान लिया कि यह मैं हू, बस इतनीसी गल्तीके कारण कितना बतंगड़ बढ गया कि अनेक पर्यायोंकी भटकना चल उठी । देखिये—आप लोगोका आज कुछ पुण्यका उदय है, जिससे वि

कषायोमे मस्त होकर परको अपना रहे हो, तब इतनीसी बातको आप लोग कुछ अपनी गल्ती नही मान रहे। हाँ कोई चीज चुरानेमे, परस्त्रीप्रसग आदिके कार्यमे या किसीकी जान लेनेके कार्यमे गल्ती मान रहे। देहको मान लिया कि यह मैं हू, अपने वर्तमान विभावोको मान लिया कि यह मै हू, आदिक जो मूलमे अपराध है उनको तो अपराध ही नही मानते। तो जैसे बुन्देलखण्डमे कहते है गर्राना, इतराना अथवा गर्वाना आदि तो भले ही आज पुण्यके उदय मिले है, सम्पदा मिली है, अच्छा ठाठ है, अच्छी दुकान है, लोगोमे इज्जत है, पोजीशन है, सब बातें ठीक है, लेकिन यहा जो परको 'यह मैं हू' ऐसा माना जा रहा है, इसका तत्काल फल चाहे आज देखनेको न मिले, मगर इस मिथ्यात्व मान्यताका फल भविष्यमे अवश्य भोगना पडेगा। तो यहा मूल अपराध मत करो। 'निजको निज परको पर जान'' ऐसे सजग रहो।

ज्ञानकी सम्हाल बिना होने वाली दुर्दशाका सकेत—यदि तत्त्वज्ञानकी सावधानी न रहे तो भविष्य क्या होगा, इसके लिए अधिक क्या बतायें? आखोसे ही देख लो। यहापर दिखने वाले जो जीव है पशु-पक्षी, कोट-पतिगा आदिक, घोडा-खच्चर, बैल-भैंसा, सूकर, मुर्गा-मुर्गी, भेड-बकरी-बकरा आदिक अथवा मनुष्योमे दीन-हीन दरिद्र, लगडे-लूले अपाहिज आदिक मनुष्य, इन सबकी दशा देख लो। ये सब दशायें इस जीवकी इस मिथ्याधारणाके कारण ही तो हुई हैं। जैसे लोग कहा करते हैं कि खूब पाप करते जावो, पर किसी न किसी दिन तो इस पापका घडा फूटेगा ही। इसी तरह यह सुहावना मिथ्यात्व जो आज बडा अच्छा लग रहा है, जैसे अपने बडे सुन्दर हालमे पैरपर पैर धरे बडे मौजसे पडे हैं, लोग पासमे बैठे हैं, पर खुद बेढगे ढगसे कुछ इतराते हुएसे पडे है, बडा मौज मान रहे है, तो ठीक है, इस मौज माननेका फैसला अभी जल्दी ही होने वाला है। यह पापका घडा किसी न किसी दिन तो फूटेगा ही। यह है महापापका घडा। पाच पाप है पाप, पापका फल है मिथ्यात्व। तो पाप का फल तो अत्यत बुरा हो गया। तो हर जगह भरत जैसे विरक्त रहनेका भाव होना चाहिए। यहा है कुछ नही। सब पुण्यका ठाठ है, मेरा कही कुछ नही है। मेरा तो मात्र यह मैं चित्-प्रकाश ज्ञानस्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हू। इस तरह मिथ्यात्वसे हटकर अपने आपकी ओर आने के लिए जिन्दगी मानें। मैंने जीवन इसीलिए पाया। लडके बच्चोकी चिन्ता करनेसे लाभ क्या? अरे उनका भाग्य उनके साथ है। सच पूछो तो आपको उनकी नौकरी करनी पड रही है। अरे जो स्वय भाग्यशाली है उनकी चिन्ता करनेसे लाभ क्या? जिस बातकी चिन्ता रखनेकी जरूरत थी उसकी ओर तो कोई ध्यान ही नही दिया जा रहा है। अपने को नाना-रूपोमे, पर्यायोरूपमे मत देखें। अपने आपको अनादि अनन्त चकचकायमान एक ज्ञानज्योति स्वरूप विशुद्ध रूपमे देखें। इस मुझ आत्मस्वरूपका किसीसे क्या नाता? इसको तो कोई पहिचानता भी नहीं है। इस मुझ आत्मस्वरूपपर तो कोई भार ही नही है। मैं तो ज्ञानघन

हू, इसलिए मुझे कुछ करना नही । मै सहज आनन्दस्वरूप हू इसलिए मेरेमे कोई असन्तोप नही । ऐसे ही अपने स्वरूपमे रत होने का यत्न हो तो यह दुर्लभ मानव जीवन सफल हो ।

कोई मनुष्य जब इस लोकमे घरमे अकेला रह जाता है, उसके स्त्रीवियोग हुआ, पुत्र वियोग हुआ, कोई परिजनका वियोग हुआ तो वह अपनेमे बडा विषाद करता है कि हाय ! मैं अकेला हो गया हू, मेरा कोई यहाँ साथी नही है लेकिन तत्त्वसे विचारें तो इसको हाय दुकेले पर करनी चाहिए कि हाय मै दुकेला बन गया हू । अकेला रहता तो बहुत आनन्दमे रहता । पर अकेलेपनमे तो यह हाय करता है और भिडतमे यह खुश होता है, लेकिन वास्तविकतामे यह है कि सारे क्लेश भिडतमे है, दुकेलेपनमे है, समागममे है और जितना यह अपनेको अकेला अनुभव करेगा उतना ही यह शान्तदशामे आयगा । ज्ञानकी बात है । भाई आप अपनेको अकेलेपनमे अनुभव करें और किसी दूसरेपर दृष्टि ही न डालें, मैं अकेला हू, एक हू, केवल अपने स्वरूपमात्र हू । जो वस्तु हो उसमे ये दो बातें अवश्य होती है कि परसे विभक्त और अपनेमे समस्त । स्वय अपने आपके समूहमे पूरा रहना और बाकी सब परपदार्थोंसे निराला रहना यह हर एक वस्तुमे पाया जाता है । यदि यह ठीक है तो यह ठीक तब ही तो है जब कि—चौकी अपने आपमे पूरी है और बाकी जो अन्य चीजें है उनसे अत्यन्त निराली है । यदि इन दो बातोमे से कोई बात कमजोर कर दी जाय । कोई कहे कि चौकी अपनेमे पूरी नही है, अपने स्वरूपसे नही है तो चौकी ही क्या रही ? कोई कहे कि चौकी अन्यरूपसे भी है । यह दरी है, चटाई है, यही सब कुछ है तो बाकी क्या रही ? कुछ भी चीज हो वह तब ही अपना अस्तित्व रखती है जब कि अपनेमे तो वह हो और परमे परसे न हो । तो ऐसी ही अपने आत्माकी बात है । यह अपने आपके स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नही है । तो कल्पनायें कितनी ही करते जावो—मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा अमुक, पर कल्पनाये करनेसे कोई पर इसका हो सकता है क्या ? यह तो अपने आपमे अकेला ही है । फर्क यह आया कि अकेला मान ले तो आनन्द हो जायगा और दुकेला तिकेला पचकेला मान ले तो दुःखी हो जायगा । कभी दुकेला तिकेला आदि हो नही सकता, कोई किसीका कभी हो सकता नही, पर कल्पनामे मानकर दु.खी होते है । यह तो समस्या है सामने । जो इस बातको मान लेते है वे ज्ञानी है, नही मानते है तो वे हैरान होते है । जो इस बातको नही मानते वे बिगाड किसका करते हैं ? दूसरेका नही करते है । सब अपनेका ही बिगाड करते है । तो अपनेको एकत्वकी दृष्टिसे परखना चाहिए, उससी अपनी एकता विदित होगी, अखडता विदित होगी । देश भी कहते है कि एकता रखो, अपनी अखण्डता रखो । तो यह भी आत्मा एक देश है । इसकी एक आवाज सुनो ! एकता रखो, अखण्डता रखो । एकत्वके अनुभवमें शुद्ध आनन्द मिलेगा और अपनेको अनेक रूपमे निरखेगा तो आनन्दमें कमी आ जायगी । तब यहाँ तक

वात है प्रभाव भी कि अपने आपमें जब ये चर्चायें करने लगा कि इस आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, ये शक्तियाँ है, अनन्त गुणोका पिण्ड है। इस चर्चामे इस ज्ञानमे जो स्थिति बनाया एक उस स्थितिको देखो। और एक अभेद चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व जिसमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक कुछ भेद नही है। इन सर्व खण्डोंसे रहित अखण्ड चिन्मात्र जो कि एक निर्विकल्प स्थितिसे सम्पर्क रखता है एक उस अभेद तत्त्वपर दृष्टि रखें। दोनो दृष्टियोमे आप कहाँ समता, धीरता, शान्ति, निराकुलता पायेंगे। तो तब यहाँ अपने आपमे गुणभेद जैसी अनेकता भी अपनी शुद्ध अनुभूतिमे वाधक है। जो कि अपनी ही चर्चा है। अपनेमे ही अपनेको निरखनेकी बात है, फिर बाहरकी इन अनेक चीजोको कोई अपना ले तो वह कैसे सुखी हो सकता है? अपनेको एकत्वमे लावें। एकत्व भावना भावें। मैं एक हू, पर ऐसा अकेला नही कि किसी वातसे दुःखी हो गए, पुत्रने दुर्वचन बोल दिया या किसी मित्रका दुर्व्यवहार हो गया, स्त्री बीमार हो गई—तो झट कह उठे कि अरे कोई किसीका नही, सब अकेले है, अरे वह तो एक दु खकी आवाज है। उसने एकत्वको अभी नही परखा। वह तो एक झु झलाहटकी आवाज है। अपना एकत्व इस तरह देखे—सबसे निराला केवल अपने स्वरूपमात्र। इस एकत्वके निरखनेमे किसी पर द्वेषदृष्टि नही है, किसी पर विरोधदृष्टि नही है। जो यथार्थस्वरूप है आत्माका उसकी ही यहाँ परख हो रही है। अपने आपको एक चैतन्यस्वरूपमे देखेंगे तो वहाँ पायेंगे कि अपना एकत्व मुक्त हो जायगा। बधन जैसे होता है वैसा काम न करें तो मुक्ति मिल जायगी। यह तो जैसे शब्दोमें शब्द बोल कर जवाब दिया जाता है उस तरहका सब कोई दे ही सकते हैं। बन्धनसे विपरीत रहो तो मुक्ति है, मुक्तिसे विपरीत रहो तो बधन है। बधन दो मे हुआ करता है। एकमे क्या बधन? अनेकमे कितना सकट है? उसे अपने व्यवहारमे भी देख लीजिए। किसीके एक बालक है, बस वही है सब कुछ। धनी है, दो बालक है, तीन बालक हैं, तो चिंता हुई कि इसको इतना करना है, इसको अलग करना है। उनमे कोई अच्छा है, कोई बुरा है, यो अनेक तरहके विकल्प चलते है। तो जितना सग जिसके बढता जाता है वह उतना ही विकल्प और विपत्तियोमे पडता जाता है। मोहकी दृष्टिमे तो कोई अकेला रह जाय तो वह भी अपनेको ज्यादा आपत्तिमे पडा हुआ मानता है, लेकिन विवेक जिसके जगा हो वह छह खण्डकी विभूतिमे भी आपत्ति नही मानता और अकेला रहनेमे भी आपत्ति नही मानता। अपनेको अकेला देखो तो शान्ति मिलेगी, पर गुस्सा होकर अकेला मत देखो। मुक्तिकी दृष्टिसे, कल्याणकी दृष्टिसे अपने आपको अकेला देखो। मैं एक हू, ज्ञानानदस्वभावो हू, मेरेमे कोई अपूर्णता नही। मैं हू तो पूर्ण हू। मैं सहज ही आकुलताओसे दूर हू, मेरा काम ज्ञान है। ज्ञानका काम जानना है। जाननेमे क्या आपत्ति? आपत्ति तो तब है जब हम जाननेसे आगे बढते हैं, और ये आपत्तियां

हमे क्यो सता रही कि हमे सत्संग नही मिला है और ज्ञानचर्चाका प्रसग नही मिला है। कुछ थोडा करना है तो उस बहुत काल तक होने वाले असत्सगके सामने यह थोडा सत्सग अपनी कब तक करामात दिखा सकेगा ? और जो अधिक मोह प्रसग होता है, अनेक जो परवस्तुविषयक घटना आदिकके व्यवहार चलते है, उनमे ज्ञान लगता है, उनके आगे यह थोडे समयका ऊपरी स्वाध्याय कब तक अपना रग दिखायेगा ? यही कारण है कि हम जिदगीभर चिल्लायेंगे कि हमे धर्म करना है, मगर एक सेकेण्ड भी धर्म न कर पायेंगे। अगर सच्चाईके साथ बालक की तरह सरलताको लिए हुए धर्मकी साधनामें लगेंगे, यह सोचकर कि मैंने सत्य निर्णय कर लिया है कि जगतके किसी भी अणुमात्रसे मेरा उत्थान नही होनेका। कुछसे कुछ स्थिति हो जाय। जब हम ज्ञानके मडलसे दूर हो जाते है तो अनेक सकल्प-विकल्प व्यर्थ ही सताते है। जिदगीका तो कुछ भरोसा नही है और हजारो वर्षोके सकल्प-विकल्प बनाये रहते है। यह सब मोहका प्रताप है। वर्तमानकी सम्हाल न होनेसे यह मोह इतना सताता है कि यह जीव हर समय दुःखी रहता है। अपनी एकताको सम्हालें तो ये सब क्लेश दूर हो जायेंगे। मै अकेला हूँ। देखिये जो जैसा कार्य करता है—खोटा कार्य करे, अच्छा कार्य करे, जिस ढगसे रहे उसका फल भोगना पडता है। इसकी बहुतसी घटनाये इसका समर्थन कर रही हैं और आगम इसका समर्थन करता है। भले ही कुछ पुण्यका उदय हो और लोग न पहिचान सके अथवा लोग कोई बिगाड न कर सके और कुछ भी अन्याय करते रहे, पाप करते रहे तो कुछ समयके लिए भले ही मौज मिला है, लेकिन जैसा जो करता है उसका फल उसे भोगना पडेगा जरूर या उस भोगनेसे पहिले विशिष्ट ज्ञानबल आ जाय तो उससे छुटकारा पा भी सकेंगे, लेकिन जो पुरुष विचारोके आधारपर कि बधने दो कर्म, हम अपना ऐसा ज्ञानबल बना लेंगे कि वे कर्म फल न दे पायेंगे, पहिले ही झडा देंगे। तो जिसके वर्तमानमे शिथिलता है वह पुरुष भी विकट कर्मबन्धनोको बाँध लेता है, जिसका उदय आनेपर इसे होश ही न रहे। इसे न्यायपथसे विचलित न होना चाहिए। बिल्कुल निश्चित बात है कि जो न्यायनीतिसे, सच्चाईसे, सरलता से विचलित होता है उसे चाहे थोडी देरको मौज मिल जाय, मगर बहुत कटुक फल भोगना पडेगा, और जो अपनी सच्चाईपर अडिग है या न्यायनीतिपर चल रहे हैं, ऐसे पुरुष वर्तमान मे चाहे उसका अच्छा फल न पा सकें, गरीबी आ जाय, लोगोमे इज्जत न रहे, कुछ भी परिस्थितियाँ आ जायें, लेकिन न्यायनीतिपर अडिग रहने वाले लोग भविष्यमे उत्तम फल पाते है।

एक गुरुके दो शिष्य थे। उन शिष्योकी परीक्षाके लिए गुरुने मानो दो जीव (पशु) दे दिए और कहा कि इनका वध किसी ऐसी जगहमे जाकर करो जहाँ कोई देखने वाला न हो। तो एक शिष्य बेहूदा था। उसने तो यह सोचा कि यहाँ कोई देखने वाला नही है, इसलिए

वही वध कर दिया । दूसरा शिष्य जिस जगह भी जावे वही रुक जाय । गुरुके पास वापिस आकर बोला कि महाराज ! मुझे कोई ऐसा एकान्त नही मिला जहाँपर कोई न मिले, इसलिए मै इस पशुका वध नही कर सका । गुरुने कहा—बेटे यह क्या कह रहे हो ? अरे बहुत से निर्जन स्थान है जहाँपर कोई नही होता, तो शिष्य बोला—महाराज चाहे यहाँका कोई न देखता हो, पर प्रभु तो देखते है । अपने द्वारा किया गया अपना पाप अपनेको तो विदित है, और उस पापका जो परिचय मिला है उसमे यह स्वय निरन्तर शल्य बनाये रहता है । तब फिर कौनसा काल है, कौनसा स्थान है जहाँ पाप किया जाना चाहिए ? प्रभु देखते हैं, हम खुद देखते है । जो पापोसे दूर हुए उनका ही उद्धार हुआ । पाप सब जानते है । ५ पाप प्रसिद्ध बताये है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह और इन सबकी जड है मिथ्यात्व महापाप । मैं एक चैतन्यस्वरूप हू, मेरा किसीसे सम्बध नही । ऐसे स्वरूपको न जानकर मेरा यह भी है, मेरा यह भी है, हम हरे-भरे हो रहे हैं । किसी बुड्ढेसे आप कभी बात करें तो कहो कि भाई तुम्हे कोई शल्य तो नही है ? तुम आनन्दसे हो ना ? तो वह बुड्ढा कहता है कि हमको अब कोई शल्य नही रही । ४-५ लडके है, कई नाती पोते है, सब प्रकारके साधन ठीक हैं, सबके बीच हम सुखसे रहते है, हमे कोई शल्य नही है, हम तो खूब हरे-भरे हैं । हाँ ठीक ही कह रहा है वह बुड्ढा, हरा-भरा तो हो ही रहा है अर्थात् जन्मपर जन्म प्राप्त करनेके अकुर तो उपज ही रहे है । जन्मके अकुर उपजाये जायें वह तो हरा-भरा होना कहलाता है । उस बुड्ढेका ससारबीज इतना पुष्ट हो रहा है कि उसे खूब जन्म मरणके चक्रमे भ्रमानेके लिए हरा-भरा बनाये रखेगा । वह न मिटेगा, सो इससे वह बुड्ढा खुश है । एक जगह बताया है कि किसी राजाने मुनि महाराजसे पूछा कि महाराज मैं मरकर क्या बनूगा ? तो मुनिराजने कहा कि तुम अमुक दिन अमुक समयपर मरकर अमुक स्थानपर टट्टीके कीडे बनोगे । राजा सुनकर बडा हैरान हुआ, और अपने लडकोको बुलाकर कहा कि देखो बेटा हम मरकर अमुक स्थानपर टट्टीके कीडा बनेंगे । यह हमको इष्ट नही है, सो तुम वहाँ जाकर मार डालना । अब वह राजा तो मरकर विष्टाका कीडा बन गया और लडका उसे मारनेके लिए पहुचा तो ज्यो ही किसी लकडीसे उसे मारना चाहा त्यो ही वह उसी विष्टामे घुस गया । वह लडका गुरुके पास जाकर कहने लगा—महाराज मेरे पिताने कहा था कि हम मरकर विष्टाके कीडे बनेंगे, वहाँ जाकर मार डालना । और जब मैंने मारनेका यत्न किया तो वह उसी विष्टा मे घुस गया । तो मुनिराजने बताया कि देखो—जो जीव जिस भवमे पहुचता है वह वहाँ मरना नही चाहता । तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोकी आयु तो शुभ आयु माना है । हाँ नारकी जीव ऐसे हैं जो अपना मरण चाहते है । मनुष्य, तिर्यञ्च और देव आयुको शुभ इसलिए कहा कि वे मरना नही चाहते । यो तो ऊपरी-ऊपरी बहुतसे मनुष्य भी गुस्सेमे आकर यह कह

उठते है कि यदि मै मर जाता तो अच्छा होता, पर वे दिलसे मरना नही चाहते ।

किसी एक बुढियाको बच्चे लोग बहुत हैरान करते थे, सो वह प्रतिदिन यही कहा करती थी कि हे भगवान ! मुझे उठा ले । एक दिन उसके घरमे निकल आया साप, तो वह बुढिया चिल्ला उठी और घरके बच्चोका नाम लेकर पुकारने लगी कि अरे दौडो, बचाओ, सर्प निकल आया । तो उनमे से कोई बच्चा बोल उठा—अरी दादी, तू जो रोज-रोज कहा करती थी कि हे भगवान ! तू मुझे उठा ले, तो भगवानने तुझे उठानेके लिए आज दूत भेजा है, तेरी प्रार्थना भगवानने आज सुन ली है, तू घबडा मत '' । तो जो जिस आयुमे पहुचता है वह वहा मरना नही चाहता । मनुष्योकी ही भाति तिर्यञ्च भी मरना नही चाहते, इसलिए उसे भी शुभ आयु कहा है । लेकिन कोई भी जन्म हो, वस्तुत· सभी जन्म आत्माके लिए कलक है । स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो अननज्ञान, अनतदर्शन, अनतशक्ति और अनतआनन्दका स्वभाव रखता हुआ यह आत्मपदार्थ कितना पवित्र है, ज्ञानज्योतिस्वरूप है । जानना जिसका काम है, सर्व पदार्थोमे प्रसिद्ध है, प्रधान है । मेरा ऐसा यह परमात्मतत्त्व देहमे फंसा, मन, वचन, कायमे फसा पराधीन हो रहा है, जन्ममरण कर रहा है । यह सब इसके लिए कलक है । यह आत्मा है तो निष्कलक दशामे, जैसा इसका सहज स्वरूप है वैसा ही प्रकट हो जाय, बस यही इसकी शुद्ध दशा है, निष्कलक दशा है । तो इतने बडे कलङ्क और कीचडमे पडे हुए लोग अहकार करें, किसीसे अपनेको चतुर मानें तो यह सब क्या है ? ये सब उन्मत्त जैसी चेष्टायें है । तो जब तक जीव अपने उस शुद्ध एकत्वपर दृष्टि नही देता तब तक यह जीव ज्ञानी है, इसीको कहते है शुद्ध आत्मतत्त्व । देखिये—परमात्मप्रभुकी भक्ति करना अच्छी बात है और वह भलेके लिए कारण है, लेकिन है तो भिन्न ही पदार्थ । अरे उनका आश्रय क्या है ? अपनी विचारशक्ति बने, यही परमात्माका आश्रय है । तो यहा भी परमात्मासे हम एक नही बन सके । उनका भी हम आश्रय नही कर सकते । आश्रय कर रहे है हम अपने आपके स्वरूप का । अशुद्धका आश्रय करे तो अशुद्ध बनते जायेगे । शुद्ध आत्मतत्त्वका आश्रय करेंगे तो शुद्ध दशा प्रकट होगी । वह शुद्ध आत्मतत्त्व क्या है ? इस समय शुद्ध तो नही हू मै । तो कैसे इस समय मै शुद्ध आत्मतत्त्वका आश्रय करूँ ? भिन्न परमात्म प्रयोजनसे शुद्ध नही हू, लेकिन स्वरूपसे, द्रव्यसे, हैपनेकी निगाहसे जैसा कुछ सहज हू वैसा सहज स्वीकार करे, यही सहज शुद्ध आश्रय है ।

शुद्ध दूधके त्यागी अगर कहते है कि नहाकर दुहे, बछडेको व गायको नहलवा दे, वह है शुद्ध और उस दूधमे मिला देवे अठपहरा पानी, एक तो ऐसा दूध और एक ऐसा दूध कि इन्ही कपडोंसे दुहा है और न पानी पहिले मिलाया है न अब मिलाया है, एक तो वह दूध । दूध दोनो शुद्ध कहलायें । वह कहलायेगा किसी और निगाहसे शुद्ध दूध और

कहलायेगा दूध ही दूध है । दूधमे कुछ मिलावट नही है । दूधमे कुछ पानी नहीं है । तो ऐसे ही समझिये कि आत्मामे कुछ जुडा नही है । जो आत्मामे भिन्न तत्त्व है और आत्मामे से कुछ निकाला नही जो आत्माके स्वरूपमे है, ऐसा जोड तोड रहित आत्माका जो सहज स्वरूप है उस दृष्टिसे निरखनेका नाम है शुद्ध आत्माका आश्रय करना । जैसे एक्सरा यत्रमे इतनी कला है कि वह मनुष्यके शरीरकी चमडी, रोम, मांस, खून आदिक की फोटो न लेकर सीधा हड्डीका फोटो ले लेता है, ऐसे ही हमारे आपके उपयोगमे ऐसी कला है कि हम इस स्थितिमे भी देहका आभास न करके शरीरका विकल्पका, यत्र तत्र रहने वाले समागमका और गुणोका, पर्यायोका इनका आभास न करके केवल एक सहज शुद्ध आत्मद्रव्यको जानना चाहे तो जान सकते है । इसकी रश्मि इतनी प्रखर है कि जो लक्ष्य बनाया एकदम सीधा तुरन्त उसी लक्ष्यपर पहुच सकते है । हममे कमी है तो एक मन अथवा सयमसे रहनेकी कमी है । हम मनको सयत बनायें, उपयोगको सयत बनायें और इनका आश्रय हम उस सहज स्वरूपको बनायें जो सम्भावनाओ द्वारा युक्तियो द्वारा प्रसिद्ध है । मैं हू ना कोई एक वह जो है सो ही । मैं न कभी मिटूगा, न कभी बना हू । जिसमे अपने आप जो कुछ स्वरूप है सो ही है ऐसा अपना स्वरूप यदि हम लक्ष्यमे बनाना चाहे तो बना सकते है । तो अपने आपका अकेलापन अपनो दृष्टिमे आये, उसका लक्ष्य रहे तो हम सफल मोक्षमार्गके सैनिक रहेगे और एक असली यही चीज हमारे ज्ञानमे न रहे तो हम अनेक श्रम करके भी सत्य शान्तिके पात्र न बन सकेंगे ।

चार आदमी जाडेके दिनोंमे किसी दूसरे गाँव जा रहे थे । रास्तेमे रात्रि हो जानेसे एक जगलमे ही किसी पेडके नीचे ठहर गए । रात्रिको अपना जाडा मिटानेके लिए इधर उधरसे कुछ लकडियाँ ले आये, उसको जलाकर खूब तपाकर रात्रि व्यतीत कर दिया और सवेरा होनेपर चले गए । दूसरे दिन उस पेडपर बैठे हुए बन्दरोंने सोचा कि देखो अपनी ही तरहके हाथ पैर वाले तो वे थे, जिन्होंने रात्रिको यहाँपर अपनी ठड मिटायी थी, अपन लोग भी क्यो व्यर्थमे ठड सहे ? चलो वैसा ही करें । सो कुछ बन्दर इधर उधर जाकर खेतोसे बाडे (लकडियाँ) तोड लाये और कुछ उड़ती हुई पटबीजनायें पकडकर उनमे डाल दिया पर ठड तो न मिटी । एक बन्दर बोला—अरे अभी फूक तो मारी ही नही, ठड कैसे मिटे ? फूंक भी मारी पर ठड न मिटी । फिर एक बन्दर बोला—अरे अभी जिस ढगसे बैठ कर ताप रहे थे उस ढगसे बैठे भी नही । वैसे बैठ भी गए, पर ठंड न मिटी । अरे ढग कैसे मिटे ? उसमे जो लाल चीज पडी थी उसका उन बन्दरोको ज्ञान ही न था । वह लाल चीज थी आग । उस स्वरूपका निर्णय उनके न था । वे सब युक्तियाँ करके भी ठड न मेट सके । तो ऐसे ही जब तक हमे अपने आपके उस सहजस्वरूपका निर्णय न हो तब तक हम वास्तव

मे मुक्तिके मार्गमे कदम न रख पायेंगे। कर्म नही कट सकते। इसलिए चित्तको शान्त बनाकर, सयत बनाकर अपने अव्रतके व्यवहारोसे निवृत्त होकर ज्ञानार्जन द्वारा बडी कषायोको मन्द करते हुए बडी नम्रतासे इस आत्मविद्याभ्यासमे लगिये। मेरा परमात्मतत्त्व मेरेको दर्शन देगा तबसे समझिये कि मेरा बेडा पार है।

हम सबको अपने आप यह निर्णयमे लाना चाहिए कि हमको चाहिये केवल शान्ति। सत्य हो, अविनाशी हो, जिसमे किसी भी प्रकारकी पराधीनता नही होती, ऐसा शान्तिका उपाय यदि कोई मिलता है तो उसके सामने बाकी जितने भी सुखके साधन है वे सबके सब त्याग किये जा सके ऐसी चित्तमे साहसपूर्ण प्रगति होनी चाहिए। मुझे शान्ति चाहिए, वह जैसे मिले मै वैसे पाऊगा। मेरेको झूठी शान्ति अथवा मौज न चाहिए। झूठे मौजके पीछे बडे कष्ट उठाना पडा, सारा मौज झूठा रहा। पञ्चेन्द्रियके विषयोमे जो मौज पाया वे सब झूठे है। एक एक इन्द्रियके विषयपर चिन्तन करें तो वे सब विषय उन्मत्ततापूर्ण कहलाये। स्पर्शनइन्द्रियके विषयोमे मनुष्य, पशु-पक्षी और ये पेड-पौधे वगैरा ये भी स्पर्शन इन्द्रियके विषयोमे रहे। किसीकी दाह व्यक्त हुई, किसीकी नही। सभी जीव इस स्पर्शन-इन्द्रियके विषयोसे परेशान है। जिन्होंने इन विषयोको जीता वे ही पूज्य है और महान है, और ससारसे पार वे ही पुरुष हो सकते है। कितना मिथ्या विषय है। ठड सुहानी, गर्मी सुहानी आदि ये तो मामूली विषयोकी बाते है, किन्तु कामविकार सम्बन्धी विकार तो बहुत ही खोटा और अनर्थकारी विषय है। जिसका व्यक्तरूप मन प्राप्त होनेपर होता है और इसीलिए कवियोंने इसका नाम मनोज रखा है, मनसे उत्पन्न होने वाला विकार। जैसे भूख लगी है तो पेटमे कुछ बात तो है इसलिए भूख लगी है, अब भूखका कुछ प्रतिकार कर लेना चाहिए। किया जाता है। भूखका प्रतिकार करने वाले बडे-बडे साधु सत भी होते हैं, लेकिन यह कामविकार तो केवल मनसे सम्बन्ध रखता है। कोई शरीरकी वेदना हो गई, कोई फोडा फुसी हो गई, कोई बुखार आ गया, कोई हार्ट अटैक हो गया तो क्या हो गया शरीरमे ? कुछ भी तो नही हुआ। यदि तगडे है, दिल मजबूत है, बडा साहस बनाया है, यहाँ तक ऊधम मचाया जा रहा है तो व्यर्थकी वेदनाका प्रतिकार किया जा रहा है। सबसे पहिले कल्याणार्थी पुरुषोकी इस ओर दृष्टि हो कि अपना जीवन ब्रह्मचर्यमे व्यतीत हो। भले ही गृहस्थी है, घरमे रहना पडता है, पर वीर वह है जो घरमे पति-पत्नी, भाई-बहनकी तरह रह रहे है। वहाँ लाभ लूटा जा रहा है धर्मध्यानका, निर्विषयके आनदका। जरा इस ओर बढकर अपने आपको सुखी बनावें। शान्ति चाहिए तो जो वास्तविक शान्ति है, जो शान्तिका सही उपाय है उस उपायपर चलो। झूठे मार्गपर चलकर कोई शान्तिकी आशा करे तो कभी सिद्धि नही हो सकती, और स्पर्शनइन्द्रियके विषय भोगने वाले लोग जानते है कि विषय भोगनेके बाद

अपनेको कैसा दीनसा अनुभव करते है। कहाँ गई वह शरीरकी तेजी, कहाँ गया वह बल ? एक दीनसा हो जाते। इतना ही नही, पीछे पछतावा भी करते है। वे क्षण यदि किसी सत्सग मे व्यतीत कर लिए होते तो आज उनका मन, उनकी पवित्रता कितनी अच्छी बनी होती कि ऊँचेसे ऊँचे ज्ञानकी प्राप्तिके पात्र बन गए होते। अभी भी कुछ नही बिगडा, जो भी जीवन बचा है वह जीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक निभ जाय तो कल्याण है।

स्पर्शनइन्द्रियके विषयोमे विपत्ति देख लीजिए। भजनमे कहते है कि हाथी स्पर्शन-इन्द्रियके विषयके वश होकर झूठी हथिनीको सच्ची मानकर गड्ढेमे जाकर गिर जाता है। हाथी गड्ढेमे गिरे, पर मनुष्य कितने गड्ढोमे गिरता है और आगे कितना गिरता रहेगा, यह उससे भी बडी कहानी है। तो ये विषय इस जीवके लिए विडम्बना है, विपत्ति है। भले ही कुछ पुण्य पाया है, कुछ मौजके साधन मिले हैं, आजीविका अच्छी चल रही है, मकान अच्छा है। अब उस मकानको बहुत-बहुत सजाकर रखना, बडे श्रृंगारके चित्र रखना, बहुत-बहुत आरामके साधन रेडियो आदि रखना, और भी अनेक प्रोग्राम रखना, ऐसे मौजके साधनोंके बीच रहकर क्या पूरा पाड लोगे ? आखिर उस दिनका भी तो भाव चित्तमें लावो जिस दिन यह मै जीव इस देहसे विदा हो रहा हू। यदि मैं इस देहको छोडकर चला जा रहा हू तो चला ही गया। लोकके न जाने किस कोनेमे उत्पन्न होवेंगे और किस गतिमे जायेंगे, न जाने कौनसा भव मिलेगा, क्या स्थिति होगी, फिर तेरे लिए तो यहाँकी बात कुछ न रही। यहाका मकान, यहाँका परिवार, यहाका वैभव तेरे लिए फिर कुछ न रहेगा। यह बात तो एक मिनटमे ही हो सकती कि नही ? एक मिनट बाद ही यह सब कुछ हो सकता है। तो थोडे समयके लिए पुण्यके मौजमे बहकर यहाके लिए सब कुछ समझना और अपने आपकी दया न करना, यह तो आत्महत्यारेकी करतूत समझिये।

आत्महत्याको लोकव्यवहारमे भी बडा पाप मानते है। आत्महत्या जो करना चाहता हो वह राजाका भी अपराधी कहलाता है। अभी किसी अधिकारीको विदित हो जाय कि अमुक व्यक्ति आत्महत्या करने वाला है तो वह गिरफ्तार हो जायगा, उसपर जुर्म लगेगा। तो जिस तरह दूसरेकी हत्या करना जुर्म है, इसी तरह आत्महत्या करना भी जुर्म है, लेकिन अध्यात्मसिद्धान्त यह बतलाता है कि परकी कोई हत्या ही नही कर सकता है। जो कुछ करता है वह अपनी ही हत्या करता है, हिंसा करता है, अपनेको बरबाद करता है। तो इस आत्महत्याकी कुटेवको छोडकर दयाकी ओर आयें। बात कोई सुननेके लिए नही सुनना है, बातको सुनकर कुछ अपनी गल्तीपर पछतावा कीजिए और जितना बन सके उस मार्गपर चलिये। इस प्रकारके निर्णयके साथ आगे बढिये तो यह अपने आपके लिए बडी दयाकी बात है। पहिला काम यह कीजिए कि हम अधिकाधिक ब्रह्मचर्यसे रहे, और जो अच्छे साधन पाये

हुए है उनके बीच रहे, उनकी व्यवस्था बना दें, पर ब्रह्मचर्यसे रहनेका अधिकाधिक ध्यान रखे। इससे आत्माकी पवित्रता बढती है, और ज्ञानस्वरूपमे ज्ञान समा जाय, ऐसी पात्रता आती है। आत्माका अहित करने वाले विषय और कषाय ही तो बताये गए हैं।

रसनाइन्द्रियका विषय लो। स्वादिष्ट खा लिया तो खानेके बाद क्या रहा और खानेके समय स्वादकी जो आसक्ति थी, जहाँ कि आत्माके स्वरूपसे भूले रहे, अपनी सुध भी न रही उस स्थितिमे कितने कर्म बँध गए ? अपने ज्ञानस्वभावसे च्युत हुए और जो कर्मविपाककी छाया आयी, उस अधेरेको अपना लिया, तो इसमे कितनी बडी आत्महत्या की। जरासी रसना इन्द्रियका लाभ लिया और यहाँ इतनी बडी आत्महत्या की। हाँ भूख लगती है, जीवन चलाना है तो खाने-पीनेकी आवश्यकता है, तो इस लक्ष्यसे खा पी लीजिए, मगर देखिये कि जो जन्ममरणसे डर रहा है, मुझे आगे जन्म मरण धारण न करना पडे, इस प्रोग्राममे जो चल रहा है वह इस जीवनको कुछ रखना चाहता है। देखिये—जीवनसे छुट्टी सदाके लिए मै पाऊँ, यह तो उसका प्रोग्राम है और उस ही प्रोग्रामके अन्तर्गत यह प्रोग्राम है कि मैं इस जीवनको जरा चलाऊँ, अपनी आत्महत्या न करूँ, मेरी कुछ जिन्दगी रहे ताकि आत्मस्वरूपकी उपासनामे लगूँ। इसलिए खा रहा है, जीवन चला रहा है। तो जीवन मिटानेके लिए जीवन चला रहा है ज्ञानी पुरुष। और कितने ही मोही जन ऐसे होते है कि घरमे खाना खाने गए और वहाँ किसी चीजमे नमक कम रहा या मीठा अधिक पड गया तो उस खानेको ही फेंक देते हैं, वे खानेका त्याग किसलिए कर रहे ? मानो अपने जीवनकी परम्परा बढ़ानेके लिए। कोई मनुष्य-जीवनकी परम्परा बढ़ानेके लिए खाना छोडता है और कोई मनुष्य उस परम्पराको मिटानेके लिए खाना खाता है। इसी तरहकी बात देखिये—कितना अतर ज्ञानी और अज्ञानीमे पाय जाता है। नो रसनाइन्द्रियका विषय जीवको पतनकी ओर लिए जा रहा है। खावे, पर उस विषयके ऐसे लोलुपी न बनें कि अपने आत्माकी सुधि भूल जायें।

दृष्टान्त देते है कि जैसे मछली माँसके लोभमे आकर अपना कठ कटकमे फसा लेती है। ऐसे ही ये सब जीव रसनाइन्द्रियके लोभमे आकर अपनेको ससारकटकमे फसाये रहते है। घ्राणेन्द्रियका विषय कहनेको तो मामूलीसी वात है, क्या बिगड गया ? अरे सुगध ले लिया तो ताजा दिमाग हो गया, कोई परेशानी न रहेगी, मन अच्छा रहेगा। धर्मकी ओर दृष्टि रहेगी। अरे काहेका बहाना बनाते ? वह तो सुगधका उपयोग मौज लेनेके लिए कर रहा है, और उस मौज माननेकी प्रक्रियामे आत्माको भूला है, ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं है, वह परेशान है। ये विषय इस जीवको बडी बाधायें पहुचाते है। चक्षुइन्द्रियके विषयसे रूप निहार लिया और रूपमे भी इस जीवके चित्तमे काम बाधा किसी न किसी रूपमे रहती है, तो स्त्री अथवा पुरुषके रूपमे सुन्दरता नजर आती है। सुन्दरता क्या है ? जरा पसीना आ जाय तो सारी

बिगड गई, और पसीना आना तो मामूली बात है। कोई रूपको सूघे तो उससे दुर्गन्ध आती है, और उस दुर्गन्धको छिपानेके लिए ही तो सुगधित तेल फुलैल आदिका उपयोग लोग करते है। तो रूपमे भी क्या रखा है ? और फिर लोग रूप निरखते हैं और निरखकर इतनी आसक्ति होती है कि उसका स्पर्श करते है। अरे रूप तो दूरसे देखनेकी चीज है, वह हस्तादिकसे छूनेकी चीज नही। अरे रूप सुहाये तो दूर बैठे-बैठे देखते रहो, लेकिन यहाँ तक भी लोग नही रह पाते, होता क्या है कटक कि रूप देखनेकी आसक्तिमे यह जीव अपनी सुध भूल जाता है। सारा उपयोग उस विषयकी ओर ही लगा रहता है।

अपने जीवनके सम्पूर्ण कार्यक्रमोको देखिये—लोग चौबीसो घटे क्या-क्या कर रहे है ? लोग रूप देखते-देखते भी थक जाते है। ये विषय थकानेके लिए है, आरामके लिए नही। किसी भी विषयकी बात लो। विषयोको भोगकर यह मनुष्य थकेगा, पनपेगा नही और थकेगा इतना कि अनन्त जन्ममरण करता है और इसी भवमे थक जाता है। सो देखिये—निरन्तर सनीमाका रूप देखते हो तो कब तक देखेंगे ? थक जाते है। कोई रूप देखेगा तो कब तक देखेगा ? थक जाता है। थककर कर्णेन्द्रियके विषयमे चला। अच्छा राग, अच्छी प्रेमकी बात, राग-रागनीकी बात सुननेमे बडी उमग आ रही है। थोडासा एक जरूर सावधानीका काम किया गया है कि जब रागमे राजी है तो रागमे कुछ धर्मोपदेशकी बाते भी लगायी गई हैं, पर उन भजनोको सुनकर धर्मकी ओर कितना बढ जाते है और रागका मौज कितना लूटा जाता है ? उसकी भी तो तुलना करे। फिर तो धर्मोपदेश शून्य भजन है, प्रेम पैदा करने वाले वचन है, उसकी ओर तो प्राय सारा मानव झुका ही जा रहा है। उससे मिलता क्या है ? कर्णेन्द्रियके विषयमे उपयोग लगाया तो अपने उपयोगसे विकल्प किया और इसमे अपनी आत्महत्या कर ली। पञ्चेन्द्रियके विषयोमे इस जीवकी कितनी हत्या ही है और लाभ कुछ नही है। मनका विषय तो बडा ही लम्बा चौडा है। कितनी ही दूर यह मन दौड जाय, कितनी ही कल्पनायें कर डाले, इसका विषय तो बहुत ही विस्तृत है, जिसमे लगकर यह जीव दुखी होता है। एक देश दूसरे देशसे झगडा करता है—किसलिए ? मनके विषयका उपभोग करनेके लिए। उससे लाभ क्या मिलता है ? प्रायः लडाइयाँ होती है मनके विषयका उपभोग करनेके लिए, जो सोचा बस वही हठ रही। कषायोमे कषायें बढायी, किन्तु उस मनका उपभोग उन्हे इसीमे मिल रहा है। ये पञ्चेन्द्रियके विषय घोर दुखदायी है, इनमे कमी करके कोई धर्ममे लगता है तो समझिये कि वह सच्चा धर्मात्मा है। उसे लगन लगी है ससारसे पार होनेकी, जन्ममरणसे छूटनेकी, और इन्द्रियविषयोमे लगा है, बातें बहुत ज्ञानकी कर रहा है तो उसे थोथा ज्ञान समझिये। ज्ञानका प्रभाव तो यह होना था कि विषयोसे वैराग्य जगे, पर वैराग्य तो जगता नही, बल्कि कुछ ज्ञानकला पायी तो उससे विषयोका राग ही और

बढाया । अच्छे साहित्यके शब्द मिल गए, ढगसे विपयोके वर्द्धक वचन मिल गए, उनसे विषयो मे प्रवृत्ति बढा रहा है तो वह ज्ञानी कैसे ? ज्ञानी है तो नियमसे विपयोसे हटता हुआ ही रहेगा, विपयोमे बढता हुआ, लगता हुआ वह हो नही सकता । तो पञ्चेन्द्रियके विषयोको अनर्थ जानकर इन विपयोसे हटो । इनमे आस्था मत रखो कि ये मेरे भलेके लिए है । जो इन विषयोसे हटनेकी धुन रखेगा वह विषयोके साधनोसे हटनेकी धुन रखेगा, परमे उतना अधिक मोह न रहेगा । एक गुजारेके लिए, गृहस्थ धर्मकी अच्छी जिन्दगी बितानेके लिए जितना आवश्यक है उतनी जिन्दगी रहेगी, पर मूर्खोंकी भाँति ये ही मेरे सर्वस्व है, इनके बिना मेरी जिन्दगी नही, इनके बिना मुझे सुख नही मिल सकता—ऐसी थोथी मिथ्या बातोका वह घर नही रह सकता । अच्छी जिन्दगी, धार्मिक जीवन बितानेके लिए जितना आवश्यक है उतना राग रहेगा, पर भीतरमे मोहबहुल अधकार न रहेगा । तो ऐसा अपने आपमे निर्णय करें और जितना निर्णय करे उस निर्णयके अनुसार अपना सच्चा कदम रखें । केवल जाननेसे कुछ न मिलेगा । जिन्दगी गुजर रही है । जैसे पर्वतसे गिरने वाली नदीका वेग ऊपरको नही लौटता, इसी प्रकार जो आयु व्यतीत हो गयी है वह अब जरा भी वापिस नही आती । तब फिर इस रही-सही जिन्दगीका उपयोग कर लो । उसके लिए आवश्यक है कि विषयोसे दूर रहे, मोह लालचसे अपना चित्त हटायें । इनसे कुछ नही मिलेगा, क्यो न मिलेगा कि वहाँ कुछ सारकी बात ही नही है । ऐसी स्थितिमे हम आपको बहुत फूँक-फूँककर कदम उठाना है । किसी भाईसे विरोध न हो, किसी भाईके प्रति अन्याय न बने, किसीके प्रति दोषबुद्धि न रखो । किसीके दोषपर दृष्टि रखना, दोष ग्रहण करना, यह आत्महत्या है । वे पुरुष जोककी तरह हैं जो दूसरोंके दोष देखकर मौज समझते है, अपने मनका बहलावा रखते है ।

जैसे जोक गायके स्तनमे लग जाय तो वह दूधको नही ग्रहण करती, वह तो खराब खूनको ही ग्रहण करती है, इसी प्रकार मूर्ख मनुष्योका चित्त दूसरोके दोष ग्रहण पर जायगा, गुणोपर न जायगा । अपने उपयोगको दोषके अधेरेमे अधा बना दिया गया तो फिर वहा अपने आपकी कुछ सुध न रहेगी । जो बातें अपने लिए हितकी है सो करो और जो अहितकर हो उन्हे मत करो । इतनी तो एक व्यवहारकी बात कही है । इतनी व्यावहारिक पात्रता हो उसके उपयोगमे यह आध्यात्मिक तत्त्व आता है जिसका कि इस ग्रथमे वर्णन किया जायगा । हमको क्या देखना है तुरन्त, हमको ज्ञान द्वारा क्या जानना है तुरन्त ? जानना है हमे अपना आत्म-तत्त्व, अपना सहज स्वरूप । जगतमे अन्य कुछ भी सार नही है । जहा जायगा फुटबालकी तरह लोग लात ही मारेंगे अर्थात् कोई स्वीकार न करेगा । मेरे स्वरूपका किसी अन्यमे प्रवेश नही है । किसी अन्यका मेरे स्वरूपमे प्रवेश नही है । मैं मै हूँ, पर पर हैं । जो कुछ मेरे

गुजरता है वह मेरेमे गुजरता है । वह मेरेमे बनेगा, वह मेरेमे रहेगा, इसमे कोई दूसरा साथी नही हो सकता । जब यहा कोई मेरा मददगार नही तो भूठे स्वप्न क्यो ले रहे हो ? मेरा परिवार है, मित्र है, स्त्री है, ये सब मेरे है । अरे साधुकी तरह अपने चित्तको समीचीन बना लो । जैसे साधु जानता है कि मै सबसे निराला चैतन्यमात्र हू, इसी तरह गृहस्थ भी जानें कि मै सबसे निराला चैतन्यमात्र हू, परिस्थितिका अन्तर है । ज्ञानका अन्तर क्यो करते हो ? ज्ञानका अन्तर क्यो करते ? यह अन्तर होना ही न चाहिए । परिस्थितिका यह अन्तर है कि साधु अकिञ्चन है, निर्ग्रन्थ है, उसके पास कोई बाह्य परिग्रह नही है, इस कारण वे आत्म-साधनामे बहुत समय तक रहते है, उन्हे आवश्यकता नही है किसीसे स्नेह करनेकी, किसीसे राग करनेकी, लेकिन गृहस्थ अपने घरमे रहते है, भूख तो लगेगी ही, भिक्षावृत्तिका उन्हे अव-काश नही, कौन खिलाने आयगा गृहस्थोको ? उन्हे तो खुद निर्वाह करना पडेगा, ये परिस्थि-तिया है । इन परिस्थितियोके कारण गृहस्थ अपने आत्मसयमके कार्यमे बढ नही सकते । यह परिस्थितिका अन्तर है, मगर जो बात जैसी है उसको वैसी मान लेनेमे इन गृहस्थको क्या आफत आती है ? सबसे निराला यह ज्ञानमात्र आत्मा है, ऐसा स्वीकार करनेमे कौन संकट उपस्थित कर रहा है ? जो जैसा है उसे वैसा मान लीजिए । यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हू । मैं अपनेमे ज्ञानके सिवाय और कुछ नही लख पा रहा हू ।

ज्ञान ही ज्ञान वही मेरा सर्वस्व स्वरूप है । वह ज्ञान कैसा है ? अमूर्त आकाशकी तरह । जैसे आकाशमे रूप, रस नही है, पिण्ड नही है तो क्या उसपर बोरा आदिक कोई बोझ लादा जा सकता है ? नही लादा जा सकता । ठीक इसी तरह इस ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मतत्त्वमे क्या मकान महल आदिकका बोझा लादा जा सकता है अर्थात् नही लादा जा सकता । अमूर्त है ज्ञान, इस पर किसी वस्तुका बोझ नही है । खुद ही विकल्प किया है, मेरे ये विकल्प उठ रहे है, पर किसी बाह्यका बोझ नही । लोग व्यर्थ चिल्लाते है कि मेरे ऊपर इतने परिजनोका बोझ है, इतने मकानोका बोझ है, पर हे आत्मन् ! तेरे ऊपर तो रचमात्र भी किसीका बोझ नही है । तेरे अज्ञानका बोझ तेरे ऊपर है । क्या अज्ञान है कि घरके बच्चे अपने पुण्यसे खाते हैं, बल्कि उनके पुण्यके निमित्तसे आपको कमाई करनेके लिए नौकर बनना पड रहा है । सब उनका काम चल रहा है । आप यह अज्ञान बसाये है कि इनका पालन पोषण कर रहा हू । उस अज्ञानका शल्य बना है । जो यथार्थ बात है उसे मान लीजिए, वैसी आस्था बनाइये और जितने गुणकारी कार्य है उन्हे कीजिए । इस तरहका जीवन अभीसे चलाइये । जो कुछ थोडी जिन्दगी शेष रही उसका पूरा लाभ लूटनेमे बुद्धिमानी है, विषयो मे लगनेमे बुद्धिमानी नही ।

अपने आपको शुद्ध निरखनेसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है । किस तरह शुद्ध

निरखा जाय कि मै अन्य सबसे निराला हू और अपने सर्वस्व वैभवसे सम्पूर्ण हू । शुद्धका अर्थ यही कहलाता है कि अन्यसे निराला रहना और अपने आपमे परिपूर्ण रहना । जैसे शुद्ध दूध । इसका अर्थ है कि दूधमें पानी वगैरा कोई चीज मिली न हो और दूधका मक्खन आदिक उसका सर्वस्व कुछ निकाला गया न हो, ऐसे दूधको कहते है शुद्ध दूध । ऐसे ही शुद्ध आत्मा क्या है ? अन्य वस्तुका यहा मिलावट किया जा रहा हो, कर तो कोई नही सकता मिलावट, पर कल्पनामे मिलावट मानी जाती है और कल्पना भी स्वय मिलावट है । तो जहाँ मिलावट कुछ न रहे और खुदमे रहने वाला सर्वस्व वैभव खुदमें रहने दिया जाय अर्थात् दृष्टि मे लखा जाय तो ऐसे लखे हुए आत्माको कहते है शुद्ध आत्मतत्त्व । शुद्ध आत्मतत्त्वको देखा जाता है एकत्वविभक्तदृष्टिसे । यही सारी सावधानी है मोक्षमार्गमे चलनेके लिए कि मै अपने आपको समस्त अन्य तत्त्वोसे न्यारा देखू और अपने आपके स्वभावमे तन्मय देखू, यह दृष्टि जीवने अब तक नही पायी । जिस पर्यायमे गया उस ही पर्यायरूप अपनेको माना, और कभी ज्ञानचर्चामे चला, धार्मिक बाना रखा, बडी विद्वत्ताकी बात की तो पक्ष छाट करके आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है, उसका अविभाग प्रतिच्छेद है, एक-एक समयका परिणमन है— ये सब बातें इस तरह जानता रहा जैसे कि किसी बाहरी चीजके बारेमे कोई वर्णन कर रहा हो । इसी तरह अपने इस आत्माको ऐसा बाहरी पदार्थ देख करके इसकी बाबत पर्यायें की तो ऐसे छिन्न-भिन्न कर देने वाले ज्ञानसे इसने इसका लाभ नही पाया और समन्वय बाहरी बातोका सग्रह करने वाले ज्ञानसे भी लाभ न उठा पाया । इसको लाभ मिलेगा शुद्ध आत्मतत्त्व के निरखनेसे । कषायें जगती है, उन कषायोसे यह जीव परेशान हो जाता है । क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें जब उमडती है तो यह जीव मथ जाता है । नाम ही कषाय रखा है । जो आत्माको कस दे, दु ख दे, उसको मथ दे, इसका नाम कषाय है । जब यह जीव क्रोध करता है तो उसे अपने आपकी सुध कहाँ रहती ? क्रोधभाव परभाव है, बरबादीके लिए आया है, अशरण है, दु खरूप है, इसके फलमे भी आगे दुःख ही भोगना पडेगा और खुद मायारूप है, और यह मैं आत्मा पवित्र हू, शाश्वत हू, स्वभाव वाला हू, स्वय आनन्दमय हू, इस तरह की सुध कहाँ रहती है ? जब क्रोध करता है तो यह क्रोध इसके लिए दु ख ही उत्पन्न करने वाला है, और ऐसे विशिष्ट क्रोधमे आकर यह जीव अपनी सुध भूल जाता है और जरा इस एकत्वविभक्त आत्माकी दृष्टि करके तो देखे कोई । जिस समय इस शुद्ध अतस्तत्त्वका दर्शन चल रहा हो उस समय क्रोधका क्या अवकाश ? वहाँ तो स्वय तृप्त हो रहा है ।

मान कषाय भी इस जीवको कितना कदर्थित कर देती है, नम्रताका नाम नही रहता । अपने आपमे उच्चता देख रहा है । जो आत्मामे दोपरूप है, आत्माका कलक है, उसपर गर्व करता है, मे महान हू, सबसे विशिष्ट हू, उसपर उसको गर्व होता है तो यो गर्वमे आकर अपने

आत्माकी सुध खो बैठता है, निरन्तर दु.खी रहता है, और जब यह अतस्तत्त्वकी सिद्धि करता है, मै इन विभावोसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हू, कृतार्थ हूं, परिपूर्ण हू, मुझमे अधूरापन नहीं है, जब अपने आपके उस चैतन्यस्वभावरूपमे दृष्टि करता है उस समयमे इसका मान कहा ? मानकषायका दु ख नही रहता । इतना नम्र हो गया है इसका उपयोग कि अपनी इस नम्रता की प्रकृति द्वारा ज्ञानसमुद्रमे ही मिल गया । मायाचार कितना बुरा शल्य है ? मायाचार जैसी तुच्छ वृत्ति कैसे कही जा सकती ? दूसरोके प्रति कपट रखना, कुछसे कुछ विचार करना, साथ ही उसका शल्य भी वडा चलता रहता है । मायाचारी जीव निरन्तर शल्यवान रहता है, उसे शल्यमे गिना है । मायाचारका दु ख कितना कठिन है, किन्तु अन्तस्तत्त्वका दर्शन करने वाले ज्ञानीके मायाचारका प्रवेश नही है । जहा यह निर्णय है कि मैं आत्मा यह हू, समस्त परसे न्यारा हू, किसीसे इसका कुछ काम ही नही है, ऐसा स्पष्ट निर्णय जिसके पडा हो वह मायाचार क्यो करेगा ?

लोभकपाय भी अज्ञानी जीवोके होती है, जिसने परद्रव्योसे मेरा बडप्पन है ऐसा मान रखा है ऐसा पुरुप ही लोभके वशीभूत होता है, अन्यथा लोभकी क्या आवश्यकता ? जितना जिसके उदय है उतना उसको प्राप्त होता है । यदि कोई सारे वैभवको कही त्याग दे, दान कर दे अथवा कोई वहासे इसे हटा दे, भगा दे तो उस पुण्यके अनुसार उसको दूसरी जगह जाकर प्राप्त हो जाता है, और जहा पापका उदय है तो कितनी ही सग्रहकी, रक्षाकी चिन्ता कर ली जाय, लेकिन उससे सग्रह होगा नही । तो लोभकषाय भ्रम करने वाले जीवके ही है, लेकिन जिन्होने अतस्तत्त्वका दर्शन किया है, ऐसे पुरुषोको भ्रमका अवकाश ही नही आता । तो जिसने इस एकत्वविभक्त आत्माका अनुभव किया है वह पुरुप ससारमे पूज्य है, सराहनीय है, वह निकट कालमे ही परमात्मा होने वाला हुआ है । भीतर एक विशिष्ट निर्णय करके एक भवमे एक बार तो इस शुद्ध आत्मतत्त्वपर मुग्ध होकर, इस शुद्ध आत्मतत्त्वके सच्चे उपासक बनकर एक इसकी धुनमे तो लग जाय कोई । जो मिलेगा इसकी उपासनासे वह किसी भी उपायसे नही मिल सकता । यह आत्मा अकिञ्चन है, इसका कही कुछ नही है । न किसीमे इसका प्रवेश है, न इसमे किसी अन्यका प्रवेश है । ऐसी स्थितिमे यह आत्मा अनादिसे अनन्त काल तक रहता है, वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, पर मोही पुरुष मानते है और भांति, इस वजहसे उसमे सारा बोझ आ गया, अधूरापन आ गया और इसमे निरन्तर अशान्ति आती रहती है । तो जैनशासनका फल यह है कि अपने आपको एकत्वविभक्त निरखें ।

ससारमे मुझे कोई दु ख ही नही । कुछ बोलकर बताओ—किसका नाम दु:ख है ? घरके कोई लोग गुजर गए इसको लोग दुःख कहते है । वस्तुतः वहाँ दुःख कहाँ है ? वे अन्य जगह थे, अन्य द्रव्य थे, अपने आप आये थे, अपने आप चले गए तो उसमे इसका विगाड

क्या ? इसकी कौनसी चीज नष्ट हो गई ? तो परके वियोगमे इसपर कोई आपत्ति नहीं आयी, लेकिन मानते तो है लोग कि मेरेपर बहुत विडम्बना है, बस यही विडम्बना है। दुःख किसका नाम है सो बताओ ? कोई कहेगा कि हजारो लाखो रुपयेका घाटा पड गया, इसलिए दु:ख है। तो बताओ आत्मामे घाटा क्या पडा ? वे रुपये तो जड थे, भिन्न थे, बाहरी चीज थे, वे न रहे तो इससे आत्माका क्या बिगाड हो गया ? कोई कहे कि इतने लोगोमे मेरा अपमान हो गया, निन्दा हो रही, यह तो हमपर बडा दु:ख है। अरे जरा भी दुःख नही। ये निन्दा और अपयश क्या चीज है ? जो जैसे परिणामका पुरुष हो वह अपना वैसा परिणाम उगलता है, अपने आपमे अपना परिणमन करता है, उससे इसको क्या हानि हुई ? तो दु:ख किसी भी चीजका नाम नही है। दुःख है अपने आपमे कल्पनाये उठ जानेका। अपने आपमे भ्रम, कल्पना उत्पन्न हुई और वह दु:ख हो गया। तो जिसने एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव किया है, अपने आपमे ऐसी ज्योतिके दर्शन किये है कि जो ज्ञानमात्र ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाये, इस तरहके ज्ञानस्वरूप मात्र जो अपने आपमे सहज सिद्ध बने, उसमे जो आनन्द पाया वह आनन्द जगतके अन्य किसी उपायमे रखा है क्या ? सोच लो। मेरा किसीसे परिचय नही। ये सब ऐसे है जैसे बिना बोलने वाले सनीमामे सब कुछ दिखता है। इस तरह हाथ चल रहे, इस तरह पैर आदिक अन्य अग चल रहे। तो इसी तरह यह सारा जगत बिना परिचयका इस तरह चल-फिर रहा है, वह हमारे लिए सनीमाकी तरह दिख रहा है। मुझे कोई जानने वाला नही। जैसे सनीमाके फोटोमें जितने पुरुष, स्त्री, बालक आदिकके चित्र आते है उनका तो हम जरा भी डर नही मानते, न उनसे हम प्रशसा चाहते, न उनसे हमे निन्दाका डर है, न उनसे कुछ है, क्योकि यहाँ यह जान रहे कि ये तो भिन्न चीजें है, ये मुझे जानते ही नही और ये मेरे कुछ लग ही नही सकते। तो यह ही बात तो चलते-फिरते चित्रोकी है। ये चलते-फिरते चित्र मुझे जानते ही नही और जिसे ये जानते वे मै हू ही नही। प्रथम तो किसी भी रूपमे ये मुझे नही जानते। ये अपने ज्ञानमे अपना परिणमन करते है और मानो उपचारसे मुझे जानते है। यह तो वह मैं हू ही नही जिस रूपको जानते है। ये मेरी निन्दा कर ही नही सकते, ये मेरा बिगाड कर ही नही सकते, मेरी प्रशसा कर ही नही सकते। जो कुछ कर रहे है तो अपने-अपनेमे अपनी चेष्टा कर रहे है, मेरा उसमे क्या बिगाड ? तो एक भी दु:ख नही है इस जीवको। किसीसे भी यह उत्तर न मिल पायगा कि मेरेको कोई दु:ख नही। हर एक पुरुष अपनेमे कुछ न कुछ दु:ख लगाये है। सारे दु:खको मेट देने वाला जो जैनशासनका प्रकाश है उसकी उपेक्षा जो करता है वह दीर्घ ससारी है। उसमे जिसका चित्त नही रमता वह अभी संसारमे बहुत घूमने वाला है, ऐसी यहाँ हालत हो रही है। जैनधर्ममे जो तत्त्वक विवेचन किया गया है उसमे जो प्रकाश भरा है, जिस शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि करायी गयी है,

शुद्ध आत्मतत्त्वके अनुभवकी भी यहाँ प्रेरणा की गई है उसका प्रकाश कोई पा जाय विशुद्ध परमब्रह्म ज्ञानज्योतिर्मय उसका प्रकाश जो कोई पा लेता है वस कृतार्थ हो जाता है, ससार-सागरसे पार हो चुका। उसको अब कोई कष्ट नही रहा। तो जिसे कष्ट माना है वे सव भ्रम है, वहाँ रच भी कष्ट नही है। जहाँ सुख माना है वे सव भ्रम है, वहाँ रच भी सुख नही है। अपने आपके स्वरूपकी सम्हाल करेगे तो वहाँ शान्ति प्राप्त होगी, कर्मोंका क्षय होगा। लगता यो है कि कर्मोंका काटना, नष्ट करना वहुत वडा कठिन काम है और जो तत्त्वके वास्तविक दर्शन कर चुका हो वह यह निरख रहा है कि कर्मोंका हटा देना तो वहुत ही आसान काम है। वह कैसे ? जहाँ समस्त परभावोसे निराला अपने आपके सहज सिद्ध चैतन्यभावमे परि-पूर्ण इस तरहका कोई अपना उपयोग बनायेगा ऐसी ज्ञानदृष्टि करेगा तो उसके ही इस सहज ज्ञानानुभवके प्रसादसे कर्मोंको तो हटना ही पडेगा। वहाँ गुजाइश नही है कि ये कर्म रह सकें। यह तो इस तरहकी बात है जैसे लोकमे हम देखते है कि आगपर पानीका वर्तन रख दिया तो उसे गर्म होना ही पडेगा। कैसे न होगा ? फलोको किसी ठडी आलमारीमे रख दिया तो उन्हे ठडा होना ही पडेगा।

अपने आत्माको ससारके जन्ममरणके चक्रोसे छूटनेका सर्वोपरि अत्यन्त आवश्यक काम है। जिसके आगे अन्य सारी बातें न कुछ चीज है। अनुभवसे देख लो—कुछ पुण्यके साधन मिले है, आरामके, मौजके बहुतसे वातावरण मिले हैं, इतनी जिन्दगी सुखपूर्वक व्यतीत हुई, धर्मका समागम भी मिला, सब कुछ मिला, मगर यह तो बतावो कि जब तक ये सब समागम मिले हुए है तब तक भी क्या शाति है ? निरतर अशाति है। और फिर यहासे मरण करनेके बाद यहाँका कुछ भी साथ निभायेगा क्या ? नही निभायेगा। मरण तो निश्चित ही है, ऐसा कोई मनुष्य नहीं है कि जिसका मरण न आये, सबको मरना पडेगा। साथ ही मरनेका समय भी नियत नही है, और जिन गतियोंमे मरणका समय नियत रहता है, आयुके बीचमे जिनका मरण नही होता, जैसे नारकी, देव और भोगभूमिके जीव, इनमेसे धर्मपालनके साधन नही हैं। इनमे एक नारकी जीव तो ऐसे है जो मरण चाहते है, पर आयुके बीचमे उनका मरण नही होता, बाकी देव और भोगभूमिया जीव ऐसे है कि जो मरना ही नही चाहते। वे तो भोग-साधनोमे ही रमकर अपना सारा समय व्यतीत कर देते है। धर्म धारण कर सकनेकी बात वहा नही बन पाती। हम आप मनुष्योका मरण तो अचानक ही किसी भी समय हो सकता है। तो यह बात हम आपके लिए भली है। इसमे कोई डरनेकी बात नही है। अरे यह अचानक मरणकी बात तो हम आपको सावधान करनेके लिए है। किसी इष्टका कभी भी वियोग हो जाय, पुत्रका, धनका जब चाहे वियोग हो सकता है। तो यह बात डरनेके लिए नही है, किन्तु शिक्षा लेनेके लिए है। तो हमारी वर्तमान सब स्थितिया भली हैं। हम पचेन्द्रिय हुए, श्रेष्ठ मन

मिला, जैनधर्मका समागम मिला, ये सब बातें मिली है, इसके अतिरिक्त मरनेका कुछ भरोसा नही कि कब मर जाये, यह पता नही कि इन पाये हुए दुर्लभ समागमोका कब वियोग हो जाय, तो ये सभी बाते हम आपको भलेके लिए मिली हुई है, बुरा कुछ नही है । ऐसा सोचने की आदत बनायें कि यहा जो कुछ होता है वह मेरे भलेके लिए होता है । इस प्रकारकी दृष्टि यदि बन जायगी तो जीवन सुखमय रहेगा । कदाचित् जीवनमे गरीबी आ जाय तो वहा भी यह विचार करें कि क्या है, यह भी स्थिति हमारे भलेके लिए है, अरे इस गरीबीकी स्थिति आनेपर इस आत्माका बिगाड क्या ? आत्माके स्वरूपका अधिकाधिक दर्शन हो, उसमे किसी प्रकारकी मलिनतायें, गदगिया न आने पाये तो फिर इस आत्मामे स्वत ही निर्मलता बढेगी । यही अपना वास्तविक मददगार है । यह धन कब तक मदद कर सकेगा ? हमारा मददगार है हमारा शुद्ध ज्ञान, शुद्ध भाव, विषयोसे हटता हुआ हमारा उपयोग । दूसरा कोई मदद नही करता । साथ ही जीवनमे यह भी विषाद न रखा करें कि धर्मका प्रभाव घट रहा है, लोग धर्म मे कम लग रहे है । धर्मकी प्रभावनामे अधिक बढना चाहते है—लोग क्यो नही मन्दिरमे दर्शन करने आते, क्यो नही स्वाध्यायमे अधिक समय लगाते ? ऐसा विषाद करनेकी जरूरत नही है । विषाद करे खुदके लिए ।

मैं क्यो नही ज्ञानमार्गमे लग पाता, क्यो नही आत्मतत्त्वका अनुभव कर पाता, मै क्यो नही विषयोसे हट पाता ? अपने लिए अपना मार्ग खोजें । अपने लिए अपना मार्ग खोजने वाले अगर नगरमे १० व्यक्ति निकल गए तो उससे धर्मकी सच्ची प्रभावना होगी । धर्मकी प्रभावनाका फल है ससारके सकटोसे मुक्ति पा लेना । इसके अतिरिक्त और क्या फल चाहिए ? यदि मुक्तिके मार्गमे नगरके १० व्यक्ति भी लग गए तो यह तो बहुत बडा फल मिल गया । चिन्तन करें अपने आत्मदया की । जैसे यह मन बहुत आसानीसे विषयकषायोकी बातोमे लग जाता है, इस तरह जब वे क्षण मिलें आपको कि विषयकषायोसे हटनेका तो जी चाहे और ज्ञानार्जनके कार्योंमे बडा मन लगे तो समझिये कि जीवनके वे ही क्षण धन्य है । अन्यके उपयोगमे क्या तत्त्व रखा है ? परवस्तुओके प्रसगमे तो जरा-जरासी बातोमे क्रोध उमड पडता है, लोग सम्मान-अपमान महसूस करने लगते है, मायाचारकी धुनमे रहना अथवा लोभ लालच मे बने रहना वह उपयोग धिक्कारने योग्य है, और जिसके ऐसा उपयोग बने कि विषयकषायो से हटकर हम ज्ञानकी बातोमे, ज्ञानकी चर्चामे लगें तो यह बहुत उपयोगी बात है । ज्ञान और वैराग्यसे हृदय कुछ वासित बनायें । मरणके दिन नजदीक आ रहे है, जो मित्र कहलाते है, जिस इस शरीरको देखकर खुश हो रहे है वे ही इस शरीरको जल्दी जला देनेकी बात सोचेंगे, और प्रथम तो है ही क्या ? मित्र जनोको यह शरीर भी जलानेको मिलेगा या नही, कैसे क्या होगा ? सो पता नही, अपना जो यह पवित्र आत्मा है, उसकी खूब सम्हाल कर लें और

छूट लें। यह मानव-जीवन बडी कठिनाईसे मिलता है, अन्य सब बातोकी उपेक्षा कर लें। तीन लोकका वैभव भी मेरे लिए जीर्ण-तृणके समान है। इससे कुछ भी लाभ नही मिलनेका। जो अपनी कल्पनाओंसे मोह लाद रखा है उस सबसे उपेक्षा करें, अपने आपको अकिञ्चन बना लें। यदि पूछा जाय कि बतलावो—अरहत भगवान बन गए। बहुतसे देव देवियाँ जिनके चरणोमे आ रहे, बडा गान-तान कर रहे, सारी दुनियाके जीव जिनके चरणोमे झुक रहे, बडे इन्द्र जिनको नमस्कार कर रहे, और समवशरण जैसी विभूति मिली, ऐसा ही ठाट यदि हम आपको मिले तो यह तो एक अपने लिए बडप्पनकी बात है। ऐसा बडा बनना आपको इष्ट है कि नही ? शायद आप यही कह उठेंगे कि हाँ हमे ऐसा बडा बनना तो इष्ट है। यदि ऐसा बडा बनना है तो उसके बननेकी तरकीब तो बडी सरल है। वह कौनसी तरकीब है ? बताइये, हम चलेंगे उस तरकीबके अनुसार। जब वह तरकीब बता भी दी जाती है तो फिर उसके अनुसार चलनेकी हिम्मत नही पडती, और जिसने उस तरकीबके अनुसार चलनेकी हिम्मत बना लिया, बस उसका बेडा पार है। वह तरकीब यही है कि अपना एक ऐसा चिन्तन बनावें कि मैं अकिञ्चन हू, मेरा यहाँ कही कुछ नही है। जरा स्तब्ध होकर चलें तो जीवोके चित्तमे कोई बात ही न आवे। यह उपाय बनावें तो नियमसे तीन लोकके अधिपति हो जायेंगे। तो इस उपायको सुनकर लोग घबडा जाते हैं, क्योकि उनके जो इस प्रकारकी वासनायें बनी हुई हैं कि यह मेरा मकान है, मेरा ऐसा ठाट है, वे सब बातें उनके ख्यालमे आ जायेंगी। अरे तू तो अकिञ्चन है, तुझे तो जैसा तू है वैसा ही माननेके लिए कहा जा रहा है। तेरी कोई बात छीनी नही जा रही है, और तेरेसे कुछ छीना भी क्या जाय ? जब सब चीजे तेरेसे अत्यन्त भिन्न है तो फिर वहाँ तेरेसे छीननेकी बात क्या ? तेरेसे कुछ छुडानेकी बात आचार्यदेव नही कह रहे, बल्कि तेरी जो चीज है उसे आचार्यदेव दिलानेकी बात कह रहे है।

आचार्यदेव कहते है कि हे आत्मन् ! जो तेरी खुदकी ही चीज है उसे पावो। तूने व्यर्थ ही जो भ्रम लगा रखा है उसे छोड। बाहरी चीजोका तो आचार्यदेव नाम ही नही लेते, क्योकि उससे कुछ मतलब ही नही। अब भी कोई बाह्य चीज तेरे काम नही आ रही, कोई सम्बध नही, सब तेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, इनका विकल्प छोड और अपनी निधिका दर्शन कर। यह ही उपाय है परमात्मपदकी प्राप्तिका। उसी उपायको आध्यात्मिक शब्दोमे यो कहा गया है कि एकत्वविभक्त हैं। एकत्वका अर्थ है अपने आपके स्वरूपमे परिपूर्ण मिला हुआ और विभक्तका अर्थ है अन्य सर्वपदार्थोंसे अत्यन्त निराला। ऐसा एकत्वविभक्त आत्मतत्त्व, जिसे सरल शब्दोमे कह लीजिए—अन्य समस्त परतत्त्वोंसे जुदा और अपने स्वभावमे तन्मय ऐसा अपने आत्माको देखें तो यहाँ शरण मिलेगी, अपने आपका शरण मिल जायगा और इसी

हटकर कुछ भी उपयोग कर ले, कोई कितना ही बडा बन जाय तो इससे कौनसी शान्ति है ? आज जो देशके मत्रिगण है, प्रजा जन है वे सभी बेचैन है । किसीको किसी तरहकी बेचैनी है, किसीको किसी तरहकी।

जैसे कोई मीठा विषफल खा ले तो वह भी मरणमे ही कारण है और कोई कडुवा विषफल खा ले तो वह भी मरणमे भी कारण है । जो विषफल मीठा होगा उसके खानेमे तो सावधानी भी नही रह सकती, बल्कि कडुवे विषफलके खानेमे कुछ सावधानी भी रह सकती है । मीठे विषफलको तो खाने वाला बडी आसक्तिपूर्वक खाता चला जायगा । उसके परिणाम स्वरूप वह आत्मघात करानेका ही कारण बनेगा । ऐसे ही समझिये कि समस्त देशोमे जो राज्यके पदाधिकारी हैं उनको भी परान्मुख होनेकी वजहसे बडे झझट है, वे भी बडे बेचैन है और साथ ही सारी जनता भी परान्मुख होनेके कारण बडी बेचैन है । तो यहाँ कोई कितना ही बडा बन जाय, पर वह शान्ति प्राप्त कर सकनेका पात्र नही बन पाता । भीतरमे अपने ज्ञानको सुवासित बना लें और उस ज्ञानके बलसे समस्त परपदार्थविषयक विकल्पोको हटायें, यही समस्त परपदार्थोंका छोडना है । भ्रम दूर हो जाये, फिर काहेका क्लेश ? जैसे किसीको निद्रा आ जाय और स्वप्न आ जाय कि घरमे आग लग गई तो वह उस दशामे कितना बेचैन रहता है, पर उसकी निद्रा भग हो जाय तो वह तो अपनेको अच्छे सजे सजाये कमरेमें पडा हुआ पायगा, लो भ्रम दूर हुआ कि सुखी हो गया । तो जब तक भ्रम लगा है तब तक दुःख है, भ्रम मिटा कि सुखी हो गया । यो परपदार्थोंके बारेमे नाना सुधार-बिगाड, सकल्प-विकल्प आदिक करके ये दु ख हो रहे है, क्योकि भ्रम लगा रखा है । अरे मै तो ज्ञानमात्र हू, ज्ञानसे भरा हू, आनदघन हू, आकाशकी तरह अमूर्त मैं एक चैतन्य पदार्थ हू । यह तो स्वय पवित्र है, ज्ञानानदघन है, इसके स्वरूपमें कष्ट नही, इसके स्वरूपमे अधूरापन नही, इसपर किसी चीजका बोझ ही नही है । मै तो बहुत आरामसे अपने इस शाश्वत घरमे विराज रहा हू । भ्रम टल जाय तो बस सब सकट दूर । जिसे जो होना हो, हो, वह उनकी परिणतिके अनुसार है, वह उन पदार्थोंका काम है, मेरा उनसे कोई सम्बध नही । जहाँ ऐसे परसे विभक्त निज तत्त्वकी दृष्टि जगती है उस समय सारे क्लेश दूर हो जाते है । तत्त्वदृष्टि करनेमे कैसी दृष्टि बनती है और इस जीवको क्या लाभ पहुचता है ? उसकी बात कही जा रही है । इस दृष्टिमे यह निर्णय होता है कि मै सत् हू, स्वत सत् हू, मेरा अस्तित्व किसीने आकर बना दिया गया हो, सो नही । जैसे कुम्हारका निमित्त पाकर मिट्टीका घडा बन जाता है, मगर उसका अस्तित्व भी किसीने बनाया क्या ? न हो मिट्टी वगैरा तो असत्से घडा बन जाता है क्या ? अरे वह है, स्वतः सत् है, अपने आप सत् है, स्वय परिणमता रहता है । इस परिणमन की कलाको कोई दूसरा नही लाता । यह "है" मे कला अपने आप बनी हुई है कि जो है

अपने आप परिणमता है अर्थात् मैं अपनेमे ही अपना उत्पाद व्यय किया करता हू, किसका ? भावोका । नया भाव बनता और पूर्वभाव विलीन होता । यो भाव बनते जाते हैं और विलीन होते जाते है, बस यही हमारी प्रक्रिया है । ऐसा मैं अपनेमे परिणमता हुआ सदा बना रहता हू । इस मेरे आत्माका सब कुछ मेरेमे है, मेरेसे बाहर मेरा कही कुछ नही है । जहा अपने आपकी ऐसी सत्त्वदृष्टि हो वहाँ अपना सारा जौहर, वैभव अपने आपको दृष्टिमे आने लगता है ।

जीवनमे धार्मिक क्रान्ति लानेकी परमावश्यकता—अब जरा कुछ निश्चय करिये कि अपना कुछ जीवन बदल देना है । वैसी ही धुन, वैसी ही ममता, वैसे ही विषय-कषायोंके परिणाम, वैसे ही विरोधभाव, झझट कलह, वे ही के वे ही चित्तमे बने रहेगे । तो जीवन व्यर्थ है । मूर्ख सोचता है कि मैं झगडा करके दूसरेका नुक्सान कर दूगा, पर वह अपना ही बहुत बडा नुक्सान कर रहा है । कोई सोच रहा है कि मैं इनके बीच रहकर इनका सुधार कर दूगा, पर वह अपना बहुत बडा नुक्सान कर रहा है । सो भैया ! विभावसे हटता हुआ तो कुछ होना ही चाहिए । पूरी तौरसे हट नही सकते हैं तो कमसे कम इतना ख्याल तो रखें कि इनसे हटनेमे ही मेरी भलाई है । यदि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें चल रही है तो उनसे हटनेकी बात सदा मनमे रखे । जब अपने आपके सत्त्वका दर्शन होता है तब सब बात सही ढगसे चलती है । और ऐसा आत्मदर्शन पानेके लिए चाहिये यह कि विशुद्ध तत्त्वका सही ज्ञान करनेका उपाय बना लें । यह उपाय क्यो नही बनाया जा रहा ? जो सरल पुस्तकें है, जिनमे सब बातें बडी सुगमतासे समझमे आ जाती है, जैसे कि मानो कोई बोल रहा हो, उन पुस्तकोको पढकर ज्ञानार्जन करनेमे क्यो मन नही लगाया जा रहा है ? अरे जिस तरह भी हो, ज्ञानार्जन कर लें और अधिक नही तो कमसे कम जितना समय इस शरीर को भोजन देनेमे लगाया जा रहा है उतना समय इस आत्माको भी (आत्माका ज्ञान) भोजन देनेमे लगावें । तत्त्वज्ञान करना, वस्तुस्वरूपका सम्यग्ज्ञान करना यही आत्माका भोजन है । यदि आपकी इस तरफ दृष्टि मुड जायगी तो आपको बहुतसा समय इस कार्यको करनेके लिए मिल जायगा । यदि आप व्यापारका, दूकान आदिका कार्य करते हैं तो वहाँ भी आप ज्ञानार्जनके लिए समय निकाल सकते है । व्यापार सम्बधी कामोंके अतिरिक्त भी आप समय निकाल सकते है । आप यदि दूकानका काम ईमानदारीसे करना चाहे तो थोडे ही समयके अन्दर बहुतसे ग्राहक लोग आपसे सौदा ले जायेंगे और आपकी पर्याप्त कमाई हो जायगी । थोडी ही देर बाद आप दूकान बन्द करके स्वाध्यायमे अपना समय लगा सकते है । नही तो दूकानके कामके समयके अतिरिक्त १४ घटेका समय पडा हुआ है, उसमे अगर ६ घटे सोनेके निकाल दिए जायें, २ घटे खाने-पीनेके निकाल दिये जायें तब भी ६ घटेका समय स्वाध्यायके पडा हुआ है । इतनेपर भी अगर स्वाध्यायके लिए समय नही निकल पाता तो इसके फलगे

होगा क्या ? बस रोना ही रोना, पछतावा ही पछतावा हाथ लगेगा । आना सभीको पडेगा इस कल्याणके पथपर । चाहे रोकर आवे, चाहे बिना रोये हुए । बहुतसे लोग सोचते है कि अभी हम अमुक कामसे निपट लें, ८-१० वर्ष बादमे इन सब झझटोको छोडकर कल्याणके मार्गमे लग जायेंगे, पर उनका यह सोचना गलत है । पता नही ८-१० वर्ष बाद क्यासे क्या स्थिति बने ? इसलिए अभीसे ही जितना हो सके, कल्याणके पथमे लग जाना चाहिए । आत्माका उत्थान इसीमे है । यहाँकी दिखने वाली मायामायी चीजे तो दुःखके ही हेतुभूत है, ये इस आत्माके लिए शरणभूत नही है । आत्माके लिए एक आत्मज्ञान ही शरण है । बडे-बडे तीर्थंकर चक्रवर्तियोने भी यही किया था । छह खण्डकी विभूतिको छोडकर उनका अपना आत्मा अपने स्वभावकी उपासनामे लगा था । यह उन्होने काम किया । इस ही धुनमे आइये और पहिली धुनको छोड दीजिए तो बेडा पार होगा, कल्याण होगा, सदाके लिए ससारके सकट छूटेंगे । जितने भव अभी मिलेंगे वे सब अच्छे देवगतिके और मनुष्यगतिके मिलेंगे और उनमें ही अपना समय गुजार लेंगे और निकट कालमे ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर लेंगे ।

वस्तुत्वदृष्टिसे आत्मवस्तुका दर्शन—आत्मोद्धारके इच्छुक पुरुषो ! अपने आपको वस्तु के रूपमे निरखिये । पहले यह निर्णय कर ले कि मैं हू । तो जब मै हू तो नियमसे उसमें यह कला है कि अपने स्वरूपसे ही मैं हू, किसी परस्वरूपसे मै नही हूँ । जैसे स्याद्वाद विधिसे यो कहा गया है कि यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है और परके द्रव्य क्षेत्र, काल, भावसे नही है । इस निर्णयमे सभी समस्यावोका समाधान पडा हुआ है कि अपने द्रव्यसे हू, परके द्रव्यसे नही हू अर्थात् अपने गुणपर्यायोके पिण्ड रूपसे ही मैं हू, अन्य पदाथके गुण पर्याय के पिण्डरूपसे मैं नही हू । मुझमे किसी अन्यका प्रवेश नही है, मेरा किसी अन्यमे प्रवेश नही है, अपने आप रूप ही सदा रहता हू, अन्य सब पदार्थ सदा अपने-अपने रूप ही सदा रहते है । वस्तुतः देखा जाय तो इस आत्माके लिए कोई कष्ट नही, कोई परेशानी नही, जरा भी हैरानी नही । यह यह है और अपनेमे परिणमता रहता है । यो काम चल रहा है । थोडी देरको मान लो कि इसमे चेतना नही हो और वस्तु है तथा परिणमता है तब तो कुछ कष्ट मालूम ही न देगा । लेकिन यह कैसे हो सकता है कि मेरेमे ज्ञान नही है, मेरेमे चेतना नही है, वह तो स्वरूप ही है, किसी असाधारण स्वरूपके बिना कोई पदार्थ अपना अस्तित्व नही रख सकता । कोई भी पदार्थ हो तो उसमे उसका असाधारण स्वरूप अवश्य है । मुझमे चेतना है, अब क्या करें ? अच्छा होता कि मैं आकाश आदिक पदार्थोंकी भाँति होता तो मुझमे चेतना न होती । इसमे क्या लाभ होता कि कोई लाठी भी मारे, कोई जला भी दे तो इसका क्या नुक्सान ? लेकिन चैतन्य तो मेरा असाधारण स्वरूप है, इसमे भिन्न-भिन्न समझ है, वह विकल्प करता है, सोचता है और उसके सोचमे यह दु खी होता है । न हो चेतना मुझमे

दु खी नही होना पडता, लेकिन यह वात कही कैसे जा सकती है ? मान लो मुझमे चेतना न होती तो और कुछ होता । किसी असाधारण स्वभावके विना वस्तुकी सत्ता नही रह सकती। कोई भी पदार्थ है, उसमे कोई असाधारण स्वरूप अवश्य है, पुद्गल है, उसमे मूर्तपना है, धर्मद्रव्य है, उसमे गतिहेतुत्व है, अधर्मद्रव्यमे स्थितिहेतुत्व है, आकाशद्रव्यमे अवगाहनहेतुत्व है, कालमे परिणमनहेतुत्व है, तो मै जव हू तो मुझमे कोई असाधारण स्वरूप चाहिए । चैतन्यमे घवडाते क्यो हो ? अरे चेतन हूं, मेरा चैतन्यस्वरूप है, तो वह तो परमपवित्रताकी वात है । जगतके सव पदार्थोमे आकुलताकी वात लग गई है, खेद तो इसपर करना चाहिए कि इस चेतनामे कोइ अन्य भाव विकार औपाधिक वातें क्यो आयें ? ये आयें तो उसपर खेद होना चाहिए । चेतनपर खेद मत करें कि मुझमे चेतना पडी है, इसलिए दु खी होते । अरे चेतना की तो उत्कृष्टता है, कोई भी पदार्थ हो, अपना असाधारण स्वरूप तो रखता ही है । चेतन हूं तो ठीक है । अव इसकी पवित्रता रहे, इसमे कोई दोष न आये, यह वात चाहिए । तो मैं अपने द्रव्यसे हू, अपने चेतन पिण्डरूप हू, परमे मेरा नाता नही, परसे कोई वास्ता नही, ऐसा प्रकाश यदि आ जाय तो इसका कल्याण हो जाय ।

धर्मके पूरे उद्यमनकी आवश्यकता—अभी तो लोग थोडा धर्मकार्य भी करते हैं, फिर मोहकी पीर सह लेते है, फिर थोडा धर्म करते हैं, फिर मोहकी पिटाई सह लेते हैं, फिर कुछ धर्म करते है । अरे जरा एक वार रागद्वेष मोहकी पिटाई विल्कुल अलग करके सच्चे भावसे एक क्षणको भी पूर्णतया श्रद्धामे ही एक धर्मभावमे आ जाते हैं तो उससे कुछ रास्ता भी कटेगा । चलो मैं इतना मोक्षकी ओर वढ तो गया, लेकिन इस वेढगी राहमे कि रागद्वेष मोह छोडते नही, वे तो चित्तमे सदा वने रहे और थोडा धर्मके कार्योमे भी लगें, कुछ पूजन कर लिया, कुछ धार्मिक विधान कर लिया तो उससे मोक्षमार्गमें जरा भी नही चलते है, क्यो कि मोक्षमार्गका विरोधी तत्त्व जो रागद्वेष मोह है उससे तो जरा भी मुडना न चाहेगे, तो वतलावो कि व्यावहारिक इन धार्मिक प्रवृत्तियोसे जरा भी मोक्ष मार्गमे चल सके क्या ? मोक्षके मार्गमे जरा भी वढ सके क्या ? धर्म करें, धर्मसे शान्ति मिलती है, यह वात तो सत्य है, मगर वह धर्म क्या है और किस तरह किया जाता है ? यह ज्ञात नही है । धर्मका एक मामूली शब्द तो सवको याद है । जैसे जव कभी चन्द्र और सूर्यग्रहण पडते हैं तो उस समय मे हजारो-लाखो भिखारी लोग यह उपदेश देते है कि धर्म करो, धर्म करो । उनका यह उपदेश इसलिए है कि पाव-आधपाव अन्न मिल जाय । तो धर्म करनेकी वात तो सभी करते हैं और कुछ लोग उनमे विवेकी होते है तो धर्मके कोई कार्य भी करते है, मगर धर्म क्या है, कैसे किया जाता है, यह वडे विवेकसे समझने लायक वात है । यो ही ढीले दिमागसे सोचनेकी वात नही वन पाती । धर्म क्या है ? जो वस्तुका स्वभाव है सो धर्म है । मेरा धर्म क्या है ? मेरा

जो स्वभाव है सो धर्म है। मेरा धर्म क्या है ? मेरा स्वभाव क्या है ? यह चैतन्य असाधारण स्वभाव जिस रूप ही यह द्रव्य रहता है वह चैतन्यस्वभाव। मेरा काम क्या है ? काम यदि किसीका वास्तविक समझना है तो निरपेक्षताकी सभावनासे समझ सकेंगे। यह आत्मा केवल अपने आप किसी भी परपदार्थकी अपेक्षा न रखकर स्वय किस रूप परिणमता है, बस वही उसका काम है और इसी काममे उसे समर्थ समझिये। भला एक ढाई मनका बोझ यदि चार आदमी मिलकर उठा पाते हैं तो वहाँ यह तो नही कह सकते कि एक आदमीमे ढाई मनका बोझ उठानेकी सामर्थ्य है, क्योकि ढाई मनका बोझ उठानेके लिए तीन आदमियोकी अपेक्षा रखकर उठा पाया है। इस कारण यह बात समझे कि एक आदमीमे ढाई मनका बोझ उठाने की सामर्थ्य है, वहाँ कहा यो जाता है, अगर न उठाता तो तीनकी अपेक्षा करके भी नही उठा पाता। जैसे कोई मसालेका आदमी बना दिया जाय, काठका बना दिया जाय और उससे कहा जाय कि लो यह बोझ उठाओ तो क्या वह उठा सकेगा ? कुछ भी बोझ नही उठा सकता। तो तर्कणायें कर दी जायेंगी, मगर मूलमे देखो कि अगर एक आदमीमे ढाई मनका बोझ उठानेकी सामर्थ्य हो तो बिना परकी अपेक्षाके उठा देवे। जैसे यहाँ मान सकते है कि एक आदमीमे ढाई मनका बोझ उठानेकी सामर्थ्य नही है। भले ही कभी उठाये तो परकी अपेक्षा करके उठा पाता है, इसी तरह इस मुझ आत्मामे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप परिणमनेकी सामर्थ्य नही है। होता उस अपनेमे मिथ्यात्व तो निरपेक्ष बना रहता है। यद्यपि अनादिसे मिथ्यात्वरूप परिणति इस जीवकी चल रही है। ऐसा कभी नही होता कि पहिले यह सिद्ध हुआ हो और पीछे मिथ्यात्व लगा हो। नही होता ऐसा, उसका कारण है कि पर-सापेक्षता अनादिसे ही चल रही है, लेकिन इस आत्मामे स्वतत्रतया मिथ्यात्व परिणमनेकी सामर्थ्य होती तो फिर यह कभी मिथ्यात्व हट ही नही सकता था। तो अपनेमे यह उत्साह लावें कि मुझमे सम्यग्ज्ञान चारित्ररूप परिणमनेकी सामर्थ्य है, मिथ्यादर्शन आदिक रूप परि-णमनेकी सामर्थ्य मुझमे नही है। यद्यपि मै विभावरूप परिणम रहा हू, सो तो ठीक है। कदाचित् यह आत्मा बिगड जाय, विकृत हो जाय, क्रुद्ध हो जाय तो यह अपना बिगाड कर लेता है। मगर यह उसकी क्रुद्ध होनेकी स्थिति है। इस समय ससारी जीवोका यह आत्मप्रभु बडे गुस्सेमे लगा हुआ है। दूसरेपर गुस्सेकी बात नही कह रहे, खुदके अपने आपके गुणोको बरबाद करनेपर तुला है, इतना तेज गुस्सा कर रहा है अपने आपपर।

अपना अन्यमे असम्बंध—वस्तुत्वदृष्टिसे देखिये—अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किस प्रकार है और उसमे भी परकी जरा भी अपेक्षा नही रही, तो उस समय यह किस प्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, इस बातपर कुछ विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो अपना कल्याण अपने आप सुलभ प्राप्त होगा। मैं अपने द्रव्यसे हू अर्थात् अपने ही गुणपर्यायोंके पि

से हू, दूसरे द्रव्यके गुण पर्याय स्वरूपसे नही हू । मतलबको। कहाँ गुजाइश है कि यह लडका ग्रापका है, यह घर ग्रापका है, यह शरीर ग्रापका है ? थोडासा वह कह डालेंगे कि वाह ! हमारे मकानकी, मकानके लोगोकी नगरपालिकामे रजिस्ट्री है, कैसे हमारे नही है ? देखिये— बच्चा जब घरमे उत्पन्न होता है तो वह भी दर्ज कर लिया जाता है । तो यही हुई बच्चोकी रजिस्ट्री । तो भाई ठीक है, रजिस्ट्री तो है, मगर इस मायामयी दुनियामे मोही-मोही सब मिल गए है ग्रौर इन मोही लोगोने जो व्यवस्था बनायी है वह मोहमयी व्यवस्था बनायी है। इन मायामय पुरुषोकी व्यवस्था तो मायामय ही बनेगी, सत्य व्यवस्था न बनेगी । यो तो जब स्वप्न देखते है तो ऐसा लगता है कि यह सब तो बिल्कुल सत्य है, यह हमारा ही तो है, ये लोग हमारे ही तो है, मेरे ही तो साथी है , लेकिन जब स्वप्न दूर होता है, निद्रा खुलती है, तो मालूम होता है कि ग्ररे जो ग्रभी रजिस्टर्ड जच रहा था वह सब मायारूप था । इसी तरह जब तक कोई वस्तुस्वरूपके ग्रध्ययनमे नही है, उसमे ग्रनभिज्ञ है ग्रौर मायामय ग्रज्ञानमयी बातोमे उपयोगको लगाये है, उस समयमे उसे मन नही लग रहा है, ग्ररे है तो नगरपालिकामे रजिस्टर्ड मेरे बच्चे, मेरे मकान ग्रादिक । यह सब बिल्कुल सत्य मालूम होता है, लेकिन जब ग्रज्ञानकी निद्रा भग होती है, ग्रपने ग्रापके इस वस्तुस्वरूपका प्रकाश प्रकट होता है तो वहाँ बिल्कुल स्पष्ट लगता है कि पूरा ग्रज्ञान है, कोरी कल्पना है, मेरा यहाँ कुछ नही है, मैं तो ग्रपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हू, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नही हू, फिर कोई भी पर मेरा कैसे हो सकता है ? जैसे यह मकान ग्रपने स्वयके चतुष्टयसे है ग्रौर यह मैं जीव ग्रपने स्वयके चैतन्य चतुष्टयसे हू, इसी प्रकार ये पुत्र मित्रादिक जीव, ये उसी चेतनके चतुष्टयसे है । मै ग्रपने चैतन्यके चतुष्टयसे हू, जैसे वैभव घर ग्रादिकसे मैं ग्रत्यन्त निराला हू वैसे ही सब जीवोसे हू ।

चेतन परिग्रहके सम्बन्धसे हैरानियोकी ग्रधिकता—ग्रहो, देखो भैया ! जितनी हैरानी चेतन परिग्रहके सम्बधसे ग्राती है उतनी हैरानी ग्रचेतन परिग्रहके सम्बन्धसे नही ग्राती । ग्रचेतन परिग्रहमे हम एक तरफा राग करेंगे, ग्रौर उसका जवाब ग्रचेतन परिग्रह हमे कुछ न देगा । घडी बहुत सुहावनी है तो हम कह उठते है कि देखो यह घडी तो बडी सुहावनी है, पर घडी भी क्या यह कह सकेगी कि तुम भी मेरे लिए बडे सुहावने हो ? घडी कुछ नही कहती, पर एक छोटे २-३ माहके बच्चेको भी ग्रगर ग्राप कुछ कुछ हसकर बोलते है तो झट वह गोदमे ग्रानेके लिए ग्रपने हाथ फैलाने लगता है, कुछ मुस्कराने सा लगता है । उसका हाथ फैलानेका ग्रर्थ है कि मुझे ग्रपनी गोदमे ले लो । तो देखिये—चेतन परिग्रहने तन, मन, वचन ग्रादिसे कुछ चेष्टायें किया, पर ग्रचेतन परिग्रहने कुछ भी चेष्टाये नही किया। तो चेतन परिग्रहसे इस जीवको राग बढानेमे उत्साह मिलता है । तो यह चेतन परिग्रह ग्रचे-

तन परिग्रहसे बहुत अधिक भयकर है, लेकिन रागकी बेसुधी ऐसी है कि जो बेसुधी है वह बरबादीका हेतुभूत है, दीनताका कारण है, कषायोकी निकृष्ट स्थितिका निमित्त है। उस चेतन परिग्रहमे यह जीव राजी रहता है, और कदाचित् किसी चेतन परिग्रहका वियोग हो जाय तो यह अपना सारा जीवन किरकिरा समझता है। शून्य हो गया मेरा जीवन, जिन्दगी कुछ न रही, उसमे यह उत्साह नही कर सकता कि बडा ही अच्छा हो गया। चलो रागका एक आश्रय तो मिटा, अपने आपके स्वरूपकी ओर उन्मुख रहनेसे मैं अपना शरण पा गया हू, मैं अपने स्वरूपमे रमकर अपना कल्याण करूँगा, यह बुद्धि नही जग सकती।

वस्तुत्वदृष्टिसे तत्त्वमर्मके अवधारणसे धर्मका प्रकाश—जो वस्तुत्वको ठीक समझ लेते हैं उनके धर्म हो गया और जो वस्तुत्वसे अनभिज्ञ हो गए, वे ही धर्मके नामपर रात-दिन कितने ही कष्ट करें, पर वहाँ धर्मदृष्टिका धर्म न होगा। थोडा मद कषाय होनेसे पुण्यबध हो जाता है। उसके फलमे थोडा वैभव और मिल जायगा, देवगति मिल जायगी, इतनाभर हो गया, पर ससारका सकट न टलेगा। तो यह बात, यह अवसर, यह मौका, यह मनुष्यभवका समागम, ये कितने श्रेष्ठ अवसर है? इनकी दुर्लभता जानकर इनका उपयोग अच्छे कामोके लिए किया जाय। विषयकषायोके प्रयोगके लिए इनका उपयोग मत करो। मै वस्तु हू, अपने ही द्रव्यसे हू, परद्रव्यसे नही हू, तब परद्रव्य मेरे कुछ नही, मै ही मेरा हू, ऐसा वस्तुत्वदृष्टिमे निर्णय होता है। मैं अपने क्षेत्रसे हू, परक्षेत्रसे नही हू, कितना जुदा हू मै कि मै अपने प्रदेशोसे ही हू, दूसरेके प्रदेशोसे नही हू। दूसरे रूप कोई त्रिकाल हो ही नही सकता। यद्यपि मेरे प्रदेश मे एक क्षेत्रावगाह रूपसे कर्म रह रहे है, शरीर रह रहा है, और और कुछ भी रह रहा हो, लेकिन मेरे प्रदेशोमे उनका अस्तित्व नही है। मेरे प्रदेशोमे मेरा अस्तित्व है, दूसरेके प्रदेशोमे ही दूसरेका अस्तित्व है। जैसे कोई दो चीजें मिली हुई हो, एक क्षेत्रावगाह रह रही हो और उनमे कोई ऐसा रसायन डाला जाय कि जहाँ असर केवल एक चीजपर पडे, दूसरी चीजपर नही, तो उस रसायनके डालनेपर एक चीजपर ही असर आयगा दूसरेपर नही, क्योकि वह अपने प्रदेशोमे है, वह अपने प्रदेशोमे है। जब प्रदेश जुदे-जुदे है तब फिर मेरा जगतमे क्या है? कौनसा चेतन और अचेतन पदार्थ मेरा हो सकता है? मै अपने क्षेत्रसे हू, परक्षेत्रसे नही हू। इसी तरह आगे और भी समझिये कि अपने कालसे हू, परके कालसे नही हू अर्थात् अपनी ही परिणतिसे मैं परिणमता हू, किसी अन्यकी परिणतिसे मै नही परिणमता। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मेरा सुधार-बिगाड कोई दूसरा नही करता, दूसरेका सुधार-बिगाड मैं नही कर सकता। तो जब कुछ भी करनेका सम्बन्ध नही है मेरा किसी अन्य पदार्थके साथ तो मेरा कोई क्या लग सकता है, किसीका मै क्यो हो सकता हू? मै अन्य सबसे अत्यत निराला हूँ।

अज्ञानसे ममताके संस्कारकी विडम्बना—अहो! इस जीवमे पहिलेके अज्ञानका ऐ

विकल्प सस्कार पडा हुआ है कि एक क्षणको भी पूरं उद्यमके साथ इस तरह माननेको तैयार नही होता कि मेरा तो मात्र मै ही हू । घरका कोई बच्चा बीमार हो जाय तो उसके लिए कर्ज करके इलाज करानेको तैयार है, यह सब सम्पदा लगाकर इलाज करनेको तैयार है और किसी पडौसमे कोई दूसरा जीव बीमार हो तो उसके लिए दो रुपये खर्च करनेके लिए भी बहुत सोचना पडता है । देखिये—यह कितना फर्क हो गया ? जब कि सब जीव समान हैं, और घरमे उत्पन्न हुए जीव भी उतने ही निराले हैं जितने कि निराले अन्य जीव है, पर इतना विकट अन्तर जो उपयोगमे डाल रखा है यह तीव्र मोहकी निशानी नही है क्या ? यद्यपि घर मे रह रहे है तो वहाँ यह जिम्मेदारी है कि घरके बच्चोसे राग किया जाय और उनका पालन-पोपण किया जाय और सभी गृहस्थोका ऐसा कर्तव्य होता है तो सब अपने-अपने बच्चो का निभाव करते है, लेकिन मौका आनेपर कोई दूसरा जीव तकलीफ पावे, ऐसी बात देखनेपर तो चित्तमे दया आनी चाहिए और तन, मन, धन, वचन सबसे यथाशक्ति उसका भी प्रति-कार करना चाहिए, पर करनेको चित्त नही चाहता है, तो यह तीव्र मोहकी निशानी है । मैं किसी परमे क्या कर सकता हू ? कोई पर मुझमे क्या कर सकता है ? जब प्रकट भिन्नता हैं इस कालदृष्टिसे भी, तो निर्णय करना चाहिए कि मुझे किसी अन्यसे कुछ भी प्रयोजन नही है । कही कैसा ही कुछ बन रहा तो, कैसा ही कुछ परिणमता रहे, मेरेको उससे कोई प्रयो-जन नही । मैं अपने कालसे हू, परद्रव्यके कालसे नही हू, वस्तुत्वदृष्टिमे इस ज्ञानी जीवकी क्या दृष्टि बनती है और क्या स्वभाव होता है ? उसपर उसका कथन चल रहा है । मैं अपने भाव से हू, परके भावसे नही हू । भावका अर्थ यहाँ गुण और स्वभाव है ? भावको दो विधियोसे देखा जाता है, भेदरूपभाव, अभेदरूपभाव । जब मैं अभेदरूपभावपर दृष्टि देता हू तो यह मात्र चैतन्यस्वभाव ही दृष्टिमे आता है । वहाँ भी मैं अपने चैतन्यस्वभावसे हू, दूसरेके चैतन्यस्वभाव से नही हू । देखिये—यह सब समझनेका प्रकरण चल रहा है, अनुभवका प्रकरण नही चल रहा है । अनुभवके प्रकरणमे यह मेरा चैतन्यस्वभाव, यह दूसरेका चैतन्यस्वभाव, यह भेद नही हुआ करता । अनुभव करने वाला यह मैं यह तक भी भूल जाता है, अनुभवी और एक चैतन्यस्वभाव ही उसे दृष्टिगत होता है । यद्यपि वहाँ भी व्यक्ति नष्ट नही होता । जो व्यक्ति है, जो सत् है, जो आत्मा है वह वही है और वह स्वभावमय है, वह अपने स्वभावमे ही रह रहा है । स्वभावका अनुभव करता रहता है, कही अन्य प्रदेशोमे नही कर रहा, इतनेपर भी इस अनुभव करने वालेको ऐसा होते रहनेपर भी न तो मेरेका सुध है और न मैं का सुध है, वह अनुभवकी स्थिति है, पर उस अनुभवके लिए जो निर्णय की जाने वाली बात है, उसकी बात कही जा रही है । प्रत्येक आत्मा अपने चैतन्यस्वभावसे है, परके चैतन्यस्वभावसे नही है, पर-द्रव्यके भावसे नही है, अब भेदभावकी दृष्टिसे देखें तो मुझमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द

आदिक अनेक भाव है, अनेक गुण है । मै उन ही केवल गुणोसे हू, किसी परद्रव्यके गुणोसे नही हू । तब ऐसा अंतर है वस्तुत्वदृष्टिका, जहाँ यह बता दिया है कि मै वस्तु अपने रूपमे ही हू, किसी भी परके रूपमे, किसी भी पद्धतिमे त्रिकाल हो ही नही सकता । तब मान तो लेना चाहिए भीतर कि मेरा मात्र मै हू । मेरे सिवाय मेरा अन्य कुछ भी नही है । सब धोखा है । जो माना जा रहा है बाह्यमे कि यह मेरा है तो वस्तुत्वदृष्टिसे अपूर्व भेदविज्ञानकी बात प्रकट होती है और भेदविज्ञानके बलसे जब अपने स्वरूपका सही निर्णय बन गया तो इसके कल्याण मे फिर कोई विलम्ब नही होता । जिन्हे अपने आपका कल्याण चाहिए उनको अब अपना रास्ता बदल देना चाहिए, वही बेढगी रफ्तार जो पहिले थी, रहेगी, तो जैसे अनेक जीवन व्यर्थ खो दिए, ऐसे ही यह मनुष्यजीवन भी व्यर्थ खो दिया समझिये—ज्ञानार्जनके लिए उद्यम करें तो सत्सग बनायें और अपने तनका, मनका, वचनका, जो भी आपको समागम प्राप्त हुए है सर्व समागमोका उपयोग अपने आपके ज्ञानार्जनके लिए बनायें, और सब जीवोको समान जानकर सबके उपकारके लिए अपना प्राप्त समागम बनायें तो यह तो कल्याणकी बात होगी, अन्यथा तो साराका सारा प्राप्त समागम व्यर्थ ही जायगा ।

वस्तुत्वदृष्टिसे एकत्वविभक्त आत्माका निर्णय—वस्तुत्वदृष्टिमे कैसी दृष्टि बनती है ? इसका प्रकरण चलाइये अब अपने अन्तरमे वस्तु कहते है उसे जिसमे अर्थक्रिया हो, जिसमे परिणमन हो । वस्तुका दूसरा लक्षण यह भी है कि अपने स्वरूपसे हो और परस्वरूपसे न हो उसे वस्तु कहते है । वस्तुका तीसरा लक्षण यह भी कह सकते है कि जिसमे गुणपर्यायें बसें उसे वस्तु कहते है । पर कितने भी लक्षण करो, लक्षणोका परस्पर विरोध नही आता । अर्थक्रिया वहाँ ही बन सकती है जहाँ स्वरूपसे सत् हो और पररूपसे असत् हो । अपने द्रव्य से पदार्थ है और दूसरेके पिण्डसे नही है । इसमे यह भेदविज्ञान आया कि मैं अपने स्वरूपमात्र हू, किसी अन्य वस्तुके पदार्थरूप रच भी नही हू, फिर मोह किनमे करना ? अज्ञान मिटनेका नाम है मोहका मिटना । मोह तो आसानीसे मिटाया जा सकता है । वस्तुका जो स्वरूप है उसका वैसा ही ज्ञान करलें, भीतरमे वैसा ही ज्ञान बनाये रहे, वैसा ही निर्णय बनाये रहे तो कहेगे कि अज्ञान नही रहा, इसीका अर्थ है मोह नही रहा । लोग रागभाव देखकर यह कह दिया करते है कि जब तक घरमे रहते है तब तक मोह कैसे दूर हो सकता है ? यो शका करते है, और उनकी धारणा बन जाती है कि घरमे रहते हुए मोह तो रहेगा ही, लेकिन उनकी यह धारणा गलत है । घरमे रहते हुए राग रहेगा ही. यह बात तो सही है, राग बिना कोई घरमे रह नही सकता, किन्तु मोह बिना भी घरमे रहा जा सकता है । और उसका आधार है राग । जहा अज्ञान मिट गया उसे कहते है मोह मिट गया, पर प्रीति है, लगाव है, परिस्थिति है, उसके विना गुजारा नही है । तो इसे कहेगे कि राग है,

सावधानी फिर भी बर्तना चाहिए। यह राग ही अपनी दिशा बढाकर मोहका रूप रख लेता है। दूसरी बात यह है कि जो कल्याणका इच्छुक पुरुष है उसे ऐसा निर्णय नही है कि मुझे मोह न चाहिए, राग चाहिए। जो रागको रच भी चाहता है उसीका नाम तो मोह है, क्यो कि उसके अज्ञान लगा है। रागको वह चाह रहा है, रागसे वह कल्याण समझता है। तो जो कल्याणार्थी पुरुष है, वे न मोह चाहते, न राग, इसलिए राग भी मिटे ऐसा यत्न करना चाहिए। यह वस्तुत्व दृष्टि यह भेदविज्ञान उत्पन्न कर रही है इसमे सबसे पृथक् अपने आपमे समस्त वस्तुका अवलोकन करा रही है। वस्तुत्वकी दृष्टिसे यह देखा था कि मैं अपने प्रदेशमे हू, किसी दूसरे पदार्थके प्रदेशमे रचमात्र भी नही हू। लोकव्यवहारमे कहते है कि हम तुममे है, तुम हममे हो, हमारी तुममे प्रीति है, तुम्हारी हममे प्रीति है, यह सब मिथ्या प्रलाप है। मैं अपने प्रदेशोको छोडकर बाहर रच भी नही जा सकता। कोई बाहरी पदार्थ अपने प्रदेशो को छोडकर मुझमे कदापि नही आ सकता है। वहाँ मैं अपने क्षेत्रसे हू, समस्त वस्तुवें अपने क्षेत्रसे है। एक जगह जीव भी रह रहा, कर्म भी रह रहे, फिर भी कर्म अपने प्रदेशमे है, मैं अपने प्रदेशमे हू, यह है क्षेत्रदृष्टिसे वस्तुत्वका निर्णय। कालसे आत्मद्रव्यके वस्तुत्वका निर्णय देखिये—यहाँ यह दृष्टिमे आता है कि मैं प्रतिक्षण अपनी पर्यायोमे ही तन्मय हू, अपनी ही पर्यायोसे परिणमता हू, किसी अन्य पदार्थमे पर्यायमे तन्मय नही हू, उसमे नही परिणमता। लोग कहते है कि हमारा तुममे प्रेम है लेकिन यह बात तो बिल्कुल मिथ्या है। वस्तुत्वदृष्टिसे देखा जाय तो यह भी नही कह सकते कि हमारा इसमे ज्ञान लगा है। जैसे लोगोके देखनेमे जरा शीघ्र समझमे ऐसा आता है कि मेरा ज्ञान अलमारीमे पहुच गया, मेरा ज्ञान बाह्य पदार्थ मे पहुच गया, लेकिन ज्ञान तो अपने आधारभूत आत्माको छोडकर अन्य जगह नही जाता है। हाँ इस ज्ञानमे यही रहते हुएमे बाह्यपदार्थ ज्ञेय हो जाते है, ऐसा आत्माका बाह्यपदार्थसे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध तो ज्ञानमे होता है, बाह्यपदार्थ ज्ञेय होता है, लेकिन यह ज्ञान अपनी जगह छोडकर बाहरी पदार्थोमे जा जा करके ज्ञान करता हो, सो नही है। मैं अपने ही ज्ञानपर्यायमे तन्मय हू, किसी बाहरी पदार्थमे नही हू। तो मैं अपने ही अज्ञानसे रागसे जिस किसी भी भावसे परिणमता हू, मैं ही परिणमता हू, दूसरा कोई नही परिणमता मेरे साथ। तो मैं पर्यायदृष्टिसे भी समस्त पदार्थोसे निराला दिख रहा हू। भावदृष्टिसे यह ज्ञान बना कि मैं अपने गुणोमे ही तन्मय हू, किसी दूसरे पदार्थके गुणोसे मैं तन्मय नही हू। मैं अपने ही ज्ञानदर्शन आनन्द आदिक गुणोमे तन्मय रहता हू, किसी दूसरेके गुणोमे तन्मय नही रहता। तब समझना चाहिए कि सभी जीव अपने आपमे अपना पूरा सब कुछ कर रहे रहे हैं। कोई किसी अन्यमे प्रविष्ट नहीं है।

अपने एकत्वके परिचयसे धर्मोत्साहकी विशेषता—कभी चार आदमी मिलकर रो रहे

हो तो कही वे मिलकर नही रो रहे। मिलकर रो ही नही सकते। वे चारो अलग-अलग अपने-अपने भावोमे अपनी-अपनी कल्पनायें बनाकर रो रहे है। कही चारोका मिलकर रोना हो सकता है? चारो अलग-अलग हो गए। कोई कहता है कि ये मिलकर सुखी है। अरे मिलकर कोई सुखी हो सकेगा क्या? अगर चार आदमी मिलकर कोई सुख मान रहे है तो वे अपना-अपना अलग-अलग सुख मान रहे है। कोई एक सुख नही है कि एक सुखको चार लोगोने मिलकर भोगा। अरे जितने लोग है उतने ही उनके सुखपरिणमन है। सभी अपने-अपने सुखपरिणमनसे परिणमते है। कितना महान अवकार है जीवोपर कि इस दुनियामे क्या क्या वे चाहते है? जैसे सन् १९७० मे ही बगला देशपर जो इतना नरसहार हुआ वह केवल एक कुर्सी (सीट) पानेके लिए हुआ। विचित्रता यह देखिये कि वहाँ तो हो रहा था इतना नर-सहार और यहाँ भुट्टो कह रहे थे कि जल्दी बैठक बुलवावो और मत्री चुन लो। अवामी लीग को तो गैर करार कर दिया है। तो रच भी दया चित्तमे नही वसती है। केवल एक जो मिथ्याभाव आया है उसके पोपणके लिए। हे आत्मन्! जरा थोडा अपनेमे चित्रण तो करो कि यदि मैं यहाँ अभी गुजर गया, शरीरसे जुदा हो गया, लोकके न जाने किस कोनेमे पैदा हो गया तो फिर इस मुझके लिए ये सब ठाठ क्या है, जिसके लिए इतना मोह बनाते, जिसके लिए इतनी तरकीबे लडाते, यह सब क्या चीज है? यह कुछ भी नही है और अपने को ऐसी स्थितिमे लाइये। नीतिकार भी कहते हैं कि "अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ अर्थात् धन और विद्या इन दो चीजोका वही पुरुष अर्जन कर सकता है जो अपने आपको अजर अमरकी तरह मानता है, अर्थात् कोई यह ध्यानमे लाये कि मैं तो अभी घटा भरमे ही मर जाऊँगा तो फिर वह धन जोडनेकी बात कैसे कर सकता है? क्या किसी मरते हुए व्यक्तिको ऐसा देखा कि वह धन जोडनेके बारेमे बहुत फिक्र कर रहा हो या विकल्प कर रहा हो? अरे वह तो मर रहा है। तो धन वह जोड सकता है जो अपनेको ऐसा मान बैठा हो कि मै तो अजर अमर हू। इसी तरह नाना तरह की विद्यावोका अर्जन वह कर सकता है जो अपनेको अजर अमर मानता हो। अर्थात् बहुत काल तक मै जीवित रहूगा, ऐसा जो समझता हो वही धन और विद्याका अर्जन कर सकता है। लेकिन धर्मका आचरण वह करेगा जो माने कि एक मिनटका भी मेरे जीवनका भरोसा नही है ऐसी जिसकी दृष्टि होगी उसको धर्मपालन करनेकी बात मनमें आयगी। धर्म करे, समता करे, शान्त रहे, विषयकषायोसे दूर रहे, ऐसा पुरुप सोचेगा कि मृत्युका कोई भरोसा नही। तो ऐसी कल्पना चित्तमे लावो कि धन जोडकर भी कोई लाभ न होगा और जो विद्या है उस विद्याको जोडकर भी कोई लाभ न होगा। हाँ धर्मसे सम्बध रखने वाली जो विद्या है वह तो क्षणमात्रमे उत्पन्न हो जाती है। उसका तो अपने अनुभवसे सम्बध है। तो

वस्तुत्वदृष्टिसे भेदविज्ञानकी शिक्षा लेकर हमको अपने आपमे कुछ बढना चाहिए । भेदविज्ञान की भावना बनायें और विषयकषायोसे आग्रह अपना दूर करे ।

अभिन्नकर्मत्वदृष्टिसे आत्मापर धर्मप्रभावका आख्यान—अब एक नया प्रश्न आता है कि अभिन्नकर्मत्वकी दृष्टिमे कैसी दृष्टि बनती है ? अभिन्नकर्मत्वका अर्थ है कि मेरा कर्म मुझसे भिन्न नही है, मेरी करतूत मेरेसे भिन्न नही है । ऐसी बात जब भीतरमे निरखते हैं तो उस समय क्या प्रभाव होता है, क्या दृष्टि बनती है ? ऐसा एक प्रश्न होता है । समाधान उसका सीधा है । मैं अपना ही कर्म कर सकता हू, मैं अपना ही भाव कर सकता हू । अपने भावके सिवाय अन्य कुछ करनेमे मेरी सामर्थ्य नही है । आप अपने बच्चेसे जरासा पानी भी पीनेको मगायें और उसका चित्त हो खेल वगैरामे, तो वह झट भाग जायगा, आपको पानी तक न देगा । हट्टा-कट्टा स्थितिमे भी वह बालक आपकी बात नही मानता है । कदाचित् कोई बालक आपकी बात मानता है तो उसके चित्तमे यह बात बैठी है कि यदि मैं इनकी आज्ञामे चलूगा, कुछ प्रिय तोतले वचन बोल दिया करूँगा तब तो ये सब लोग बुद्धू बनकर हमारी सेवा करते फिरेंगे । हमारे सुखके लिए ये सब बडा कष्ट भी उठानेको तैयार रहेगे । ' यह बात छोटे-छोटे बच्चोमे भी बसी हुई है । चाहे वह इन शब्दोमे कहे नही, पर उनके चित्तमे वह बात बसी हुई अवश्य है । तो कोई किसीका काम करता है क्या ? जो करता है वह अपना ही करता है, और फिर हाथ पैरसे किये जाने वाले कार्यकी बात नही कह रहे हैं । ये काम तो इस आत्माके है ही नही, आत्माका काम तो भाव करता है । आत्मा जब भाव करता है तो निमित्तनैमित्तिक सम्बधवश ये सब बातें होती रहती है । जीवने भाव किया, इच्छा की, तब उस प्रकारका योग हुआ, प्रदेश परिस्पद हुआ, फिर उसके अनुसार शरीरमे रहने वाली वायुकी गति हुई, उसके अनुसार शरीरके अग चले, और उसके अनुसार जो बाह्य पदार्थ फसा उसमे परिणमन हुआ । तो यो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे हुआ सब कुछ, पर इस आत्माने किया कुछ नही । यह मैं आत्मा वस्तुतः अपने ओठ तक भी नही हिला सकता । अब आप सोचते होगे कि इतना बोल रहे हैं, जल्दी-जल्दी ओठ, दाँत, जीभ आदिक सब चल रहे हैं, वचन निकल रहे है और कहा यह जा रहा है कि ओठ भी नही हिला सकते । तो आप सोचिये कि यहाँ "मैं" नाम किसका है ? मैं एक आत्मा हू, अमूर्त हू, ज्ञानमात्र हू, मेरी पुद्गलसे भिडत नही है, मैं पुद्गलमे ठोकर नही लगा सकता । अमूर्त हू, प्रतिघातरहित हू, लेकिन मलिन स्थितिमे यह अमूर्त आत्मा बधनमे पडा रहता है । जीवका निमित्त पाकर नाना योग परिस्पद हो रहे है, वहाँ ये प्रक्रियायें हुई । भावोकी बडी तेज गति है । वह बोलता जाता है और प्रत्येक अक्षर यह बोलता है । कितनी जल्दी-जल्दी वह अपना काम कर रहा है ? जैसे मानो एक मिनटमे १०० शब्द बोल दिये तो प्रत्येक शब्द बोलनेकी इसके इच्छा बनी । अब आप समझ लीजिए कि इच्छा कितनी

जल्दी-जल्दी बनती गई और वे अक्षर कैसे जल्दी-जल्दी बोले गए कि बराबर सदर्भसहित बिना विच्छेदके प्रकरण माफिक इतने शब्द बोले जा रहे है। तो इतना सम्बन्ध है लेकिन आत्माने तो केवल भाव भर ही किया और कुछ नही किया। उस भावके होनेपर इच्छाके होनेपर आत्माके प्रदेशमे उसके अनुरूप हलन-चलन हुआ। उस हलन-चलनके अनुरूप इसके एक क्षेत्रावगाह रहने वाले शरीरमे वायु चली, हलन-चलन हुआ और हो रहे सब उसके अनुरूप, जैसी कि मूलमे भाव और इच्छा जीवने बनाया है तो उस तरहके ओठ, दात, कठ आदिक चले तो फिर शब्दोकी रचना बन गई। तो यहाँ भी मै वस्तुतः ओठका हिला सकने वाला भी नही हू। हिल रहे है, निमित्तनैमित्तिक सम्बध है, ऐसा लेकिन मै तो केवल भाव भर कर रहा हू। अब आप बतलावो कि जब में ओठ तक हिलानेका अधिकारी निश्चयतः नही हो सकता तो जो बाह्य पदार्थोंको लोग मानते है कि मैने मकान किया, दूकान किया, अमुकको सुख दुःख दिया, तो यह कितनी अज्ञानकी बात है ? तो जब अभिन्न कर्मत्वदृष्टिसे देखते है तो वहाॅ यह ही निर्णय मिलता है कि मैं केवल अपने भावोको करता हू, मै जो कुछ कर पाता हू, अपनेको ही कर पाता हू। मेरी करतूत मुझ इस जीवास्तिकायसे बाहर कही नही है। मैंने किसी अन्य पदार्थका परिणमन न तो किया, न कर रहा और न कभी कर सकता। इसी तरह कोई दूसरा पदार्थ मेरा परिणमन नही करता है, न कभी किया और न कभी यह कर सकेगा।

वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचय द्वारा भ्रम दूर करके कष्टरहित होनेका अनुरोध--सब पदार्थ सत् है, अपने-अपने उत्पाद व्ययसे परिणमते रहते है। निमित्तनैमित्तिक सम्बध भले ही है, मगर किसी पदार्थका कोई दूसरा कर्म नही है। दो बातें यहाॅ पृथक्-पृथक् स्वरूपको लिए हुए समझना है—निमित्तनैमित्तिक भाव और कर्तृकर्मभाव। इन दोनोमे अतर है। कुम्हार घडेका करने वाला नही है, किन्तु घडेका निमित्तभर है, उसका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो है घडे का कुम्हारके साथ, पर कर्ता कर्म सम्बन्ध नही है। तब घडेका करने वाला कौन ? घडेकी ही मिट्टी जो कि उस तरहसे फैली, पसरी, बनी, वही उसका कर्ता है और कुम्हारकी उस क्रिया का निमित्त पाकर वह घडा बना। तो यो भी निमित्त पडा। इस तरह समझिये कि बच्चे सुखी हो, धन बढे, कमाई हो, कुछ भी हो, उन सब बातोमे दूसरोके भाग्यके कारणमे निमित्त बन रहे हो, तुम किसी परके करने वाले नही हो। तो यो कर्तृकर्म भाव अपने-अपनेमे ही मानना, निमित्तनैमित्तिक भाव भिन्न-भिन्न पदार्थोमे हुआ करता है, निमित्तनैमित्तिक भाव न हो, ऐसी बात नही है, वह अवश्य है, और कर्ताकर्म भाव न हो अपने आपमे, सो भी नही है। दोनो ही बराबर चल रहे है, पर वहाँ विवेक करना होगा कि निमित्तनैमित्तिक भाव क्या कहलाता है, और कर्ताकर्म भाव क्या कहलाता है ? मै अपने ही भावका करने वाला हू,

किसी अन्यके भावको मैं नही कर सकता हू । तो मैं अपने ही कर्मको कर सकता, दूसरेके कर्मको नही कर सकता । इस दृष्टिमे लाभ क्या मिलता है कि परपदार्थोको करनेका भाव नही रहता । जिसको वास्तवमे अन्त दृष्टिका ज्ञान हुआ है वह परको करनेका भाव नही करता कि मै इसको भीतर डालूँ । होना है तो होता है । तो परका भाव करनेका जो भाव बनता थ उसमे बडा कष्ट था, ऐसा क्यो नहीं होता ? यह ऐसा क्यो चल रहा ? इस तरह सोच-सोच कर यह कष्ट मानता था, पर भावोका कर्तृत्व मिटे, कल्पना मिटे तो इसका वह महान क दूर हो जायगा । बडी भ्रान्तिसे उत्पन्न हुआ, क्लेश नष्ट होगा तो भ्रमके नाश होनेसे ही न होगा । कमरेमे कोई रस्सी पडी हो और कुछ अधेरे उजालेमे उसे देखकर किसी बच्चेको य भ्रम हो जाय कि यह तो साँप है तो वह रोता है, दुखी होता है । उस बच्चेकी माँ उसे गो मे ले ले, सब प्रकारसे प्यारके वचन भी कहे, पर क्या उसका वह क्लेश मिट सकेगा ? नह मिट सकता । हाँ उस बच्चेकी माँ स्वय ही उस रस्सीके पास जाकर उसे उठा लाये और क दे कि बेटे ! तुम क्यो डरते हो ? साँप नही है, वह तो रस्सी है, तो फिर उसका वह क्लेश बिल्कुल न रहेगा । तब भ्रमसे उत्पन्न हुआ क्लेश भ्रमके नष्ट होनेसे ही दूर हो सकता है अन्य किसी उपायसे नही । तो भ्रम मिटायें और सुखी हो लें । हम आप सब परमात्माक तरह शान्ति और आनन्दस्वरूप वाले है, किसीको कोई कष्ट नही है, सब अपने आपमे पूरे हैं पर यह बन क्या रहा है कि सभीके सभी कुछ न कुछ कष्टका अनुभव कर रहे हैं । बन क्य रहा है कि सभी भ्रममे पडे है और कष्टका अनुभव करते है । भ्रम मिट जाय तो सब कष्ट दूर । लोग कष्ट मिटानेके लिए बडे-बडे यत्न करते है, क्रोध करते हैं, मान, माया, लोभ आदिक कषायें करते है, विषयोमे प्रवृत्ति करते है, कितने-कितने ही कष्ट सहते है, मगर कष्ट मिटेगा भ्रमके दूर करनेसे । भ्रम दूर कर लीजिए और अपना कष्ट मेट लीजिए । कितना सरल उपाय है ? और कह उपाय बन सकेगा सत्सगसे, गुरुसेवासे, स्वाध्यायसे, ज्ञानार्जनसे । यह उपाय काममे लायें तो आपके सारे कष्ट मिटेंगे । अब कष्ट तो होता है अज्ञानका और उपाय किया जा रहा है अज्ञानभरा ही तो जैसे खूनका दाग खूनसे धुल नही सकता, इसी प्रकार अज्ञानजन्य दुख अज्ञानसे दूर नही हो सकता । तो भ्रान्तिसे उत्पन्न हुआ दुख मिटानेके लिए सर्वप्रथम आवश्यक यह है कि उस भ्रमको मेटें । भ्रम मेटनेपर ही वे भ्रमजन्य कष्ट दूर हो सकते हैं । उन कष्टोको मेटनेके लिए लोग उपाय तो बहुत करते है । पर अन्य किसी उपायसे वे कष्ट दुर नही हो सकते । अत इस भ्रमको सर्वप्रथम दूर करें और इस भ्रमको दूर करने के लिए सम्यग्ज्ञानका आदर करें ।

आत्मवस्तुकी परिपूर्णताका परिचय—कुछ बातोका अपने आपके उद्धारके लिए निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है । जैसे मैं क्या हू, मैं क्या करता हू, मैं क्या भोगता हू

और वह करना भोगना मैं किस साधनसे किया करता हू और यह करना भोगना भी मैं किसलिए किया करता हू, ऐसी दो चार बातोका निर्णय करना बहुत आवश्यक है। उससे ही फिर ज्ञानप्रकाश ऐसा मिलेगा कि जिस ज्ञान प्रकाशके माध्यमसे हम नियमसे शान्त और सुखी हो जायेंगे। पहिली बात तो यह समझिये कि कल्याण, मुक्ति, श्रेय सब इसका नाम है कि कोई चीज अकेली ही रह जाय, प्रत्येक पदार्थ स्वय अपने आपमे पूरा है, इस कारणसे किसी पदार्थके बननेके लिए न तो कोई आवश्यकता है और न बना करता है। जो है वह पहिले से ही पूरा है। अधूरा तो हम अपनी कल्पनामे मानते है। जैसे हमने सोचा कि बाहरमे यह पदार्थ इतना बन जाना चाहिये और उतना न बनें तो हम समझते है कि काम अधूरा है। लेकिन अधूरा कहाँ है ? जो चीज जितनी है वह उतनी वहाँ पूरी है ही। बस इसी अधूरेपनके ही ख्यालमे यह मनुष्य अपनी सारी जिन्दगी दुःखमे बिता देता है और दुःख मे ही मरता है। काम अधूरा रह गया, मकान अधूरा रह गया, दुकान अधूरी रह गई, पूरी तरहसे न चल सकी, बच्चे अधूरे रह गए, तो ऐसे अधूरेपनका चित्तमे ख्याल रहता है, पर अधूरा कुछ न मिलेगा। किसीके छोटे-छोटे बच्चे है और गुजर जायें, घरमे कोई न हो तो वह भी अपने पुण्योदयसे काम करता है, अधूरापन क्या रह गया ? तो अधूरा दुनियामे कुछ नही है। जो है वह पूराका पूरा है। तो मै भी अपने-अपने पूरेमे सब सोचू। यह मैं आत्मा सबसे निराला ज्ञानस्वरूप हू, यह तो मैं क्या हू, इसका समाधान है। यदि मैं ज्ञानस्वरूप यो समझमे न आये तो इसको समझनेकी और कोशिश करें। धर्मके लिए जो अनेक बाते करते है, श्रम करते है, व्रत, उपवास, पूजा स्वाध्याय आदिक बहुत-बहुत करते है, पर यह समझिये कि यदि आपने अपना यह निर्णय भली भाँति कर लिया है कि मैं सबसे निराला मात्र ज्ञान-प्रकाश ही ज्ञानप्रकाश हू, अन्य और कुछ नही हू, तो फिर ये धर्मके सारे काम आपको लाभ देंगे, नही तो थोडा-सा पुण्यबन्ध हो जायगा, किन्तु कर्मोसे छूटनेकी बात न आयगी, इसलिए सबसे पहिली बात आप सबको कह रहे है कि यह निर्णय करले कि मैं सबसे न्यारा ज्ञान-प्रकाशमात्र हू।

आत्मामे ज्ञानस्वभावकी उपलब्धि—भैया ! और भी देखो— मुझमे रूप रग है क्या कुछ ? जो मैं आतमा हू, जाननहार पदार्थ हू उसमे कोई रग है क्या ? क्या किसीने देखा कि आत्मा पीला है, लाल है, गोरा है, साँवला है आदि ? अरे शरीरको लोग देखते है। शरीरमे रग है, ऐसे रग बाहरमे भी पाये जाते है, आत्मामे रग नही। क्या किसीने यह देखा अथवा छुवा कि आत्मा पिण्डरूप है ? जैसे घडी, टेबिल या कोई चीज है, इस तरह कोई पिण्डरूप मैं जीव होऊ, ऐसा किसीने देखा है क्या ? अरे यह पिण्डरूप नही, यह किसी रगरूप नही। यह तो आकाशकी तरह अमूर्त है और ज्ञानप्रकाशमात्र है। इस आत्मामे ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप

पाया जाता है और कुछ नहीं। देखिये सर्वविकल्प छोडकर चित्त अगर इस ओर सुननेके लिए लगावोगे तो तुम्हे बात ठीक-ठीक समझमे आयगी और बात वह समझमे आयेगी कि एक बार भी समझमे आ जाय तो आपका जीवन सफल हो जायगा। वह करना पडेगा आप को ही, मैं न कर सकूँगा। मैं किसीको कुछ समझा नही सकता। आप ही अपने ज्ञानको लगा कर समझे तो समझ लेंगे। पहिले यह निर्णय करे कि मै सबसे निराला ज्ञानप्रकाश मात्र हू। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नही हू। इस ज्ञानप्रकाश मुझ आत्माका दुनियामे बाहर कही कुछ नही है। जो मेरा वैभव है वह मेरेमे है। मेरेसे बाहर कही कुछ नही है। मै अपने आपमे हू। तो मै सबसे निराला ज्ञानप्रकाशमात्र हू। अब दूसरे प्रश्नका उत्तर लीजिए "मैं क्या किया करता हू?" आप ही बतलायें कि आप क्या किया करते है? आपसे मतलब है उस ज्ञानप्रकाशका जो सबसे निराला है, आकाशकी तरह अमूर्त है, ज्ञानप्रकाशमात्र है. ऐसा यह मै क्या कर सकता हू? जब यह आकाशको छू भी नही सकता, अमूर्त है ना आकाशकी तरह तो फिर किसीको क्या करेगा? और छू भी लेता तो भी मै किसीको कुछ कर नही सकता। मै केवल अपने भावभर किया करता हूँ। अच्छा भाव बनाऊ, बुरा भाव बनाऊ, शान्तभाव बनाऊ, अशान्तभाव बनाऊ एक भाव बनानेके सिवाय मै और कुछ नही किया करता। ये दो निर्णय यदि इस जीवके हो तो इसका धर्म अपने आप उपयोगमे आ जायगा। धर्म वह है कि इसमे रागद्वेष मोह आदि न हो। ज्ञानमे केवल ज्ञानका ही प्रकाश रहे। इस ही धर्मको बडे-बडे तीर्थंकरोने किया था। धर्म वह है कि जिसके प्रसादसे यह आत्मा परमात्मा होता है। धर्म वह है जो आत्माको तत्काल शान्ति प्रदान करे। वह धर्म क्या है? ज्ञानमे ज्ञानप्रकाश समा जाय, बस ज्ञानरूप ही यह मैं हू, ऐसे ज्ञानका अनुभव जगे बस वही धर्म है। तो इसके लिए आप इन दो बातोका समाधान कर ले—मैं क्या हू और क्या किया करता हू?

अभिन्नकरणत्वशक्तिसे आत्मकार्यमे आत्मकरणत्वका परिचय—मै सबसे निराला केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हू। मै केवल भाव किया करता हू। अच्छा या बुरा कुछ भी करूँ पर भावके सिवाय मै और कुछ नही करता। ये दो बातें निर्णयमे आ जायें तब आगेकी यह बात बिचारें कि मै भावको ही करता हू और भावमात्र हू। तो उस भावको मै किस साधनके द्वारा करता हूँ? धर्म तो मेरा मुझमे समाया हुआ ज्ञानस्वभाव है। उसको मै ज्ञान मे लू, पर उस धर्मको मै किस साधनसे किया करू? किस साधनसे वह धर्म किया जाता है अथवा जो कुछ भी मैं करता हू तो किस साधनके द्वारा करता हू? लोग सोचते होंगे कि मै धर्म करता हू, पूजा करता हू तो चावलोके द्वारा धर्म करता हूँ, या जल चन्दन आदिक के द्वारा धर्म करता हू। लेकिन वह भाव धर्म न चावलोके द्वारा किया जाता, न किसी छन्ने

कपडे के द्वारा किया जाता, वह नो एक सच्ची जो ज्ञानज्योति जगी है, ज्ञानप्रकाश जगा है, सम्यक्त्वभाव जगा है, अपने ही उस भावके द्वारा मैं धर्म किया करता हू। जब कभी कोई जीव अधर्म करता है, पाप करना है तो वह अपने ही भावके द्वारा अपने ही साधनसे अधर्म भी करता है। तो मै भाव करता हू और भावको भावके द्वारा ही करता हू, किसी दूसरी चीजसे मै कुछ नही करता। अब आप यहाँ यह जानते जायेंगे कि हमारा कितना बडा ऐश्वर्य है कि जिसमे वस्तुत· परसाधनकी जरूरत नही पडती। मै घाटा करता हू तो अपने सस्कारसे करता हू, किसी दूसरी चीजसे मिलकर नही करता। धर्म करता हू, शान्तिका भाव करता हू तो अपने ही भावके द्वारा करता हू। तो करण भी मुझमे मुझसे अभिन्न है अर्थात् अपने ही कर्मके द्वारा मैं निरन्तर परिणमता रहता हू, दूसरा मेरेमे कोई कुछ नही करता। लोगोको कषायें क्यो बढ जाती कि उनके भ्रम लगा है कि मेरेको दु·ख इसने पहुचाया है। मेरेको दु.ख इस साधनके द्वारा हुआ है, वे बडा खेद करते है। बच्चेको गोदमे लिए हुए कोई माँ जा रही है और दरवाजेके भीतरसे निकलनेपर चौखटका कोना उस बच्चेको लग गया तो वह बच्चा रोने बहुत लगता है और जिस वक्त वह माँ उस चौखटमे २—३ थप्पड मार देती है तो वह बच्चा शान्त हो जाता है। बतलाओ क्या बात हो गयी ? उस बच्चेने पहिले यह भ्रम किया कि इस चौखटने मुझे दुःखी कर डाला और जिस समय उस चौखट मे दो तीन तमाचे जड दिया उस समय बच्चेने यह सोचा कि जिस चौखटने मुझे मारा था उसकी मरम्मत हो गई, लो वह खुश हो गया। देखो ऐसी बात उस बच्चेके चित्तमे बनी हुई है। तो इसी तरह यहाँ जब ये अज्ञानी बच्चे (प्राय ससारके सभी मनुष्य) यह मानते हैं कि इस बैरीने मुझे दु खी किया, मुझे इस मनुष्यने अमुक साधनके द्वारा बरबाद किया, यो द्वेष करते है और निरन्तर जलते रहते है और खुदके या दूसरेके कारण बडा नुक्सान पहुच जाय तो यह खुश होता है। जैसे मानो इसका कोई कष्ट मिट गया हो। तो जहाँ भिन्न पदार्थपर दृष्टि दी—इसने मुझे यो किया, इसके द्वारा किया गया, वहाँ इसको कषायें बढती है। जहाँ यह बात समझमे आयी कि मेरेको दु खी करने वाला दूसरा कुछ नही, मै ही अज्ञानमे पडा हू। मै ही भ्रममे पड गया हूँ, तो मै ही अपनी उस भ्रम बुद्धिके कारण दु खी हुआ करता हू।

अभिन्नकरणत्वके परिचयमे सुखद जीवनकलाका विकास—देखो—घरमे सुखसे जीने की भी एक यह कला है। कोई भी स्त्री अथवा पुरुष ऐसा मत सोचे कि मुझे दूसरेने दु खी किया है, यह सच वात बतलायी जा रही है। दूसरा कोई आपको दु खी नही करता। आप ही अपने भाव बनाते है और आप अपनी ही उस कमजोरीसे, अपनी ही उस कल्पनासे दुःखी हो जाते हैं। प्राय अनेक घरोमे सास बहूमे लडाई ठनी रहती है। सास पुरानी, बहू नई,

एम ए., वी ए. पढी-लिखी, दोनोके अपने-अपने परिणाम जुदे-जुदे है। सास किसी ढगसे प्रवर्ताना चाहती है, बहू किसी ढगसे काम करती है, वात नही समझमे आती है, दोनोमे आपस मे लडाई होती है। बहू सोचती है कि हमे सासने दु खी किया और सास सोचती है कि हमे बहूने दु खी किया। देखो—कहाँ तो घरमे सब प्रकारसे सम्पन्नता है, खूब खाने-पीने आदिके अच्छे साधन है, अच्छा मकान है, सब प्रकारके आरामके साधन है, पर एक कल्पनासे ही अपना सारा जीवन दु खमय बना लिया। जरासी ऐसी कल्पना बना लिया कि इसने मुझे दु खी किया। अरे वे दोनो यह सोचे कि मुझे दुःखी मेरी कल्पनाने किया है, मेरे अज्ञानने किया है, मैं दूसरेसे कुछ चाहता हू, यह इस तरहसे रहे, यह मेरा काम करे, यह इस प्रकार से प्रवृत्ति करे, लो दु खी हो गए। अरे मत चाहो कुछ, तुम अपने आपको चाहो। मैं आत्मा परमात्माकी तरह एक स्वभाव वाला हू, मेरा सब कुछ आनद मेरेमे मौजूद है। मैं क्यो दूसरी बातोमे अधिक चित्त दू ? क्यो अपनेको कष्टमे डालू ? मैं अपने आपको ही भजूं, अपने आपकी सेवा करूँ तो ससारसे पार हो जाऊँगा। क्यो बाहरमे इतनी अधिक दृष्टि दी ? जो जैसा करता है, करे, यदि बात उसकी समझमे ठीक-ठीक बैठ गई तो उसका भला हो जायगा, न समझमे बैठे तो न भला होगा। मगर खुद क्यो दुःखी होते कि यह इस तरह ही चले। जो मनमे आये सो चले, यह भ्रम निकाल दो कि मुझे दु खी करने वाला कोई दूसरा है। मेरा ही अज्ञान, मेरी ही विषयवासना, मेरे ही मनकी उद्दण्डता, मेरा ही यह सब कुछ परिणमन मेरे को दु खी कर रहा है। मेरेको दु खी करने वाला जगतमें कोई दूसरा है ही नही, यह मत्र याद रखो। यह सत्य बात बतला रहे है, इस मत्रके जरियेसे आपका सारा जीवन सुखमय हो जायगा।

अभिन्नकरणत्वद्रष्टाका व्यवहार—अभिन्नकरणत्व दृष्टिकी बात चल रही है। इस दृष्टिमे कैसी दृष्टि बनती है ? मैं अपने ही परिणामसे परिणमता हू, अपने ही ज्ञानद्वारा जानता हूँ, अपने ही आनद द्वारा आनद पाता हू। जैसे दु खमे यह ज्ञान करते हो कि मुझको दु खी करने वाला कोई दूसरा नही, मेरे ही परिणाम मुझे दु खी करते हैं, इसी तरह सुख और आनदकी भी बात है। मुझको सुखी करने वाला कोई दूसरा नही, मैं ही अपनेको सुखी कर लेता हू, मैं ही अपनेको आनदमे डाल लेता हू। बाहरकी बातोमे तो विकल्प मत करें और सोचें तो यो सोचें कि बाहरमे जो कुछ भी होता है वह अच्छा होता है, होना ही था ऐसा। है तो उसका परिणमन होगा ही कुछ। तो जो कुछ होता है सो अच्छा है। मेरे लिए तो मेरे स्वभावका परिणमन चाहिए, और देखो यदि कोई इस तरह सोचने लगे कि बाहरमे जिसका जो होता है वह भलेके लिए ही होता है तो उसे वहा भलापन दिखता है। कोई मनुष्य दु खी होता है, वहाँ बात क्या है ? उसने अज्ञानमे ऐसे पापकर्म बाँधे कि उसके फलमे

उसे दु खी होना पडता है, उसमे भी उसे कुछ सार मिल सकता है, यदि वह अपना ज्ञानप्रकाश लाये। एक राजा और मत्री थे। तो मत्री बडा चतुर विवेकी था, वह हर बातमे कह दिया करता था कि यह भी अच्छा ही हुआ, जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है। सो एक बार दोनो (राजा और मत्री) कही घूमने जा रहे थे। राजाके एक हाथमे ६ अगुलियाँ थी अर्थात् राजा छगा था। राजा पूछ बैठा कि मत्री जी बताओ—मेरे एक हाथमे ६ अगुलियाँ है, लोग छगा कहते है सो कैसा ? सो मत्री बोला—बहुत अच्छा है। राजा चिढ गया, उसने सोचा कि हम तो छगा (६ अगुली वाले) है और यह कहता कि बहुत अच्छा है, सो क्रोधवश उसे कुवेमे ढकेल दिया और स्वय आगे बढ गया। आगे क्या घटना घटी कि कहीपर एक नरमेधयज्ञ हो रहा था। यज्ञमे होमनेके लिए किसी सुन्दर अगोपाङ्ग वाले व्यक्तिकी खोजमे कुछ पडे लोग निकले हुए थे। मार्गमे वही राजा उन पडोको मिल गया। राजा सुन्दर तो था ही, सो उसे पडोने पकडकर यज्ञके पास ले जाकर पशुवोकी भाँति एक खूँटेमे बाँध दिया। जब यज्ञमे उस नरके होमनेका समय आया तो एक पडेको उस नर (मनुष्य) के एक हाथमे ६ अगुलियाँ दिख गईं। कहा—अरे, अरे, यह तो छगा है, यज्ञमे होमने वाले व्यक्तिके अगोपाङ्ग ठीक होना चाहिए, नही तो यज्ञ अपवित्र हो जाता है। अत. उस राजाको पडोने डडा मारकर भगा दिया। राजा खुश होकर लौट रहा था। सोचा कि देखो आज मै छगा होनेसे बच गया, नही तो अग्निमे होम दिया जाता। मत्रीने ठीक ही कहा था कि आप छगा है सो यह भी अच्छा। अब उस राजाने उस कुवेंके पास जाकर मत्रीको निकाल लिया और सारा हाल कह सुनाया। बोले—हे मत्री ! तुम ठीक ही कह रहे थे कि आप छगा है, सो बडा अच्छा है। अगर हम छगा न होते तो आज अग्निमे होम दिये जाते। फिर राजाने मत्रीसे पूछा—मन्त्रिवर ! बताइये कि हमने आपको कुवेंमे पटक दिया था सो कैसा ? मत्री बोला—वह भी अच्छा ही हुआ। कैसे कि हम और आप दोनो ही पकडकर ले जाये जाते। सो आप तो बच जाते छगा होनेकी वजहसे और हम अग्निमे होम दिये जाते।

हो रही घटनाओमें भलापन निहारनेकी कलाका प्रभाव—भैया ! सभी घटनाओमे यही बात विचारो कि यहाँ जो कुछ होता है वह अच्छेके लिए ही होता है। मान लो कोई गरीबीकी स्थिति आ गई तो बताइये—उसमे आपका क्या बिगाड हो गया ? बल्कि पहिले कुछ ज्यादा विकल्पजालमे फसे रहते थे, अब कुछ धर्मध्यान, स्वाध्याय आदिके कार्योंमे कुछ अधिक चित्त लगेगा। मान लो १०-२० हजारका टोटा पड गया तो उसमे आपका क्या बिगाड हो गया ? अरे जब पुण्यका कुछ उदय था तो आपके पास था, जब पुण्यका उदय न रहा तो आपके पाससे दूर हो गया। धन तो धनकी जगह है, आप अपनी जगह है, पुण्य पुण्य की जगह है, आपका उससे बिगाड क्या ? बल्कि कुछ विकल्प और कम हो गए। ज्यादा घ-

होता तो ज्यादा विकल्प करते, कम धन है तो कम विकल्प रहेगे। कुछ भी स्थितियाँ हो, हम अपनी आदत बनायें उसमे भला ज्ञानप्रकाश पानेकी, तब तो जीवन आनन्दमय रहेगा। यदि हर बातमे बुरा ही दिखेगा तो कुछ भी अच्छा बन जावो तब भी सुखी नही हो सकते। तो यहाँ बतला रहे है अभिन्नकरणत्वदृष्टिमे कि इस जीवको जो सुख-दु ख, आराम, शान्ति मिलती है वह किसी दूसरे साधनसे नही मिलती है। अपने आपके भावो द्वारा अपने आपकी करनी द्वारा मिलती है, दूसरा कोई नही करता। इस दृष्टिमे क्या प्रभाव होता कि अपना ज्ञान और आनद पानेके लिए परकी आशाकी खोज करनेकी व्यग्रता खतम हो जाती है। मैं अमुक को प्रसन्न कर लूं, अमुकको मना लू, अमुकको यो कर लूं, तो मुझे सुख हो जायगा, ऐसी बात नही है। दूसरेके कारण आपको सुख नही मिलता। आपको सुख मिलेगा तो अपने आपकी कला द्वारा मिलेगा, किसी दूसरेके द्वारा सुख न मिलेगा।

अत्यावश्यक निर्णय चार बातोका स्मरण—*आजके निर्णयमे क्या निर्णय किया?* पहिला निर्णय तो यह किया कि मैं क्या हू? इसके निर्णयमे क्या सोचा कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हू। दूसरे प्रश्नमे क्या सोचा कि मैं क्या करता हू? मैं सिर्फ अपने भाव बनाता हू, मै किसीको सुखी अथवा दु खी नही करता। मैं केवल अपने भीतर ही रहता हुआ इच्छा, जानकारी, ऐसा भाव बनाता रहता हू। तीसरा क्या प्रश्न किया था कि मै किस साधनके द्वारा यह सब कुछ किया करता हू? तो उसका निर्णय क्या मिला कि मैं किसी दूसरे साधनसे कुछ नही किया करता हू। मै अपने ही परिणाम द्वारा, अपने ही भाव द्वारा अपनी ही सारी रचना किया करता हू। और चौथी बात क्या बताते है कि मै ये सब काम किसलिए किया करता हू, किसके लिए किया करता हू? जैसे लोग सोचते हैं कि मै बच्चोके लिए धन कमा रहा हू, मै स्त्रीके लिए इतने सुखके साधन जुटा रहा हू आदिक जो सोचते रहते हैं, क्या इस तरहकी बात है? मैं दूसरेके लिए कुछ करता हू क्या? उसका उत्तर है सम्प्रदान दृष्टिमे मैं जो कुछ किया करता हूँ वह अपने आपके लिए ही किया करता हू, किसी दूसरेके लिए नही। अब इस बातका उत्तर आगे आयगा। सभी जीवोको शान्ति प्रिय है और जितने भी वे प्रयास करते हैं वे शान्तिके उद्देश्यसे करते हैं, लेकिन शान्ति प्राप्त नही हो पाती। इसका कारण यह है कि शान्तिका जो सही उपाय है वह नही किया जा रहा है, बल्कि अशातिके उपायमे ही लग रहे है। क्या है शान्तिका उपाय और क्या है अशान्तिका? शान्तिका उपाय है सच्चा ज्ञान, आत्मज्ञान। आत्माका सही ज्ञान होगा तो नियमसे शान्ति मिलेगी, चाहे बाहरमे कैसी ही घटनाये हो, उनसे अशान्ति नही हो सकती। तो शान्तिका उपाय है आत्मज्ञान और अशातिका उपाय है। मोह राग और द्वेष जब कोई जीव मोह करता है तो दूसरे को तो झट विदित हो जाता कि वह फाल्तू बात कर रहा है, पर जो मोह कर

रहा उसे खुदको यह श्रद्धानमे रहता है कि मै सही काम कर रहा हू । जैसे दूसरोकी गल्ती अपनी निगाहमे झट आ जाती है, पर खुद गल्ती करे तो उसका निगाहमे आना कठिन रहता है, ऐसे ही मोह करते है तो दूसरेका मोह समझमे आ जाता है, पर स्वयका मोह दृष्टिमे नही आ पाता मोहियोको, पर यह मोह दु ख ही देने वाला है । देखो, जो जीव समागममे आये है उनका वियोग नियमसे होगा, सत्य ज्ञानकी बात तो यह है, लेकिन कोई यह भ्रम करे कि ये पुत्र, मित्र, स्त्री, माता-पिता आदिक ये कभी भी वियुक्त नही होनेके तो ऐसा भ्रम करने वाले दु ख ही पायेगे, क्योकि जब वियोग होगा तो एकदम दिलमे ठेस पहुचेगी । और जिसने पहिलेसे निर्णय कर लिया है कि जितना भी सयोग है नियमसे उसका वियोग होगा, तो वियोग होते समय वह सावधान रहता है । कोई उसके दिलमे ठेस नही पहुचती है, क्योकि वह पहिलेसे ही समझ रहा था कि यह तो वियोग होने वाली बात है । तो ऐसे ही समझ लीजिए कि सम्यग्ज्ञान सभी स्थितियोमे शातिका उपाय होता है और मिथ्याज्ञानसे सदा अशाति का ही साधन बनता है । तो अपने आत्माके बारेमे ज्ञान करना कितना आवश्यक है ? अति आवश्यक है, सर्वस्व आवश्यक है । इसके सिवाय कुछ इस जिन्दगीमे करनेको नही ।

आत्मज्ञानकी ही श्रेष्ठताका ही निर्णय—गृहस्थ घरमे रहते हैं, यद्यपि करना सब पडता है, लेकिन करने लायक काम तो एक आत्मज्ञान ही है, दूसरा कुछ भी कार्य उसके करनेके लिए आवश्यक नही है । यो समझिये—एक कहावत है—"गले पडे बजाय सरे" यह कहावत यो चली कि कुछ मजाकिया लोग थे । तो जैसे होली वगैराके दिन होते है तो एक दूसरेसे दिल्लगी करते है । किसी एक व्यक्तिको शर्मिन्दा करनेके लिए कई लोगोने उसके गलेमे ढोलक डाल दी तो उसने यह बुद्धिमानी की कि झट छोटी-छोटी दो लकडियाँ उठाकर सिर मटका-मटकाकर बजाने लगा, इसलिए कि लोगोकी झेंप खतम हो जायगी, तबसे यह कहावत चली है कि "गले पडे बजाय सरे ।" तो इसी तरहसे समझ लीजिए कि आज आप सबकी स्थिति गृहस्थीकी है, सब कुछ गले पड गया है । इनसे निवृत्त नही हो पा रहे, तो फिर जैसे बने गुजारा तो चलायें, पर यह बात चित्तमे बसी रहे कि मेरा मुख्य कर्तव्य यह सब करनेका नही है, किन्तु आत्माका ज्ञान करना है । अब थोडा आत्मज्ञानकी ओर आयें तो अदाज होगा कि इस जीवनमे आत्मज्ञानके सिवाय और कुछ काम करने लायक वास्तवमे नही है । क्योकि इज्जत बढायें तो किसमे बढायें ? जो स्वय जन्ममरण कर रहे है, स्वय दुःखी है, कर्मके प्रेरे हैं, स्वय मिट जाने वाले हैं उनमे चाहना कि मेरी इज्जत बने, तो उससे लाभ क्या मिलेगा ? धन बढानेसे लाभ क्या मिलेगा ? उससे तो तत्काल भी आकुलता, भविष्यमे भी आकुलता और शल्य भी निरन्तर बनी रहती है । क्षणिक माननेका सुख है । जितना आवश्यक है उतनी आय तो होती ही है, मगर लोगोके मनमे प्राय यही बात समायी रहती है कि मेरा इतनेमे

गुजारा नही चलता । अरे इस धनके बिना तो गुजारा चल जायगा, पर आत्मज्ञानकी जागृति बिना किसीका गुजारा नही चल सकता । अपना ज्ञान ही शान्तिका उपाय है और ये रागद्वेष मोहादिक तो अशान्तिके ही साधन है ।

सकटहारी उपाय तथ्यपरिचय—मैं आत्मा क्या हू ? यह मैं ज्ञानमय हू ज्ञानघन हू, ज्ञानमात्र हू, एक ज्ञानज्योति हू, जिसका कि नाम आत्मा है । आत्मा डेला पत्थर आदिकी तरह कोई पकडने लायक चीज नही है । इस आत्मामे कोई रूप, रस आदिक भी नही है । आत्मा तो आकाशवत् अमूर्त है । आकाश है अवश्य, मगर उसमे रूप, रस आदिक नही है । इसी तरह हम आप जीव, जिनका यह ज्ञान चल रहा है कि मैं हू, मैं हू, वह अमूर्त है, ज्ञान-स्वरूप है, उसमे रूप, रस आदिक नही है, ऐसा यह ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ और अमर हू, सदा रहने वाला हूँ । देखिये—नीतिकारोने बताया है कि धन और विद्या इन दो चीजोका अर्जन तब किया जा सकता है जब यह बात किसीकी समझमे बैठी हो कि मै तो सदा रहूगा किन्तु धर्मका आचरण उस पुरुषसे होता है जिसको यह श्रद्धा है कि मेरी मृत्यु किसी भी क्षण हो सकती है । मृत्यु तो मेरे सिरपर ही मडरा रही है, मानो मेरे केश पकडे हुए है और न जाने कब झकझोर दे अर्थात् पता नही कब मरण हो जाय । मरणके बाद न जाने इस जीवको किस गतिमे जन्म लेना पडे ? कही मरण करके कीडा-मकोडा पेड, वनस्पति आदिक बन गए तो फिर वहाँ तो कोई भी कला विद्या आदि न रहेगे । तो इस प्रकारका बुरा जन्म न हो, ऐसा उपाय इस जिन्दगीमे बना लेना चाहिए ।

आत्माका आस्तिक्य—कोई ऐसी शका कर सकता है कि परभव है भी या नही, इसका क्या पता ? मरणके बाद क्या होगा, इसका क्या पता ? जहा शरीरकी गर्मी खतम हुई कि जीव खतम, ऐसी कोई मनमे आशका कर सकता है, लेकिन उसका सयुक्तिक उत्तर है । पहिला उत्तर तो यह है चाहे बडे-बडे वैज्ञानिकोसे पूछ लो, खुद भी अदाज कर लो कि जो चीज है, जिसका अस्तित्व है जो है वह मूलत नष्ट नही हो सकता । किसीसे भी पूछ लो सिद्धान्तके डाक्टरोसे, रासायनिकोंसे पूछ लो, जो है उसका समूल नाश नही हो सकता । यही तो हो रहा है कि उसकी अवस्था बदली कुछ और दशा हुई यह तो होता रहेगा, मगर उसका समूल नाश हो जाय सो नही हो सकता है । जैसे मोटे रूपमें देख लो जैसे यह चौकी जला दी गई तो जल जाने पर भी वह समूल नष्ट तो नही हो गयी । उसके कण राख रूप हो जायेंगे, हवामे उड जायेंगे, छोटे-छोटे स्कधोमे फैल जायेंगे, तो समूल नाश नही होता । अपने बारेमे सोचे कि मैं हूँ कि नही । सब समझते है कि मैं हूँ, मै आया हू, मैं हूँ, मै सुखी हूँ, मै दुखी हूँ, तो मै हूँ, मुझमे अस्तित्व है । तो ऐसा अस्तित्व वाला ज्ञान ज्योति पदार्थ नष्ट नही हो सकता । इसके बादकी युक्तिया देखो—बच्चा जब जन्म लेता है, तो पैदा होते ही, गर्भसे बाहर

आते ही आहार करने लगता, माताके स्तन चूसने लगता है। तो भला यदि वह जीव नया-नया आया हो, पहिलेसे वह जीव था ही नही तो फिर उसे एकदमसे कौन सिखाने गया ? उसमे पहिले भवका सस्कार लगा है, साथमे ज्ञान चला आया। तो जितना ज्ञान दबा, सो दबा, मगर फिर भी चेतना रही, सो आहार ग्रहण करने लगता है। भूत-प्रेतकी और पुनर्भव आदिककी बाते सब लोग सुनते ही है। इससे सिद्ध होता है कि हमारा जन्म आगे होगा। अब हमारा जन्म आगे खोटा न हो, धर्मके प्रसग मिले, ऐसा भव मिले कि जिसमे धर्मका सम्बध रहे, ऐसा उपाय बनावें। धर्मका सम्बन्ध छूटा कि यह जीव दु खी हुआ। जीवको दु:खी करने वाला तो रागद्वेष, मोहभाव है। धर्मका लगाव हटा कि दु:खी हो गए। भैया ! वर्तमान स्थितिको बडे सौभाग्यकी बात मानो। हम मनुष्य हुए है, सोचनेकी शक्ति मिली है, धर्मके मार्गमे आगे बढ सकते है, स्वाध्याय, सत्सग आदिके द्वारा हम अपनेको पवित्र बना सकते है। ये तो बहुत अच्छी बातें है, अगर कीडा-मकोडे होते तो ये सब बातें कहा कर सकते थे ? तो अब इसके आगे इतना और करना चाहिए कि हम आत्मतत्त्व सम्बंधी ज्ञान अधिकसे अधिक पायें और ऐसा ध्यान बना सकें कि मेरे ज्ञानमे यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही समाया हुआ हो, तो उसे कहते है उच्च ध्यान, योगियोंके कर्तव्य।

योग्य कर्तव्योमें श्रेयोलाभकी पात्रता——भैया ! अन्तस्तथ्य पानेके लिए हम अपनी गृहस्थीको पहिले धर्ममय बनायें। गृहस्थोको जो ६ प्रकारके कर्तव्य बताये है — देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, तप, दान और सयम, इनको करें। सयममे मद्य, मास, मधु आदिका सेवन न करें, गोभीका फूल न खायें। गोभीके फूलमे तो प्रकट जीव भरे दिखते है। गीला रूमाल उसपर रखकर देख सकते है। ऐसी जो अभक्ष्य चीजें है उन्हे न खाना, दिनमे ही खाना, रात्रिमे न खाना। यो कुछ संयम रखें। दिनमे एक बार या दो बार खा लिया तो वह जीवन चलानेके लिए काफी है। बार-बारका खाना कोई आवश्यक नही है। तो अपनेमे इन्द्रियसयम का प्राणसयम, दूसरे जीवोपर दया करना, ऐसे सयमसे रहे, तपश्चरणमे इच्छानिरोध करें। कोशिश यह करें कि जो चीज खानेकी इच्छा करे, जैसे मानो खीर खानेकी इच्छा करे तो उसको झट छोड दें, और यह विचार करें कि हमे ऐसी इच्छा हुई क्यो ? हाँ साधारणतया मिल जाय वह ठीक है, मगर इसके लिए बडा प्रयत्न करके इस हठमे आ जाना कि हम तो यही चीज खायेंगे, तो इस इच्छाको तोड देना, खतम कर देना, यह एक इच्छानिरोध तप है, ऐसी सभी इच्छावोका निरोध करे। कुछ त्याग करनेकी, दान करनेकी भावना बनावें। जब अपने पास द्रव्य आता है तो उसमे कुछ हिस्सा दान करनेका रखे— आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान करें। ऐसे ६ कर्तव्य गृहस्थीमे निभाये, और आत्मज्ञानके कार्यको न भूले। आत्मज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कार्य ज्ञानमे न आयें और आये तो ऐसे आयें कि

बहुत काल तक न रहे। उसके अनुसार काम करना पडे तो ठीक है वचन और कायसे कर लो, पर मनसे उनसे अलग रहो। आत्मज्ञानकी इतनी उच्च विशेषता है। बडे-बडे तीर्थंकर, जिनके पास छह खण्डका वैभव था, जिनकी सेवामे बड़े-बडे देवेन्द्र रहा करते थे, उनके जब वैराग्य जगा, आत्मज्ञान जगा तो यह सब त्याग दिया। तब जगलमे अकेले किस बलपर रहे, किस बलपर तृप्त रहे ? वह था आत्मज्ञान। आत्मा उनके ज्ञानमे स्पष्ट झलकता था, वह ज्ञान धर्म है, आनदस्वरूप है, उसका आनद लेते रहते थे, यो ही दिन-रात व्यतीत हो जाते थे, उनको पता नही पडता था, उनका सारा समय धर्मध्यानमे व्यतीत होता था। तो आत्मलाभ के लिये ज्ञान बनावें। आत्मज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है, इसके अतिरिक्त मेरे करने योग्य इस जीवनमे वास्तवमे कुछ नही है। इस आत्माके सम्बधमे एक बात और सुनो—मैं आत्मा ज्ञानमय हू और सिर्फ भावको ही कर सकता हू और उस भावको भी मै अपने भावके द्वारा ही करता हू। जैसे किसीके प्रति भाव यह बनाया कि मै इसे दु:खी कर दूँ तो किस हथियार (स धन) के द्वारा यह भाव बना ? अपने भावोके द्वारा बना। तो उसने अपनी ही परिणतिसे ये गदे भाव बना लिये। जब अच्छे भाव बने तब अपने भावोंके द्वारा हम अपने अच्छे भाव बना लेते।

अब एक बात और सोचे कि मै सब कुछ भाव बनाता रहता हू तो किस कामके लिए बनाता हू, किसके लिए बनाता हू ? लोग सोचते है कि धन कमाता हू अमुकके लिए, पर यह बात उनकी मिथ्या है। जो भी जो कुछ करता है सो अपने लिए। धन तो कोई जोड नही सकता, आप जोड नही सकते, मात्र धनको जोडनेका आप विकल्प करते है, इच्छा करते है, प्रयत्न करते हैं, इसके आगे आपकी कुछ भी करतूत नही चलती। फिर तो जैसा पुण्योदय है वैसी बात चलती है। तो आपने भाव बनाया अपने सुख-दु:खके लिए, अपनी शाति-अशाति के लिए, दूसरेके लिए कोई कुछ भाव नही बनाता। तो जो कोई जो कुछ करता हो उसका फल उसे ही भोगना पडता है। वह सब कुछ अपने लिए करता है, किसी दूसरेके लिए नही। तब ही यह बात प्रसिद्ध है कि जो जैसा करता है उसका फल वह ही समय पाता है। कोई दूसरा न पाने आयगा। मै बुरा करूँ तो उसका फल मुझे अवश्य भोगना पडेगा, यह बात पूर्ण सत्य है कि कोई खोटा परिणाम करे तो भले ही पुण्योदयसे आज उसका फल न मिले, मगर भविष्यमे उसका फल मिलेगा, अच्छा करेंगे तो अच्छा फल मिलेगा। तो बडी जिम्मेदारी है हम आपपर। मनुष्य हुए है तो हम आप बडे कर्तव्यसे चलें, आत्मज्ञानपर चले। जब हम चर्मचक्षु खोलकर बाहरके परिजन मित्रजनमे आते है तो आत्मज्ञानकी बात शिथिल हो जाती है। वहा विषयकषायोकी बातें प्रबल हो जाती हैं, लेकिन ज्ञान करके जागृत रहेंगे तो उन स्थितियोमे भी आप अपने ज्ञानको सम्हाले रहेगे। ज्ञानको सम्हालना और अपना सच्चा

ज्ञान करना, ज्ञानके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करना, यही तो श्रेयोमार्ग है ।

यदि कोई प्राणी उच्च अनुष्ठानके इच्छुक है तो जुआ, मास, मदिरा आदिक सप्त व्यसनोका छोडना, पंच पापोका छोडना आदि बातें कल्याणार्थी जीवमे आनी चाहिएँ। निन्दा चुगली आदिक करना खोटा काम है, इसे छोड देना चाहिए । जीवनमे कोई यही व्रत ले ले कि मै किसीकी निन्दा न करूँगा, किसीकी चुगली न करूँगा तो वह जीवनमे बहुत सुख पायगा । निन्दा करनेसे मिलता क्या है ? बल्कि जिसकी निन्दा की वह भी तो आफत ढा सकता है, यह न समझें कि यह तो हमसे हर बातमे कम है, यह हमारा क्या कर सकेगा ? अरे वह छोटा व्यक्ति भी आपका सारा बिगाड कर सकता है । बच्चोकी पुस्तकमे एक कथा आती है कि एक सिंह था । वह सो रहा था, एक बार उसके पास एक चूहा निकला और पीठपर रेंगने लगा तो सिहने जगनेपर उसे पजेसे पकड लिया । तो चूहा बोला— ऐ बनराज ! तुम मुझे मत मारो, तुम बनराज कहलाते हो, दया करना तुम्हारा कर्तव्य है । और एक बात और सुनो—यदि हम जीवित रहेगे तो कभी आपके काम आयेंगे । सिंहने तुच्छ जानकर उसे छोड दिया । एक बार वही सिह किसी जालमे फस गया । (कोई सिंहके खानेका सामान जालके बीच पडा होगा) तो जालमे फस जानेपर वह ज्यो-ज्यो उससे निकलने का प्रयत्न करता त्यो त्यो वह और भी फसता जाता था । उसी समय वह चूहा आया और बोला—ऐ बनराज ! अब तुम्हारे जीवित रहनेकी कोई आशा नही । हाँ यदि आप हमे आज्ञा दें तो हम तुम्हे मरनेसे बचा लें । सिंहने आज्ञा दे दी । अब क्या था, चूहेने जालके ५—७ फद काट दिए, सिंहको निकलनेकी जगह मिल गई और वह निकलकर बाहर हो गया । देखिये छोटासा चूहा भी सिंहके काम आया । ऐसे ही यह समझिये कि यहाँ किसीको छोटा मानकर उसका तिरस्कार न करें, उसे सम्मान दे, क्योकि जिसे आप छोटा समझते है वह भी कभी आपके काम आ सकता है, उसके द्वारा आपका भला हो सकता है । तो यहाँ सभीको सम्मान दें, किसी को निन्दा न करे और अपने जीवनको सुखमय बनायें, इसीसे जीवनकी सार्थकता है । अपना व्यवहार सुन्दर रहे और आत्मज्ञानकी धुनमे रहे । आत्मध्यानमे बढें तो यह हम आप सबके बहुत काम आयेगा ।

आत्मरक्षाके लिये विकारासहयोग व ज्ञानस्वरूप भावनाकी आवश्यकता—अपने आपकी रक्षाके लिए दो बातोकी आवश्यकता है—एक तो यह कि विषयकषायोमे अपनी परिणति न जाय, दूसरे यह कि मेरे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप मेरा आत्मा बना रहे । यदि ये दो बातें चलती रही तो जीवन सफल होगा, मोक्षमार्ग चल रहा, भविष्यका जीवन भी बडा सुन्दर व्यतीत होगा और यदि इन दो बातोसे गिर गए तो चाहे धन कितना ही बढ जाय चाहे कितना ही आराम बढ जाय, पर इस जीवका भला नही है । विषयोमे परिणति ज

अर्थात् स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुरिन्द्रिय और मन—इन ६ मे उपयोग लगे तो इसका जीवन बेकार चला गया, क्योकि किसी भी इन्द्रियका विषय सदा रहता नही। वही विषय निरन्तर सुखका कारण बनता नही, अनेक दु ख उसके बीच पडे हुए हैं और विषयोका सेवन तो आत्माकी शक्तिका विनाश करनेके लिए हुआ करता है। यह बात तो प्रसिद्ध है कि स्पर्शन-इन्द्रियका विषय अर्थात् मैथुन प्रसग, कामभाव, विषयसेवन, ये इस तरहकी शक्तिको नष्ट कर देते हैं, देहबलको भी नष्ट कर देते है पर जैसे यह स्पर्शनइन्द्रियका विषय आत्मबलको नष्ट करता है यो ही समझिये कि सभी इन्द्रियके विषय आत्मबलको नष्ट करते है। आत्माका बल है धीरता, गम्भीरता, स्थिरता और शान्तिका, पर इन्द्रियके विषयोका भोग करनेमे ये सब दूर हो जाते है। न धीरता रहती, न गम्भीरता रहती, न स्थिरता रहती और न शान्ति रहती। तो इन्द्रिय विषय सब आत्मबलको नष्ट कर देने वाले हुआ करते है। आत्माका बल है ज्ञान और आनन्द। ज्ञान विशुद्ध रहे, आनद विशुद्ध रहे, वह है आत्माका शुद्ध बल, पर इन्द्रियविषयोसे इन बलोमे विकार आता है, क्षीणता आती है याने ज्ञान और आनन्द समूल नष्ट हो जायें यह तो नही होता, लेकिन ज्ञान जब विकृत हो गया तो यह कहा जाता है कि आत्माका बल नष्ट हो गया। आत्माका बल शुद्धरूपमे रहे तो उसे बल कहते हैं अन्यथा वह विकार कहलाता है। प्रयोजन यह है कि विषयोके सेवनसे आत्मामे शुद्ध ज्ञान और आनन्द नही रहता और जब आत्मामे शुद्ध ज्ञान और आनद न रहेगा तो वहाँ शाति नहीं आ सकती है, तो यह विषयसेवन इस जीवके लिए अहितरूप है।

कषायोसे आत्माके अहितका दिग्दर्शन—कषायोसे भी आत्माका बडा अहित है। जब यह जीव क्रोध करता है तो अपने सारे गुणोको फूंक देता है। जैसे अग्नि ज्वालामे ईंधन भस्म हो जाता है, इसी प्रकार क्रोधकी परिणतिमे इस जीवके गुण भी भस्म हो जाते हैं। क्षमा न रहे, नम्रता न रहे, लिहाज न रहे, सुध-बुध न रहे, ये सब बातें दूर हो जाती है, तो क्रोध एक अग्निज्वालाकी तरह है। यह तो एक ऐसी विचित्र अग्निज्वाला है कि अग्नि तो जलनेके बाद धीरे-धीरे शान्त हो जाती है, वहाँ अग्नि नही रहती, पर यह क्रोध ज्वाला ऐसी है कि इस जीवको जला देनेके बाद भी बनी रहती है। तो कषायोमे प्रवृत्त होना इस जीवके अहितके लिए है। मानकषाय जब होती है तो उसे अपनी यथार्थताका भान नही रहता। मान लेते है अपने आपको बहुत ऊँचा और जब ये अपनेको बहुत ऊँचा मान लेते हैं तब फिर अन्य जीवोको तुच्छ समझते हैं। तो विकारकी बात हुई है। तब सब जीव समान हैं और समान स्वरूपपर दृष्टि रखनेसे शान्ति मिलती है। अब यह निरन्तर अशान्त रहता है, क्योकि इसमे अभिमान पैदा हो गया। तो मानकषाय होनेसे यह जीव अशान्त हो जाता है। दुनियामे समझदार लोगोंके या मनुष्योंके जितने दु ख है वे सब मानकषायसे बढे हुए हैं।

बडे कलह होते है, बडा नरसहार हो जाता है, फिर भी दया नही रहती है । कठिनसे कठिन उपद्रव ढा देते है एक इस मानकषायके कारण । अब सोचो, कहाँ तो इस उपयोगको अपने आपमे ही ढा देना चाहिए था, अपने स्वरूपमे इस ज्ञानको मग्न कर देना चाहिए था और कहाँ इसकी यह स्थिति कि यह तो निरन्तर बाह्य पदार्थोंमे चित्त जमाये रहना है और दुःखी बना रहता है । अहकार एक विकट पहाड है । माया कषायमे तो यह जीव बडा तुच्छ हो जाता है । कितनी निन्द्य बात है कि किसीके प्रति कुछ सोचना, कुछ कहना, कुछ बोलना, कुछ चेष्टा करना, यही तो मायाचार कहलाता है । मनमे, वचनमे और कायमे कुछ और है । अरे किसलिए मायाचारी की जा रही है ? उससे क्या सिद्धि होनेकी है । मायाचार कभी छिपता भी नही है । कोई ऐसा सोचता हो कि मै अपनी मायाचारीके बलसे अनेक लोगोको बेवकूफ बनाये रहता हू और अपना बहुत बडा स्वार्थ सिद्ध कर पाता हू, तो सोचो तो सही कि उसमे आत्माकी कितनी बडी बरबादी (विकृति) हो गई ? उससे पापकर्म बँधा और फिर उसके फलमे बहुत बडी दुर्गतियोमे जन्म होगे । उस मायाचारसे क्या लाभ पाया ? इस माया कषायको शल्यमे गिना गया है । इस मायाचारीके कारण इस जीवका चित्त निरन्तर शल्यमे बना रहा करता है । तब आप समझिये कि मायाचारका कितना खोटा प्रभाव आत्मापर होता है ? लोभ लालच प्रकट दु खदायी है । लालचवश अपनेको अब भी दुःखी किए है और आगे भी दुःखी रहेगे, लालचको सबसे बडा पाप बताया है । लालचका दूसरा नाम है लोभ । सिद्धान्त शास्त्रमे बताया है कि क्रोध, मान और माया कषायें जीवमे ९वें गुणस्थान तक रहती हैं, बादमे नष्ट हो जाती हैं, किन्तु लोभकषाय १०वें गुणस्थान तक रहती है । यह इतनी तीव्र कषाय है, ऐसी परिणति मेरी न हो, ऐसा भाव रखें, शान्त स्थिर रहे । जहाँ कषाय उठी कि आराम नदारत । तो विषयकषायोकी परिणति मेरे मत हो, एक तो यह भावना बने, दूसरी भावना यह बनावें कि मेरे ज्ञानमे यह ज्ञानस्वरूप आत्मा विराजा रहे, मेरे ज्ञानमे यह ज्ञात होता रहे, मैं इसके अतिरिक्त अन्य कुछ जानूँ ही नही, किसी अन्यके जाननेका मै प्रयत्न न करूँ । मेरा यह ज्ञानस्वरूप, निज आत्मा मेरे ज्ञानमे रहे, ये दो भावनायें ज्ञानी पुरुषके चित्तमे रहा करती है । इन दो बातोके सामने वह सारे लौकिक वैभवको तृणकी तरह समझता है, मानो उनका कुछ मूल्य ही नही है, है ही नही मूल्य । मेरे आत्माके लिए बाह्य वैभवका क्या मूल्य है ? मैं मैं हू, ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमे ही हमारा सर्वस्व आनन्द बसा हुआ है । ऐसे इस आत्माका ज्ञान करना, अब समझिये कि यह कितना महान कार्य है ?

ज्ञानातिरिक्त अन्य कार्यकी अकार्यता—तथ्य तो यह है कि हम आपके लिए बाकी और काम कोई करने लायक है ही नही, करने पडते है तो उनमे कुछ विषाद मानना चाहिए । मेरा काम तो ज्ञानस्वरूप आत्माको जानते रहनेका था, पर हो क्या रहा है ? कर क्या रहे

है, कहाँ कहाँ उपयोग फस रहे है ? उसका तो विषाद होना चाहिए, लेकिन यह जीव विषाद तो करता नही, मौज मानता है, विषयोको भोगकर, कषायोमे रमकर अपनी मौज समझता है । तो दुनियाके लोग क्या करते है, उनको देखकर, उनकी वोट ले लेकर कर्तव्यका निर्णय नही बनाना है, किन्तु अपने अनुभवसे जो बडे-बडे बुद्धिमान ऋषि सत योगीश्वरोने हम आप को उपदेश दिया है उसको समझकर यह निर्णय करना है कि हमारा वास्तविक कर्तव्य क्या है ? अगर अपने कर्तव्यके बारेमे दुनियाके लोगोकी वोट लेने लगो तो कही अच्छे कर्तव्यकी वोट नही आ सकती, क्योकि इसीके मायने दुनिया है । सारा ससार अज्ञान मोहमे पड़ा हुआ है । तो उनकी राय जो मिलेगी वह ज्ञान और वैराग्यकी तो मिल नही सकती । राय मिलेगी इस बातकी कि विषयोके साधन कैसे जुटे, धन अधिक कैसे मिले ? इन्द्रियविषयोको कलात्मक ढगसे कैसे भोगें ? पर आत्माका ज्ञान और वैराग्य बने, इसके लिए राय न मिलेगी । तब राय देने वाले इन ग्रन्थोके रूपमे हमारे ऋषि जन ही बहुत हैं । उन ग्रन्थोको पढें तो राय समझमे आती जायगी । जीवन खोया जा रहा है और एक इतना सुन्दर अवसर अपने हाथसे निकाला जा रहा है कि जिस सुन्दर अवसरकी बात क्या बतायें ? जैसे कोई बना बनाया भोजन थालीमे परोसकर रख दे सामने और यह हो भूखा, जिसे खाना परोसा गया, तो उसके लिए तो सुन्दर अवसर है कि कोई मेहनत भी नही करनी है, खानेके साधन नही जुटाना है, कोई तकलीफ नही करना है । बना बनाया अच्छा भोजन सामने रख दिया, इतने पर भी वह उसे खाये नही और उसे बगरा दे या फेंक दे तो उसे क्या कहेगे ? कोई लोग उसे चतुर न कहेगे, ऐसे ही हम आपके समक्ष बडे-बडे आचार्य ऋषि, सत, जिनके ज्ञानकी महिमा तब ही तो जानी जा सकती जब हम खुद थोडा ज्ञानी बने तो सही । नितान्त अज्ञानी जन ज्ञानी पुरुषोकी महिमाको क्या समझ सकते है ? जब ज्ञान बने अपना तो समझेंगे कि ये ज्ञानी पुरुष कितने गहरे थे और ज्यो-ज्यो ज्ञान बढता जायगा त्यो त्यो उनकी गम्भीरता जाहिर हो जायगी । तो बडे-बडे ज्ञानी सतोंने जिन्होंने राज्यपद छोडकर, बडे-बडे वैभवोको छोडकर खाली योगसाधना करके अपने अनुभव लिखे है, तैयार किए हुए भोजनकी तरह सब पेश आपके पास है, सब चीजें मौजूद है, प्रकाशित है बडे बडे ग्रन्थ, जिनमे बहुत ऊची चर्चायें हैं और सरलतासे नयोको इतना निर्बाध ढगसे बताया गया है कि जिन्हे आप समझ सकते हैं और फिर भी उनका उपयोग न करें, उन्हे बगरा दें, हटा दें, उनकी ओर दृष्टि न करें तो यह अपने लिए क्या चतुराईकी बात कही जायगी ? चतुर बनें, दुनिया जैसी बनती है बनने दें, जो जैसा रहता है, रहने दें, खुद एक विवेकी चतुर बन जावें, आत्मज्ञान कर लें । विवेकी वही है जिसने आत्मज्ञान पाया है और वह पाया है वास्तविक श्रेणीसे । तो आत्माका परिज्ञान करना कल्याणलाभके लिए प्राथमिक उपयोगी चीज है ।

सर्व नयोसे व स्याद्वादसे आत्मपरिचयकी समीचीनता—आत्माका जब हम विवरण पाना चाहते है तो हमे यहाँ कितनी ही चर्चायें मिलती है। यह आत्मा परमात्माके समान शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव वाला है। यह आत्मा अपने आपके ही ज्ञानबलके द्वारा विकारोसे हट-कर ज्ञान और आनदके मध्य आ जाता है। यह आत्मा जब बिगडता है तो स्वय अज्ञानभावसे अपने आपमे विकल्प उत्पन्न कर लेता है। जब यह जीव अपने आपमे नाना कल्पनायें बनाता है तो कर्म स्वय बँधने लगते है, कर्मका उदय आनेपर इस जीवकी नाना दुर्गतियाँ होती है। यह सब आत्मामे बात हो रही है। कोई जान रहा हो तो, न जान रहा हो तो, जो कुछ यहाँ होना है हो ही रहा है, अगर इसका रहस्य ज्ञात हो जाय तो कर्मबन्ध मिटे, शान्तिका मार्ग मिले। तो उन्ही सब बातोके परिज्ञानके लिए जैनशासनमे ही एक ऐसी सुन्दर विधि है कि जिसके बलसे हम सत्य ज्ञान कर सकते है, उस विधिका नाम है स्याद्वाद। कई ढगोसे जब हम किसी चीजको समझते है तो उस चीजका हमे पूर्ण ज्ञान होता है। जैसे इस एक चौकीको ही हमे समझना है तो हम कितने ढगसे समझ रहे है, सफेद है, चद्दरकी है, इतनी ऊँची है, इतनी लम्बी-चौडी है, इतना सब कुछ समझमे आ रहा है तो हम सब तरहसे समझ रहे हैं तब ही ना हम, चौकीको अच्छी तरह समझ पाये। इसी तरह आत्माको जब समझना हो तो आत्माको सभी विधियोसे समझें तब उसकी पूरी समझ कहलायेगी। वे सब विधियाँ क्या है उन्हीका नाम नय कहा गया है। सभी नयोसे इस आत्माको पहिचान लें, लो सब सही जान लिया। किसी भी आत्माके बारेमे हमे पूरा ज्ञान कब होता ? जब हम उसकी सारी बातें औपचारिक अनौपचारिक सब तरहकी समझ लेते है। तो ऐसे ही आत्माके बारेमे भी हमे सब नयोसे पूरी-पूरी बात समझ लेना चाहिए, तब सही स्थिति ज्ञानमे आती है। जो लोग आत्मतत्त्वका परिचय तो नही करते और बाहरी परिचय बहुत-बहुत करते रहते है, उसमे भी उनका ज्ञान काम दे रहा है, लेकिन उस ज्ञानको जो कि इतना बडा कठिन परिचय बना लेता है, आत्मतत्त्वके ज्ञान करनेमे लगा दिया जाता तो बहुत ही सत्य विधिसे आत्माका भी ज्ञान कर लेता। भला बनलाओ हम आप लोगोके ज्ञान कितना विशिष्ट है, कितना क्षयोपशम पाये हुए है कि बाहरी चीजोका हिसाब-किताब कितनी सूक्ष्मदृष्टिसे लगा लेते है ? कितनी जगहके सम्बन्ध हैं, और उनमे भी अलग-अलग जगहका अलग नफा नुक्सान आदिककी कितनी-कितनी बातें समझ लेते है वैज्ञानिक लोग, तो आविष्कारोमे कितना अपना ज्ञान बना है ? रेडियो, बेतारका तार आदि कितना आश्चर्य पैदा करने वाली चीजें है, आजकल तो टेलीफोनमे बोलने वालेका फोटो भी देख लिया जाता है, एक भाषामे बोला जानेपर अनेक भाषाओमे उसका उसी समय ट्रान्सलेशन हो जावे, और अनेक भाषा जानने वाले लोग सब अपनी-अपनी भाषा मे वक्तव्य सुन सके, ऐसी मशीने भी तैयार की जा रही है। तो लौकिक ज्ञानमे आजका-

मानव कितना ऊँचा बढा हुआ है ? इन आविष्कारकोंसे भी बढकर आध्यात्मिक आविष्कारक हो चुके है । इस आत्मतत्त्वके आविष्कारमे वे इतना बढे हुए थे कि जिन कामोको आजकल वैज्ञानिक लोग यत्रो द्वारा कर सकते है वे काम वे अपने ज्ञानबलसे कर लिया करते थे । जैसे कि जिस बेतारके तारसे बहुत दूरके समाचार बिना साधनके जान लिये जाते है तो वहाँपर भी कुछ न कुछ साधन तो रखना ही पडता है, पर जो विशिष्ट ज्ञानी पुरुष होते थे, जिन्हे मन.पर्ययज्ञान हुआ करता था उनको कोई बाहरी यत्र नही रखना पडता था । वे हर बातको अपने ज्ञानबलसे ही जान लिया करते थे । इतना ही नही, जो पहिले विचार किया हो, जो आगे विचारा जायगा उसे भी जान लेते है । यह बेतारका तार ऐसा समाचार तो नही दे सकता, और जो बडे आविष्कारोंमे भी सफल हैं तो वह भी ज्ञानकी ही सफलता समझियेगा। ज्ञान इतना उत्कृष्ट तत्त्व है, इतना उसका सफल प्रयोग है कि बडी-बडी अद्भुत बातें जो सुनी जाती है वे सब इस ज्ञानकी ही बातें कहलाती हैं । तो हमे समझना है अपने आत्मतत्त्वको ।

अशुद्ध निश्चयदृष्टिके परिणामका आख्यान—आज अशुद्ध निश्चयदृष्टिके प्रभावको समझनेका प्रयास करें कि हमारी किस तरहकी दृष्टि यहाँ बनती है ? नय मूलमे दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय । निश्चयनय तो एक वस्तुको उसी वस्तुमे उस ही वस्तुकी बात जताता है । व्यवहारनय दो पदार्थोंमे, अनेक पदार्थोंमे, उनके सयोगसे होने वाली बातको बताता है । तो निश्चयनय एक ही चीजमे एककी बातको बतायेगा, पर अशुद्ध बातको बताये तो अशुद्ध निश्चयनय है, शुद्ध पर्यायको बताये तो शुद्ध निश्चयनय है और स्वभावको बताये, पर्यायको व भेदको न बताये तो वह परम शुद्ध निश्चयनय है । ऐसी ये तीन बातें है । इन तीन नयोसे जब हम आत्माका ज्ञान करते है तो जिस नयने ऐसा बताया, उस नयमे वैसा ज्ञात हुआ, पर तीन नयोसे भिन्न-भिन्न बात ज्ञात होती है । अशुद्ध निश्चयदृष्टिमे यह ज्ञान होता है, मैं सुखी हो रहा, दु खी हो रहा, क्रोधी बन रहा, कषायवान बन रहा, कलकी बन रहा तो मै अपने परिणमनसे बन रहा, कोई दूसरा नही परिणमा रहा । घरमे एक मनुष्य कमाई करता है और वह बहुत उपायोंसे करता है तो उस समय भी वह दुःखी हो रहा है और उसका फल जब मिलेगा तो भी वह अकेला ही दु.खी होगा, उसमे कोई दूसरा सहयोगी नही है । इस जीवने विपरीत बुद्धि करके अपने आपको कैसा दु.खी बना डाला है ? इसको किसी दूसरे जीवने मिलकर दु.खी नही किया । हम बुरे बनते है तो उसमे भी हम आजाद हैं, हम आजाद होकर उद्दण्ड होकर बुरे बनते हैं और जब भले बनते है, शात पवित्र बनते है तो वहाँ भी हम आजाद है । हम ही अकेले अपने आपके शुद्ध परिणमनके बलसे वहाँ सुखी शान्त पवित्र बना करते है । तो हमारा भविष्य हमारी करनीपर निर्भर है । हम जैसी करनी करें वैसा तत्काल भी फल पायें और भविष्यमे भी फल पायें और यदि अपनी करनी हम ठीक नही सम्हालते और भगवानसे रोज-

रोज पार्थना करे कि हे भगवन ! हमारी गल्ती माफ करो तो क्या यो गल्ती माफ हो जायगी ? नही माफ हो सकती । प्रभुकी भक्ति तो हमारे लिए अवलम्बन है । उसके अवलम्बनसे हम अपने आपकी सम्हाल करे तो कर लें सम्हाल, पर प्रभु आकर हमारी सम्हाल न करेंगे । हमे खुद अपनी सम्हाल करनी होगी । खोटे कामोसे हटे, खोटे कामोसे हटनेके लिए खोटे कामो का सही स्वरूप जानें । क्यो खोटा है ? इसमे क्यो दम नही, क्यो सार नही ? पहिले उसका स्वरूप जाने और फिर उस खोटे कामसे हटनेकी अन्दरमे भावना बनायें, मै इस कार्यके जरा भी निकट न रहू, मुझमे ये खोटे कार्य जरा भी न समाये, खोटी परिणति मेरे न बने, नही तो मेरा विनाश होगा अर्थात् बरबादी हो जायगी । तो खोटे कामोसे हटनेकी भावना बनाये और उस भावनाका फिर अभ्यास बढायें । जब इन खोटे कामोसे हटना हो जायगा तब इस जीव का दुःखोका भार दूर होगा । और स्वय अपने आप यह भाररहित आनदमय जैसा है वैसा अपने आपमे अनुभव करने लगे । तो काम करनेके लिए ये दो है—एक तो यह कि मेरेमे विपयकषायोकी परिणति मत बने, रच भी मत आयें, मैं उन प्रवृत्तियोसे बहुत ही दूर रहू । दूसरी भावना यह बने कि मेरे ज्ञानमे तो मेरा ज्ञान ज्ञानस्वरूप यह परमात्मा समाया रहे, दूसरा कोई मेरे ज्ञानमे भी मत आये । मेरा यह ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व मेरे ज्ञानमे बसा रहेगा तो वहाँ कोई आकुलता नही, कोई अपवित्रता नही, किसी प्रकारका आगे कष्ट भी न होगा । आज हम आपने इतने सुन्दर समागम पाये है तो इन दो भावनाओका साकार रूप देकर प्रयास करना चाहिए—निर्विकल्प बन सकें और सहज ज्ञानस्वरूपका ज्ञान रखते हुए सहज आनन्द प्राप्त कर सकें ।

शुद्ध निश्चयदृष्टिका परिणाम—जैसी हम दृष्टि करते है वैसी ही हमको झलक मिलती है । हम आत्माके सम्बधमे जब शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि करते है तो आत्मामे क्या बात विदित होती है कि जो परमात्मा है, अरहत सिद्ध भगवत है वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनदरूप परिणाम रहे है, अनुभव कर रहे है तो ये सब भी अपनी परिणतिसे ही परिणमते है, अनुभवते है, और ऐसा जो उनका परमपद विकसित हुआ है सो उनके ही परिणमन से विकसित हुआ है, किसी दूसरे साधनसे विकसित नही हुआ है । एक दृष्टान्त दिया जाता है टकोत्कीर्णवत्, जिसका अर्थ है टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमाकी तरह । भगवानका स्वरूप निश्चल है । जैसे टाँकीसे उकेरी गई पाषाणकी प्रतिमायें मदिरोमे मौजूद है वे टाँकीसे उकेरी गई है, उनके आवरक जो पाषाण थे उन्हे हटाया गया है । तो अलग हटा-हटाकर वह प्रतिमा प्रकट हुई, वह प्रतिमा निश्चल है । उस प्रतिमामे जहाँ जो अग है सो वैसाका वैसा ही है, उसको किसीने बनाया नही है, उस प्रतिमाको कोई हिला नही सकता, वह निश्चल है । इसी प्रकार परमात्माका स्वरूप जो प्रकट हुआ है वह निश्चल है । चाहे ससारमे कुछ भी बातें, कैसी ही

घटनाये घटे, मगर परमात्मस्वरूपमें जरा भी चलायमानपना नही हो सकता। यहाँ हम आप जरा-जरासे समाचार सुनकर दु.खी हो जाते है, घवडा जाते है। परमात्मस्वरूप जो प्रकट हुआ है वह ऐसा ही प्रकट रहेगा सदा। निश्चल है। यह तो निश्चलताका अर्थ है, पर अध्यात्म-दृष्टिसे इसमे एक बात और ध्वनित होती है कि जैसे पाषाणमे प्रतिमा बनी तो वह पाषाणमे से ही बनी, दूसरी चीज मिलाकर नही बनी। इसी तरह जो भी परमात्मा बनता है वह अपने आत्मामे से ही बनता है, किसी दूसरी चीजको मिलाकर नही बनता। पाषाण प्रतिमा बन गई, उसमे कोई चीज जोडी तो नही गई। न मिट्टी जोडी गई, न रग जोडा गया, न कोई चीज जोडी गई, बल्कि उसमेसे हटाया गया है, जोडा कुछ नही गया। क्या हटाया गया कि जो मूर्ति प्रकट हुई है वह अश पहिले भी उस पाषाणमे था। कोई नई चीज प्रतिमामे नही बनाई गई। जो पत्थर अब मूर्तिके शकलमे दिख रहा है वह पहिले भी था, उसके अगल-बगलके जो आवरक पाषाणखण्ड थे उन्हे ही सिर्फ कारीगरने हटाया। कारीगरको उस पाषाण के अन्दर वह प्रतिमा पहिले ही दिख गई थी, तभी तो उसके आवरक पत्थरोको हटाकर प्रतिमाको ज्योका त्यो निकाल लिया। पहिले उसने मोटी छेनी हथौडेसे बडे आवरण वाले पत्थर हटाये, फिर उससे बारीक छेनी हथौडेसे और भी बारीख आवरण वाले पत्थर हटाये, फिर अत्यन्त बारीक छेनी हथौडेसे अत्यन्त बारीख आवरण खण्ड हटाये। लो मूर्ति ज्योकी त्यो प्रकट हो गई। तो कारीगरने केवल हटाने-हटानेका काम किया, उसमे जोडनेका, मिलाने का कुछ काम नही किया। तब वह प्रतिमा जो प्रकट हुई है वह पहिले भी थी, लेकिन उसका आवरण करने वाले टुकडे अलग करनेसे प्रकट हुई है। इसी तरह हम आप परमात्मा बनेंगे तो कोई यहाँ वहाँसे चीजें जोडकर मिलाकर नही बनाना है। जो परमात्मस्वरूप प्रकट होगा वह स्वरूप इसमे अब भी मौजूद है, पर उसका आवरण करने वाले ये रागद्वेष मोह, सकल्प-विकल्प, विषयकषाय आदि है। ये सब इस परमात्मस्वरूपको ढके हुए है, ऐसी स्थितिमे हमारा कर्तव्य क्या है कि केवल इन आवरणोको हटानेका काम करना है, उसमे जोडना कुछ नही है, क्योकि परमात्मस्वरूप आत्मामे परिपूर्ण मौजूद है, कोई अपूर्णता नही है। हम ज्ञानघन हैं, कोई नई चीज उसमे जोडना नही है, पर हमारे ही अज्ञानसे जो रागद्वेष, मोह बस गया है उसको दूर करना है। योगी जन, साधु जन और करते ही क्या है ? रागद्वेष, मोह, विषयकषाय, वासना सस्कार आदि कुछ भी बात जो शेष रह गई हो उसे अलग करते हैं। अलग करनेका उपाय क्या है कि जो स्वरूप मेरेमे अभी मौजूद है, जो प्रकट होकर पर-मात्मा कहलायेगा उस स्वरूपकी उपासना करना, उनकी दृष्टि देना, मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही ज्ञानसे मैं भरा हुआ हू, उसमे सहज आनन्द बसा हुआ है, ऐसा अपने आपको केवल ज्योति-स्वरूप अनुभवमे लेते हैं योगी, इसका प्रभाव यह पडता है कि रागद्वेषादिक ये सब जडसे हट

जाते हैं। ये आवरक हटे कि वह परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। तो यह जो परमात्मस्वरूप प्रकट हुआ है वह आत्माके स्वभावसे ही उठ करके हुआ है, किसी दूसरी चीजको लगाकर नही होता।

निश्चयतः ज्ञानस्वभावकी अभेदोपासनासे मोक्षलाभका निर्णय—कोई कहे कि पीछी लेना होता, कमण्डल लेना होना, मुनि निर्ग्रन्थपद लेना होता, जब साधना करते है तब मोक्ष मिलता है, तो निश्चयसे बात देखिये कि वह मोक्षपद कमण्डल पीछी आदि बाहरी चीजोसे नही मिलता, किन्तु अपने आपके स्वरूपमे बसा हुआ जो ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावकी इतनी प्रबल उपासना की कि जिस उपासनाके बलसे वह परमात्मस्वरूप प्रकट हो गया। फिर कोई कहेगा कि कमण्डल, पीछी आदि चीजें फिर क्यो लेते, मुनि क्यो बनते ? तो वे मुनि बनते है इसलिए कि अपने ज्ञानस्वभावकी उपासनामे कोई विघ्न न आये, वह निरन्तर बना रहे, इसके लिए वे त्यागमय पद लेते है। पीछी, कमण्डल आदि ग्रहण नही करते, किन्तु घर द्वार, कुटुम्ब परिजन, धन वैभव आदिको छोडते है और अकेले रहना चाहते है। शरीर अभी कहाँ छोडे सो शरीर मात्र ही रहना चाहते है। जब शरीरमात्र रहना चाहते है तो शरीर तो लगा ही है, उस स्थितिमे भोजन भी करना पडेगा, शौच आदिक भी करना पडेगा, तब वहाँ पीछी कमडल आदि ग्रहण करने पडते है। उस पीछी कमण्डलमे उन्हे ममता नही है, वे तो गुजारेके लिए है। उनकी अन्तःवृत्ति यही रहती है कि मै अकेला ही रहू, अपने आपमे अपनी ही उपासना करूँ। तो ज्ञानस्वभावकी उपासनाके बलसे यह परमात्मपद प्रकट होता है। कुछ एक ऐसी प्राकृतिक नीति-सी रहती है कि मनुष्य जितने आचरणके लिए चलना चाहते उससे कई गुणे आचरणकी बात उनके चित्तमे आये तब वे थोडे आचरणपर चल सकते हैं। और जो जितने आचरणपर चलना चाहता है उतने ही आचरणकी बात हृदयमे रखे तो वह उसपर नही चल सकता है। साराश यह है कि जहाँ मनमे यह हुआ कि मेरेको तो ऐसा अवसर मिले, मैं सर्व झगडोसे निवृत्त होऊ और साधुपदमे रहकर अतःसयम करूँ, मेरेको तो यह कर्तव्य होना चाहिए। इतनी बात हृदयमे आये तो गृहस्थीके लायक जो आचरण है—५ अणुव्रत, पचपापोका त्याग, इनके करनेमे वह सफल हो सकता है। जैसे किसी बालकके चित्तमे यह बात बसी हो कि हमे तो हाई स्कूल पास करना है तब वह चौथी पाँचवी छठवी आदि कक्षायें बराबर पास करता चला जायगा और कोई बालक यही बात सोच ले कि मुझे तो तीसरी चौथी कक्षा तक ही पढना है तो वह दूसरी तीसरी कक्षामे भी अच्छी गतिसे नही बढ सकता। अब एक और भी लौकिक दृष्टान्त देखिये—कोई दुकानदार किसी चीजको दो रुपयेमे बेचना चाहता है तो उसके दाम वह ४) कहता है। ग्राहक १।।) से कहना प्रारम्भ करता है और फिर बात २) मे तय हो जाती है। (यह बात सबके लिए

नहीं कही जा रही, यह दृष्टान्त एक थोडी बातके समझने के लिए दिए जा रहा है। जब कोई बडी बात सामने रखते है तो होते-होते थोडी बातपर टिक जाते हैं। इसी तरहसे हम यदि उच्चसे उच्च आचरण आत्माके लिए सकल्पमे किए हुए है तो वर्तमान परिस्थितिके योग्य आचरणको निभानेमे हम सफल हो जाते हैं।

आत्माका कर्तव्य—आत्माका उच्चसे उच्च आचरण क्या है ? उसकी बात बतला रहे है। यह आत्मा अपने आत्माके सत्यस्वरूपको जाने, उसकी श्रद्धा करे और उसीमे यह लीन हो जाय, मग्न हो जाय, तो यह करना है हमको काम। यह काम भावो द्वारा साध्य है और इस कामके करनेमे बाह्य पदार्थोंका सग बाधक है। इसलिए गृहस्थोको परिग्रहका परिमाण करना चाहिए, क्योकि इससे सतोष होगा, तृष्णा न बढेगी और इस स्थितिमे हम आत्माकी ज्ञानसाधनाके लिए उल्लासवान बनेंगे। परस्त्रीसेवन न करना, चोरी न करना, झूठ न बोलना, किसी जीवकी हिंसा न करना, ये जो आचरण है उन्हे भली भाँति निभाते है, उसे ये अपना उद्देश्य बनाये है कि ये सब कार्य किसलिए कर रहे है, इसलिए कर रहे है कि हमको अपने आत्माका सत्यपद प्राप्त हो। आत्माका सत्यपद क्या है ? जो स्वाधीन हो। आत्मा अपने आपके ही आधीन रहकर जिस पदको पा ले वह आत्माका उत्कृष्ट पद है, वह ज्ञानपद है, याने यह जीव जो अपनेको ज्ञान कर रहा है—मै हू, मैं हू और अपनेको अनुभव करता है और-और रूपोमे, तो और रूपोमे मैं हू का अनुभव न हो, ज्ञानरूपमे मैं हूँ का अनुभव हो तो यह आत्माकी बडी ऊची विजय है। जैसे मानते है कि मैं अमुकका पिता हू तो पिता हू ऐसा माननेका क्या फल होता है कि पिताको जिस प्रक्रियामे चलना चाहिए उसमे उसे चलना पडता है। जो मानता है कि मैं अमुक जातिका हू तो उस जातिके योग्य जो व्यवहार करना चाहिए वह उस व्यवहारके विकल्पमे अटक जाता है। और वस्तुतः मै ऐसा हू नही, मैं जीव मनुष्य भी नही हू, यद्यपि आज हम मनुष्य है, लेकिन मैं जो जीव हू सो वह जीव मैं मनुष्य नही हू। मनुष्यके भेषमे आकर भी मैं मनुष्य नही हू, क्योकि इस मनुष्य जीवनका मरण हो जायगा, पर यह जीव अमर है, यह आगे भी जायगा। जिस भी गतिमे यह जाय, जिस भी भवमे यह रहेगा, या कभी परमात्मा हो जाय, ससारके सकटोसे छूट जाय, मगर जीव तो रहेगा, वह मैं जीव मनुष्य नही हू। मैं तो ज्ञान वाला एक पदार्थ हू। यह भेद विज्ञान ही सहाय है मोक्षमार्गमे बढनेके लिए। इसके लिए एक दृष्टान्त समझिये। कोई बता सकता है क्या मनुष्यको कि यह मनुष्य है ? शुद्ध मनुष्य, कोई किसी बालकको खडा करदे और कहे कि यह मनुष्य है, तो हम कहेगे कि यह तो बच्चा है, हमे तो ऐसा मनुष्य बताओ जो कि एकसे लेकर १०० वर्ष तक निरन्तर रहता। यह बच्चा तो अभी ८—१० वर्ष ही बच्चा रहेगा, इसके बाद जवान हो जायगा, फिर बूढा हो जायगा। अगर आप किसी जवान

को सामने खडा कर दें और कहे कि लो यह है मनुष्य तो यहाँ भी हम यही कहेगे कि यह तो अभी जवान है, बुढापा आनेपर अत्यन्त बूढा हो जायगा। यह मनुष्य नही, हमे तो मनुष्य बताओ। तो वहाँ समझाया जायगा कि देखो—जो बचपन, जवानी और बुढ़ापा आदि सभी स्थितियोमे एक रहता है उसका नाम मनुष्य है। तो इसी तरहसे मनुष्य पर्यायमे या पशु-पक्षीके पर्यायमे या अन्य किसी पर्यायमे मरकर अनेको बार मनुष्य हुए, उन विभिन्न मनुष्यपर्यायोमे जो एक रहने वाला है वह जीव कहलाता है। तो मैं वह जीव हू जो मनुष्य भवमे हू तो हू, इससे पहिले था तब था, इसके बाद होऊगा तब भी रहेगा। उस जीवकी हमे करुणा करनी चाहिए। मनुष्यभवमे आकर यदि भोगविषयोमे ही रमकर यह जीवन गवा दिया तो उससे अपना उद्धार नही है। आये है तो कुछ ज्ञान बढायें, कुछ आत्माकी बात सीखे, कुछ परमात्मस्वरूपके रहस्यको जाने, जो जगत है इसका ही हम सही-सही पता लगायें कि यह जगत क्या है ? जैसे दिखनेको तो दिख गई कि यह हम चौकी है, मगर यह चौकी नही है। अगर यह चौकी होती तो इसे सदा चौकी रहना चाहिये था, क्योकि जो है वह सदा रहता है। जब यह सदा नही रहती तो फिर यह चौकी सत् नही है। इसमे जो एक एक अणु है, जिसका कि विभाग कोई करता नही, अपने आप होता है वह अणु है, वह वास्तविक चीज है, तो यहाँ जो दिख रहे हैं उसका सही ज्ञान करें, मैं जो कुछ हू उसका सही ज्ञान करें, तो सही ज्ञान करनेकी तैयारीमे नियमसे विषय कषाय मद होगे, मोह ममता हटेगी।

सुगम स्वाधीन आत्मीय आनन्द पानेको अप्रमादी न रहनेका अनुरोध—जितना भी दु ख है वह सब मोहका दु ख है। जीव तो शान्तस्वरूप वाला है। मोह मिटे तो इसका आनन्द अपने आप आ जाता है। आनन्द अपने आप आता है और दु ख परकी वजहसे आता है। तो जो परकी वजहसे दु ख आता है उसको तो मोहीजन स्वीकार करते है और अपने आप स्वाधीनतासे मेरेमे जो बात प्रकट होती है उसे यह बडा कठिन अनुभव करता है। यदि मैं अपना ऐसा अनुभव कर लू कि यहाँ मेरा कही कुछ नही है, देह भी नही है। मैं तो एक ज्ञानमूर्ति जीव हू—इस प्रकारका अनुभव एक सेकेण्डको भी सही रूपमे आ जाय तो उसमे अपने आप एकदम प्रवाहमे आकर यह आनन्द प्रकट हो जायगा, शुद्ध ज्ञानदृष्टि जग जायगी। तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपनेको इस लायक ज्ञानी बनायें कि बाहरी पदार्थोंका मोह न रहे, इनके प्रति विकल्प करके हम कुछ लाभ न पायेंगे, इसलिए इन विकल्पोसे दूर हो और सच्चे रूपसे एक सेकेण्डको भी अपना इस प्रकारका चित्त बनाये कि कोई भी बाहरी चीज चित्तमे न बसे। ऐसा स्वतंत्र होता हुआ मै एक सेकेण्डको भी रह जाऊँ तो वहाँ परमात्माका रहस्य प्रकट होगा, अपने आपकी निधि प्रकट होगी, सत्य प्रकाश मिलेगा। तो एक

वार ऐसा असहयोग करे कि बाहरी पदार्थोंमे किसीमे हमारा दिल न जाय। एक सेकेण्डको भी यदि अपना चित्तस्थल बिल्कुल साफ हो जाय तो वहाँ सत्पथ मिलेगा और परमात्मस्वरूपके दर्शन हो जायेंगे। तो उस ही की बात इस दृष्टिमे चल रही है कि शुद्ध निश्चयदृष्टिमे जब हम देखते हैं तो यह देखेंगे कि जो भगवान हुए है वे अपनी ही करतूतसे हुए हैं, किसी दूसरी चीज से नही हुए हैं, हम उस परमात्मस्वरूपको प्राप्त करेंगे तो अपने ही ज्ञानबलसे करेंगे, किसी दूसरे पदार्थका सम्बध जुटाकर न कर सकेंगे। तब हमको अपने इस अकेले निज जीवका ज्ञान होना चाहिए कि मैं स्वय क्या हू ? मैं ज्ञानमय हू, ज्ञानको ही करता हू, भोगता हूँ। हर जगह चाहे यह भ्रम करें कि मैं दूकान चलाता हूँ, मै अमुक काम करता हूँ, पर सिवाय भावके और कुछ नही करता। वहाँपर भी ज्ञान ही ज्ञान कर रहे है। तो मै ज्ञानको छोडकर अन्य कुछ काम नही करता। तो करनेका विकल्प, भोगनेका विकल्प, ममताका विकल्प, अहकारका विकल्प, ये किसी समय छूटें और हमारा दिल बिल्कुल साफ हो जाये। जैसे कहते हैं लाइन क्लियर होना याने बिल्कुल साफ रहे ताकि निश्चिन्त रूपसे उसपर गाडी चल सके, ऐसे ही मन इस तरहसे साफ हो जाय कि जिसमे बाह्य पदार्थोंका रच भी ख्याल न रहे, यदि ऐसा साफ दिल किसी क्षण बन जायगा तो भगवानका दर्शन अपने आप सम्भव हो जायगा। तो ऐसा चाहनेके लिए, पानेके लिए हमारा कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम आध्यात्मिक ग्रथोका स्वाध्याय करके इस तरहका ज्ञान बनाये कि मै केवल अपने आत्माके स्वरूपके ज्ञानमे ही रह सकूँ। इसमे अगर मै रह सका तो मेरा जीवन सफल है, नही तो जैसे अन्य सभी जीव रह रहे हैं, जी रहे हैं वैसे ही हम भी जीते रहे तो उससे तो कोई विशिष्ट लाभ न उठा पाया। अरे यह दुर्लभ मानव-जीवन मिला, उत्कृष्ट जैनशासन मिला, सब प्रकारके धार्मिक वातावरण मिले, श्रेष्ठ बुद्धि मिली, तो ये सब चीजे पाकर यदि कोई विशिष्ट लाभ न उठा पाये तो फिर इन सब दुर्लभ चीजोके पानेसे फायदा क्या उठाया ? अरे इतनी दुर्लभ चीजें पाकर हित तो इसमे है कि अपने कल्याणका उपाय बना लें।

आत्मोपलब्धिमे अमित शान्तिका अभ्युदय—आत्माका हित सुख शान्तिमे है, और सुख-शान्तिका अर्थ है जहाँ आकुलता रच न हो, और आकुलता रच नही है ऐसी यदि कोई स्थिति है तो वह है मोक्षकी स्थिति। ऐसे मोक्षके उपायमे हमे लगना चाहिए, इस ही मे इस जीवनके चलानेकी सफलता है और इसके अतिरिक्त अन्य व्यवसायोमे लगे तो वे सब माया रूप है, मायामयी दुनियामे मायामयी बातोमे लगे रहे तो उससे कोई हित नही है। कितनी दुर्लभतासे मानवजीवन मिला था, उसे व्यर्थ खो दिया। तो मोक्ष क्या चीज है, इसमे सहज अपने स्वरूपसे जैसा है वैसा ही रह जाय, उसके मायने मोक्ष है। जैसे एक लकडीपर कुछ रग भी लपेट दिया, कुछ कागज भी लपेट दिया, कुछ कपडे लपेट दिया तो वह लाठी बधन-

बद्ध हो गई। अब उस लाठीका मोक्ष क्या कहलायेगा ? चाहे इन शब्दोसे कह लो कि उस परसे वे सब कपडे हट जाये, कागज हट जाय, रग भी हट जाय, शुद्ध जो मेरा स्वरूप है अपने आप जैसा मेरा स्वरूप है बस वह रह जाय, इसके मायने उस लाठीका मोक्ष है, तो इसी प्रकार हम आप आत्मा बडे दु खमे है, बडे बन्धनमे है, इसका मोक्ष क्या कहलायेगा कि यह बन्धन मिटे और आत्मा अपने आप जैसा सहज स्वरूपमे है। उस प्रकारका प्रकट हो जाय, इसके मायने मोक्ष है। यह काम करनेको पडा है, बाकी अन्य काम चाहे दुनियामे बडे ठाठके काम कहलाते हो, लेकिन वे सब तुच्छ काम है। धन वैभव अधिक जुड गया तो इससे आत्माको क्या लाभ मिलेगा ? अब भी कुछ लाभ नही मिल रहा, आगे भी न मिलेगा। केवल कल्पनामे मान रहे हैं कि मै इतना अधिक धनिक हू, मेरेको बडा अच्छा है, बल्कि उसमें उसे अधेरा मिला है। सुखसे तो दुःख किन्ही दृष्टियोमे अच्छा होता है। दुःखमे रहने वाला पुरुष विवेकपर रहता है, उसे परमात्माकी सुध रहती है, अपने आत्माकी भी सुध रहती है, उसमे पवित्रता भी रहती है, पर इन्द्रियजन्य सुखोमे कोई पड जाय तो न परमात्माकी सुध रहती, न अपनी सुध रहती तथा न दूसरे जीवोपर दया रहती। जो इन्द्रियसुखोमे आसक्त होता है वह दूसरे जीवोपर दयाका भी भाव नही रख पाता है, वह तो अधेरेमे पहुच गया। तो ये ससारके सुख कही दुःखसे कम नही है। इन सबसे छुटकारा पाना, इसका नाम मोक्ष है। तो मोक्ष कहो चाहे आत्मोपलब्धि कहो—दोनोका एक ही मतलब है। चाहे उस लाठीपरसे वे कागज, रग आदिक सब छुटा दिये जायें, यो लाठीका छुटकारा कर दिया, यह कहो या लाठी असली रूपमे निखर आयी—यह कहो, दोनोका एक अर्थ है। आत्मा अपने असली रूपमे प्रकट हो गया, इसके मायने मोक्ष है।

कैवल्यस्वरूपकी श्रद्धा बिना कैवल्यके अभ्युदयका अनवकाश—आत्मोपलब्धि अपर नाम मुक्तिके लिए कदम हमारी तब बढ सकती जब इसको पहिले यह श्रद्धा हो कि आत्मा स्वतत्र है, अपना असली रूप लिए हुए है और वह इस असली रूपमे है और अब वह अपना ही स्वरूप रख रहा है, किसी दूसरे स्वरूपमे मिल नही गया है। यह अब भी अपने एकत्वमे गत है, ऐसी अगर श्रद्धा हो तब तो हमारा मोक्षके लिए कदम बढेगा। जैसे तिलके दानेमे तेल भरा हुआ है तो यद्यपि उस तेलके दानेमे वह तेल जबसे दाना है तब ही से पडा हुआ है, कही यह नही होता कि तेलका छिलका पहिले हुआ हो और उसमे तेल बादमे भर दिया गया हो। जबसे वह तिलका दाना उत्पन्न है तब ही से छिलका और तेल किसी न किसी शकलमे एक साथ चले आ रहे है। जैसे-जैसे वह दाना बढ़ता गया वैसे ही वैसे उसका छिलका कठोर होता गया और तेल भी पुष्ट होता गया, मगर दोनोका सम्बन्ध प्रारम्भसे है। इतनेपर भी तेलके दानेसे तेल निकालकर अलग कर [illegible]ता है और वह छिलका खलीके

अलग पड जाता है। तो जो तेल निकालने वाले लोग है उनको यह बोध है कि इसमे तेल अलग चीज है और छिलका अलग चीज है। तव वे उपाय वनाते है और छिलका अलग कर लेते है, और तेल अलग हो जाता है। ऐसे ही इस आत्माके साथ ये कर्म, यह शरीर परम्परा, यह विपयकषायके परिणामोकी परम्परा यह अनादिसे लग रही है, ऐसा नही हुआ कि पहिले हम आप जीव अकेले शुद्ध हो और पीछेसे विपयकषाय शरीर आदिकके भार लदे हो। प्रारम्भसे ही, अनादिसे ही ये साथ लगे है। फिर भी जो पारखी लोग है, जानकार लोग हैं वे जानते हैं कि जीव अब भी अकेला अपने स्वरूप मे ही है, उसमे दूसरेका स्वरूप मिल नही गया। चीज मिल जाय, पर स्वरूपमे स्वरूप नही मिलता।

जैसे पानी भरे लोटेमे तेल डाल दिया जाय, तेल मिल गया, पर पानीके स्वरूपमे तेलका स्वरूप नही मिलता, दूधमे पानी डाल दिया, तो दूध और पानी मिल गए, एकमेक हो गए, मगर दूधके स्वरूपमे पानी का स्वरूप नही मिलता ,तो ऐसे ही इस स्थितिमे भी यद्यपि इस जीवमे शरीर है, कर्म लगे है, विषय-कपायोके परिणाम भी मिल गए हैं, ये कितनी ही चीजें मिल गई है, इतनेपर भी एकके स्वरूपमे दूसरेका स्वरूप मिल नही पाता। ऐसा जिसको बोध है, जानकारी है, परख हुई है, अनुभवसे वह परख लिया है, ऐसा पुरुप मोक्षमार्गमे अपना कदम रख पाता है। जिसको हमे छुटाना है, जिसका हमे छुटकारा करना है वह स्वरूपसे छूटा हुआ पहिलेसे ही अपनेमे पूरा है, ऐसा बोध न हो तो उसका कोई छुटकारा करा ही नही सकता। तो इसको कहते हैं सत्य श्रद्धान। अब इसके पश्चात् जिसने यह निर्णय किया है कि यह मै आत्मा इस स्थितिमे भी शरीरसे न्यारा, कर्मसे न्यारा, विकारसे न्यारा, अपने ज्ञान सहज स्वरूपमे ही मैं हू, इस तरहका जिसने बोध किया है, ऐसा पुरुप अब इस ही ओर धुन लगाता है, मै तो यह हू। कोई नाम लेकर भी पुकारे तो भी इसे श्रद्धा यह है कि मै यह नही हू। मै तो यह सहज ज्ञानस्वरूप हू। कोई कितनी ही प्रशसा करे, बडाई करे तो भी यह सोचता है कि इस मेरेकी कोई बडाई नही हो रही है, यह तो मायामय पर्यायकी वडाई हो रही है। जो प्रशसा करने वाले लोग हैं वे मेरे इस सहजस्वरूपका भान तक नही कर पा रहे है तो फिर ये मेरी क्या बडाई करेंगे? कोई निन्दा कर रहा है तो मेरी कोई निन्दा नही करता। मै जो सहज ज्ञानानन्दस्वरूप हू, सबमे मिला हुआ होकर भी जैसा मैं अपना विशुद्ध स्वरूप रख रहा हू उसकी कौन निन्दा कर रहा है? मैं तो यह हू। कोई करे निन्दा तो करे, ये तो सब मायामय परिणमन हैं। यह श्रद्धानी जीव अपने आपमे इतना बलिष्ट हो जाता है कि फिर उसको बाहरी परिणतियाँ फिर श्रद्धानसे विचलित नही कर सकती, तब इसकी धुन इस आत्माके सहजस्वरूपके ज्ञानकी ओर ही हो जाती है। बस इसकी ओर ही ज्ञान बनाये रहना, इस विदेह आत्मस्वरूपकी ओर ही दृष्टि बनी रहे तो निकट काल

मे कुछ ही भवमे यह विदेह बन जायगा। इसका देह भी न रहेगा, कर्म भी न रहेगे, विभाव भी न रहेगे। जैसा अपने आप यह सहज है, अपने आप है वैसा विकसित हो जायगा, इसे कहते है मोक्ष। तो मोक्ष नाम है अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तशक्ति आदिक गुणोके शुद्ध परिणमनका। चाहे यह कह दो कि चौकी खालिस हो गई है, इसीका नाम चौकी का शुद्ध करना है और चाहे यह कह लो कि चौकीके ऊपरका मैल भीत आदिक सब छुटा दिया है, चौकी शुद्ध हो गई है, दोनोका भाव एक ही है।

स्वभावके अवलम्बनसे शुद्ध हित परिणमनका अभ्युदय--अब यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि ऐसा यह शुद्ध परिणमन है तो परमहित, पर यह प्रकट कैसे होता है? तो आप वहाँ ही अदाज कर लें कि कौन प्रयत्न किया जायगा, कौन साधन बनाया जायगा तो उनसे मैलके हटनेका काम बनेगा, पर वस्तुमे जो स्वयकी बात पडी हुई है उसके लानेका काम न बनेगा। जैसे चौकी गदी है, उसे साफ की जा रही है तो साफ करनेकी प्रक्रियामे वह मैल हटेगा, उसमे जो बीट आदिक पडी होगी वह हटेगी, पर चौकीमे जो निजमे मैटर है वह किसी उपायसे बनाया न जायगा। उस वस्तुमे जो सर्वस्व पडा है वह स्वय बना हुआ है, तो इसी तरह आत्मामे जो एक परमात्मत्वको प्रकट करनेके उपाय किए जाते है उन उपायोसे यह लाभ है कि रागद्वेष मोहादिक ये सब कम हो, शिथिल हो, हटे और कभी ये पूरे हट जायें तो उसी समय स्वभावका विकास होता है। सो इस मैलके हटनेमे भी मुख्य साधन तो अपने स्वभावका अवलम्बन है और बाह्य साधन वह केवल बाहरी उपचार है। तो इसमे जो स्वभावका विकास हुआ है वह विकास वास्तवमे जो कुछ बुद्धि प्रकट हुई है उसी शुद्धिका आलम्बन जो मिला है और उस शुद्धिके विकास होनेके कारण पूर्ण शुद्ध हो गई है। परमात्मा अनत आनन्द, अनन्त ज्ञान सम्पन्न है, यह उसकी स्थिति कैसे बनी? तो उससे पहिलेका जो स्वभावविकास है उसके आश्रयसे बनी। वह स्वभावविकास पहिलेके स्वभावविकाससे बनी याने आत्मश्रद्धानी जीवमे शुद्धिका विकास पैदा तो हुआ, बस उसके बाद विकास बढता जाता है और बढता हुआ विकास और बढते हुए विकासका कारण बने तो अपना ही विकास, अपना ही प्रकाश याने विकसित प्रकाश पूर्ण प्रकाशका कारण बनता चला जाता है। इससे यह जानना चाहिए कि हमारे सर्वस्व हितका साधन हमारी स्वाभाविक करतूत है। बनावटी, दिखावटी करतूतसे कर्म नही कटते और न उससे मुक्ति मिलती है। तपश्चरणमे भी यही मर्म है। लोग तो ऊपरसे यह देखते है कि देखो गर्मीके दिनोमे तपश्चरण कर रहे है, उपवास कर रहे हैं, अनेक प्रकारके तपश्चरण कर रहे हैं, पर जो दिख रहा है लोगोको तपश्चरण उससे कर्म नही कट रहे, किन्तु उस तपश्चरणमे रहने वाले साधुका जो भीतरी तपश्चरण बन रहा है, अपने शुद्ध चैतन्यमे अपने उपयोगको बैठा रहा है ऐसा जो भीतरी तपश्चरण बन रहा

उससे कर्म कट रहे है और इसमे विकास हो रहा है। तो उसका स्वभावविकास तो स्वभाव मे ही प्रकट होता है और थोडा विकास महाविकासका कारण बनता चला जाता है। तब करनेका काम क्या रहा कि हम यह देखे कि हमारा विकास, हमारी शुद्धि, हमारा जगमग स्वरूप जिससे प्रकट हुआ है, जिसमे प्रकट हुआ है उस परम ब्रह्मस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको देखो वह दिखेगा ज्ञानज्योतिके रूपमे। हम अपनेको इस तरह माने कि मै ज्ञान ही ज्ञानप्रकाश-मात्र हू, ज्ञानप्रकाशके अतिरिक्त और मैं कुछ नही हू, ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है। ऐसे ज्ञानरूपमे अपने आपकी भावना करें तो यह विकास होता है और मोक्ष होता है और कोई उपाय शान्तिका नही है।

शुद्ध स्वभावके परखकी दृष्टिका साधनभूत विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयदृष्टिका प्रभाव— निज विकासके लिए हमारी कुछ विशुद्ध दृष्टियाँ बना करती हैं, उनमेसे एक दृष्टिका नाम है-- विवक्षितएकदेशशुद्धनिश्चयदृष्टि। जैसे हमने यह विचारा कि मेरेमे क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयकषाय, इच्छा आदि जो भी विकार प्रकट हुए है वे विकार कर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं। मेरे स्वरूपमे विकार नही है, मैं स्वरूपसे शुद्ध ज्ञानस्वरूप हू, पर जैसे एक स्वच्छ दर्पणके सामने जो भी चीज ला दी जाय उसका प्रतिबिम्ब उस दर्पणमे पड जाता है तो दर्पणमे वह विकार आया है तो भी विकार दर्पणमें दर्पणकी ओरसे दर्पणके ही कारण नही आया है, किन्तु सामने कोई चीज उपस्थित हुई है। ऐसे दर्पणमे छाया विकार आया है, उस समय इसके यह बोध होता है कि यह छाया विकार दर्पणका नही है, दर्पण तो अपने आपमे अत्यन्त स्वच्छ है। इसी तरह आत्मामे जो क्रोधादिक विकार आये है वे आत्माके स्वरूपसे नही आये है, ये क्रोधादिक विकार बाह्यपदार्थोंका निमित्त पाकर आये है, इसलिए ये प्रकृतिके धर्म है, ये कर्मकी परिणतियाँ है, ये कर्मकी चीजें है। आत्मा तो अपने स्वरूपमे शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, स्वच्छ है, इस प्रकारकी दृष्टि हमारे स्वभावविकासके कारण बनती है। तो इस दृष्टिका नाम है—विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयदृष्टि। इस दृष्टिमे यह देखा कि मै शुद्ध हू, विकाररहित हू, रागा-दिकसे निराला हू, ये रागादिक मेरे स्वभावसे बाहर ऊपर ही ऊपर लोटते है, स्वभावमे प्रवेश नही करते है। क्षणमात्रको आते हैं, फिर हट जाते है। मैं शुद्ध हू, सदासे शुद्ध हू। जैसा मैं अपने स्वरूपसे शुद्ध हू, निरञ्जन हू सो अनादिसे हू। मैं शुद्ध चित्स्वभाव मात्र आत्मा इन विकारोसे अलिप्त हू। इस दृष्टिसे जब निरखते है तो ये विकार मेरे कैसे हटें, उसके लिए एक बडा उत्साह प्रकट होता है। ये क्रोधादिक मेरे है ही नही। ये तो कर्मके विकार है, इनको मैं पकडू तो मैं बरबाद होता हू। देखो विकार तो कर्मसे आये, मगर बिगाड होता है जीवका। जैसे दर्पणमे वह प्रतिबिम्ब तो आया परवस्तुसे, मगर बताइये—बिगाड परवस्तुका हुआ कि दर्पणका ? दर्पणका बिगाड हुआ, विकार हुआ। इसी तरह विकार आते तो है कर्म

के उदयके निमित्तसे, लेकिन बिगाड हो जाता है मुझ जीवका। जब ये कर्मके विकार मुझमे आये है इसकी झलक की गई है तो मै ज्ञाता रहूँ, जाननहार रहूँ। आ गई है यह झलक, मगर इसे मै अपनाऊँ नही, क्योकि अपनाऊँगा तो बिगाड मेरा होगा, कर्मका बिगाड नही। ऐसा ज्ञानी जीव इस शुद्ध दृष्टिके प्रतापसे विकारोका विजय करनेके लिए एक अपूर्व उत्साह जगाता है। तब अध्यात्मपथमे कर्तव्य हमारा वह है कि हम अधिक समय इस सुधमे लगायें कि मै अपनेको यह समझूँ कि मै ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञानसे अतिरिक्त मेरा स्वरूप नही है। ज्ञान ही करता रहू यही मेरा काम है। इसके अतिरिक्त अन्य माया-रूप रहू तो ये मेरे कोई काम नही है। इन विकारोसे निराला मैं एक केवल ज्ञानमात्र हू। ऐसा विश्वास होगा तो आपका शरण आपको मिल गया। विशुद्ध आनन्द आपको प्राप्त हो जायगा।

बाहरकी झांकीमें क्लेशका लाभ—अन्तस्तत्त्वको छोडकर बाहरमे जहाँ भी आप दृष्टि डालेंगे तो ये सब असार बाते है। स्त्री बहुत आज्ञाकारिणी है, पुत्र बडे अच्छे है, घर हमारा अच्छा है, आजीविका मेरी अच्छी है, जो है सो ठीक है, मगर इसमे मौज मान लिया तो खुदकी बरबादी ही है। मौज मत मानो, इसके भी ज्ञाता रहो। यह भी एक नाटकमे मेरा पार्ट आ गया। जहाँ अनादिकालसे इतने नाटक किए कि पशु भी बने, कीडा मकोडा बने, निगोद बने, मनुष्य बने, उस ही सिलसिलेमे आज यह नाटक भी मुझे करनेको मिल गया है। मैं कुछ बडे पोस्टपर हू, अच्छी आमदनी है, घर अच्छा है, मौज अच्छी है, इतना नाटक मानकर मात्र दर्शक बनें तो सावधानी है और अगर इस मौजमे बह गए तो आत्माकी सुध न रही। जब विकट कर्मबन्ध हो रहे, उनका फल भी आयगा, मरण भी निश्चित है। उसके बाद जीवकी क्या परिस्थिति हो जायगी ? अगर एकदम कीडा-मकोडा बन गए तो फिर क्या करेंगे ? एक सेकेण्ड पहिले क्या था, एक सेकेण्ड बाद क्या स्थिति हो गई ? तो इसे नाटक समझें, उसके मात्र देखन-जाननहार रहे। अब समस्या यह रही कि क्या उपदेश किया जा रहा कि इतने अच्छे साधन मिले है और इनका सुख भी हम न लूट पायें, अब ऐसी बात बहममे डाल दिया कि जिससे पाये हुए समागमसे हम सुख भी न ले सकें। उससे भी वचित हो जायें। मगर देखिये—इस नाटकके भी दर्शक बने रहनेमे केवल देखनहार बने रहनेमे इससे अलौकिक विचित्र आनन्द मिलता है, अद्भुत शान्ति मिलती है। जिसे लोग सुख कहते हैं उस सुखमे आकुलतायें ही भरी हुई है। उस सुखमे अशान्ति बसी हुई है। कोई भली सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार करे तो सब बाते विदित होगी। जो मौज है, बच्चे जरा अच्छे बोल गए, उसका मौज लिया, पर उसके बीच कितने दुःख, कितनी अशान्ति बसी हुई है ? वह विवेक जिसको जागृत हुआ है वह समझ सकता है और मोटेरूपसे देखो तो ये ससारके सुख हम आपने

आधीन नही है, ये कर्मोदयके आधीन है। कोई कितना ही एम ए., डबल-त्रिबल एम ए. डाक्टरेट आदि कर ले, कितना ही होशियार हो, मगर ऐसे अनेक लोग देखे जाते है कि जो अपने भोजनपानका भी गुजारा भली-भांति न कर सकें, ऐसे अनेक जगह मिलेंगे और कोई व्यक्ति कुछ भी योग्यता नही पाये हुए है, मुखसे लार भी टपकती रहती है, कुछ भी पढे-लिखे नही है, कुछ भी सभ्यताका व्यवहार नही है, फिर भी ऊपरसे देखो तो उसके हजारो रुपयोंकी रोज आय होती है, सेठजी कहलाते है, जिसके कई-कई मोटरें चलती है, आयपर आय बढती रहती है, सब प्रकारके मौजके साधन बढते रहते है। तो यह सम्पदा मिलना न मिलना अपने कर्मोदयके आधीन बात है। उसमे अपनी वर्तमान कलाका अहकार न करें कि मैं इतना समझदार हू तब ये चीजें मुझे मिल रही हैं। अरे ये सब चीजें आपको इसलिए मिल रही हैं कि आपका कर्मोदय कुछ अच्छा चल रहा है। आपने पहिले कभी धर्मकार्य किया था, उसका फल आज उदयमे है, इसलिए मिल रहा है। तो ये ससारके सुख कर्मोदयके आधीन हैं। इतनेपर भी ये सुख सदा रह जायें सो नही रहते। इनका अन्त होता है। खुद मर जाये तो अन्त होगा। अपने देखते-देखते ही सुख और सुखके साधन विघट जाये तो अन्त हो गया। कोई यह सोचे कि चलो कर्मके आधीन भी सही, विनाशीक भी सही, मगर जितनी देरको सुख-साधन मिले हुए हैं उतनी देरको तो मौज मिला है सो भी बात नही है। अरे जितनी देरको मौज मिला है उसके भीतर भी दु ख पडा हुआ है। मान लो किसीके पुत्रकी शादी हो रही, बडा मौज मान रहा, मगर बीच-बीचमे उसे कितने दु ख है ? कही किसी रिश्तेदारको मना रहे है, कही कोई व्यवस्था कर रहे है, कही कोई प्रोग्राम बना रहे हैं, यो बीच-बीचमे बडे दु ख, बडी आकुलतायें भरी हुई है। कोई कहे कि चलो—दु ख भी भरा सही, विनाशीक भी सही, मगर जितना मिला उतनेका तो मौज ले लें। तो कहते है कि इस मौजमे मत आइये, ये पापके बीज है। स्वय मौजमे रहना पाप है, और ऐसा बीज है यह कि इतना कर्मबध होगा कि इससे अनगिनते गुना दु ख इसके एवजमे मिलेंगे। तो ऐसा यह ससारका सुख है, इसमे आदरबुद्धि न करना चाहिए। आदर करें अपने ज्ञानस्वरूपका। मैं ज्ञानमात्र हू, इसपर अधिक दृष्टि दें और सब मोहकी बातें छोडें और अपने आत्मापर कुछ दया करें और अपने ज्ञानप्रकाश मे आयें, जिससे कि अपने आत्माका उद्धार हो, ऐसा यदि काम कर सकें तो यह दुर्लभ नर-जीवन सफल समझें, और यह काम यदि न किया जा सका तो यह दुर्लभ मानव-जीवन पाना बेकार समझिये।

सहज स्वरूपमे कलङ्कका अभाव—जैसे जलमे कीचड हो तो जल गदा हो जाता है, पर जल स्वभावसे गदा नही है। दर्पणके सामने कोई चीज कर देवे तो दर्पणमे प्रतिबिम्ब आ जाता है, पर दर्पणमे प्रतिबिम्बका स्वभाव नही है। ऐसे ही आत्मामे कर्मोदय आनेके कारण

क्रोध, मान, माया, लोभादिक कलक आ गए है, लेकिन आत्मामे क्रोधादिक करनेका स्वभाव नही है। ऐसी दृष्टि जिसकी बन गई है वह अब भी स्वरूपसे आत्माका स्वभाव अछूता निरखता है। यद्यपि बाहरमे सब ऐब लगे हुए है, लेकिन ज्ञानी जन श्रद्धामे सर्वदोपरहित ज्ञानमात्र आत्माकी उपासना ही किया करते है। तो धर्मके लिए अपने शुद्ध आत्माकी उपासना करना अति आवश्यक है। देखो—धर्मके लिए इतना श्रम करते है, सुबह नहाया, मन्दिर आये, घटो का समय लगाया, पूजा पाठ किया ··, पर एक यह ज्ञान न बने कि मेरा स्वरूप तो भगवान के स्वरूपकी तरह है, भगवानने कर्मोंको दूर किया, कषायें दूर की, तो उनका स्वरूप उत्कृष्ट हो गया है। हम कषायोको पकडे है, कर्मोंको ग्रहण करते हैं तो हमारा स्वरूप निकृष्ट बन रहा है। मैं वह हू जो है भगवान। मुझमे और भगवानमे द्रव्यसे अन्तर नही, गुणसे अन्तर नही, पर्यायसे मात्र अन्तर है। सो पर्याय बदली जा सकती है, द्रव्य और गुण नही बदले जाते। स्वभाव अगर हमारा कषाय करनेका होता तब तो कषाय कभी न छूटती, लेकिन कपायस्वभाव तो नही है और यह बात इस तरह जानी जाती कि क्रोध करते हैं तो सदा तो नही करते, मान करते है तो सदा तो नही करते, माया, लोभ आदिक करते तो उसका उपयोग सदा नही है, लेकिन ज्ञान सदा रहता है, जब क्रोधादिक करे तब भी ज्ञान है और न करें तब भी ज्ञान है। ज्ञानसे रहित आत्मा कभी भी नही होता। कपायोमे तो यह बात है कि कभी कषाय है, कभी नही है, मगर ऐसा कोई समय न होगा कि ज्ञान न हो आत्मामे। तो जो सदा रहता हो वह स्वभाव है और जो दूसरेके बलपर रहता हो वह स्वभाव नही है। तो अपने आपमे यह बात सोचिये कि क्रोध, मान, माया, लोभ ये दूसरेके बलपर होते है। किसके बलपर ? निमित्त और आश्रयभूतके बलपर। निमित्त तो कर्मका उदय है जो क्रोध हुआ और आश्रयभूत वह है कि जिसपर क्रोध किया था। जिसको विषय बनाकर क्रोध किया था वह आश्रयभूत है। तो जो दूसरेके बलपर बात हुई वह मेरा स्वभाव नही है। मेरा स्वरूप तो विकाररहित केवल ज्ञानज्योतिमात्र है। यह बात यदि कुछ चित्तमे घर कर गई हो कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हू, मेरा विकार स्वभाव नही है तब तो समझिये कि हम धर्मके पात्र हैं, और यह बात यदि चित्तमे नही उतरी है तो धर्मके नामपर कितना ही हम करें, पर उससे मोह राग द्वेप दूर न होगे। मन्दिरमे रहते हुए भी जब कभी एक दूसरेसे बोलचाल कडी हो जाती है, नाराजी हो जाती है, गुस्सा हो जाते है तो अन्दाज तो करो कि धर्मकी योग्यता कहाँ रही ? तो जब तक अपने आपको ऐसा नही कोई निरख पाता है कि मैं मनुष्य भी नही हू, मैं तो तो एक चैतन्यमात्र हू, जब तक यह बात चित्तमे न आये तब तक कपायोमे अतर नही पडता। जहाँ यह श्रद्धा बैठी हो कि मैं तो मनुष्य हू, फलानेचन्द हू, ऐसी पोजीशनका हू तब तक तो उसको कपायें आयेगी ही, और जिसके चित्तमे यह बात समा जाय कि मै तो शुद्ध चैतन्यस्व-

रूप हू, मनुष्य नही, अन्य कुछ नही, मै तो एक चेतन पदार्थ हू। यह बात चित्तमे आये तो उसको धर्म होता है।

अन्तःस्वरूपके अवलम्बनमे धर्मलाभ—धर्मके जितने भी काम हैं उन सब कामोमे रह कर भी स्वभावदृष्टिकी पुट लगी है तब उनसे धर्मकी बात सिद्ध होती है। जैसे देवपूजा करते है, भगवानके दर्शन करते है तो, मूर्तिके दर्शन करते है तो, वहाँ मूर्तिके ही दर्शन नही कर रहे, किन्तु जिसकी स्थापना की है उस भगवानके चरित्र सोच रहे है और भगवानके चरित्र तक ही नही रहते, किन्तु भगवानमे जो स्वरूप प्रकट हुआ है, शुद्ध परमात्मतत्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तआनन्द उस शुद्धस्वरूपमे निहारना है और उस शुद्धस्वरूप तक ही नही निहारकर रहना है, किन्तु वह शुद्धस्वरूप जिस स्वभावसे प्रकट हुआ है, जिस स्वभावका विकास ही यह शुद्ध परिणमन है, उस स्वभावपर दृष्टि देना है। और जहाँ उस स्वभावपर दृष्टि दी कि उसके चित्तमे फिर ये दो बातें न रहेगी कि मै और भगवान। उसका उपयोग तो उस स्वभावमे ही उपयुक्त हो जायगा तब अपने आपका अनुभव होगा। देखो–देवदर्शन यदि ढगसे करे कोई तो इसमे आत्माकी ही बात समायी हुई है। गुरूपास्ति–गुरु जनोकी उपासना करना, उनकी सेवा करना, उनकी विनय करना, उनकी बात सुनना, उनमे आदरबुद्धि रखना, क्यो रखना कि वहाँ आत्मस्वरूप शुद्ध प्रकट हो रहा है और आत्मस्वरूपकी दृष्टिके ही हम अभिलाषी है। वहाँ रत्नत्रयको निरखना है। गुरुकी कोई शक्लको थोडे ही देखना है। अहो—कैसा इनमे सम्यक्त्वभाव है, कैसा इनके सम्यग्ज्ञान है और कैसा वे ज्ञानस्वभावकी ओर ही निरत रहना चाहते है ? इस तरह वहाँ देखना है। तो गुरूपास्ति भी अगर ढगसे की तो वहाँ भी आत्माका स्वरूप ही नजर आया और तब ही वह धर्म कहलाया। स्वाध्याय करते है, स्वाध्यायका अर्थ है स्वका अध्ययन करना। कुछ भी बात लिखी हो, उसको अपना सम्बन्ध बनाकर घटित करना। कदाचित् पढ रहे हो तो वहाँ भी अपना ही सम्बध बनाकर घटाना। किसीके वैराग्यका कथानक हो रहा है तो अपनी तुलना करते जायें—अहो ! कितना इनका उत्कृष्ट ज्ञान है कि इतनी बडी विभूति तजकर ये विरक्त हुए हैं, और हमारा राग नही छूट पाता तो उसकी तुलना करते जाते तो वह भी स्वाध्याय है। स्वाध्यायमे वस्तुस्वरूपका विवेचन आया, आत्माका स्वरूप ज्ञानानन्दमय है तो अपना ही ऐसा उपयोग बने कि मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द है, ज्ञान ज्ञान ही मेरा स्वरूप है और केवल ज्ञान ज्ञान ही रहे तो वहाँ सहज आनन्द भी जगता है, ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ मैं। कोई कथन या कोई समाचार ऐसा आये कि नारकी बना, दुःखी हुआ, नाना प्रकारकी कुयोनियोमे जन्म लिया तो वहाँ यो घटाना कि देखो—आत्मतत्त्वके परिचय विना जीवकी ऐसी दुर्गति होती है, मेरी भी अनादिकालसे जो दुर्गतियाँ हुई हैं वे आत्मतत्त्वके ज्ञान विना हुई हैं। तो यो सभी

वृत्तान्तोको अपने आपपर घटित करते हुए चलना है, यह है स्वाध्याय। स्वाध्यायमे भी क्या सीखा ? अपने आत्माके स्वरूपका बोध। तो धर्म कहाँ मिला ? अपने आपके स्वरूपकी जानकारी हुई वहाँ धर्म मिला है, और आत्मस्वरूपकी जानकारी तो रखे नही और ऊपरी बातोमे ही लगा रहे तो धर्मका काम न बनेगा कि कर्म कटे और विशिष्ट पुण्यबंध हो, आगामी कालमे भी धर्मका समागम मिले, यह बात न हो सकेगी। इससे ममताको त्यागकर अपने आपके आत्मस्वरूपकी आराधना करनी चाहिए।

संयम, तपश्चरण, दानके प्रसङ्गमें भी अन्तःस्वरूपदृष्टिमे धर्मलाभ—सयम नामका आवश्यक कार्य है, तो सयममे आत्माका ही सयम हुआ। बाहरी चीजोका जो त्याग करता है वह कुशल है कि बाहरी चीजोमे हमारा उपयोग फसे और उसकी तरफ मेरा उपयोग आये, इसके लिए बाह्य पदार्थोका त्याग है। अब कोई इस रहस्यको तो जाने नही कि त्यागका उद्देश्य दो यह है कि आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपमे आये, रमे, करे, त्यागे, बाह्य चीजोको तो ऐसा त्याग करने वालेको जरा-जरासी बातोमे गुस्सा भी आने लगता है, क्योकि त्यागका उद्देश्य तो जाना नही। त्याग किया है इसलिए कि बाह्य पदार्थोमे हमारा उपयोग अधिक न जाय, यह तो समझा नही और त्याग करके फिर ऐसा भाव बनता है कि मैंने देखो उपवास किया है, त्याग किया है, इन लोगोसे कुछ नही बनता, मैने इतना कर लिया—जब ऐसा भाव बनता है तो जरा-जरासी बातोपर गुस्सा आने लगता है। तो जहाँ सयम किया वहाँपर भी क्या सीखा ? आत्माके स्वरूपका ज्ञान सीखा। तपश्चरण भी गृहस्थका काम है, इच्छाओका निरोध करना, इच्छाये होती हो तो उन्हे मेटना, इच्छा न होने देना, यह कहलाता है तप। ये इच्छायें क्यो मिटाई जाती है कि इनके उठनेसे हमे अपने परमात्मस्वरूपकी सुध नही होती। अब कोई तपस्याका यह मर्म तो जाने नही और तपस्या खूब करे, सर्दी गर्मी आदिमे सर्द, गर्म स्थानोमे बैठकर तपस्या करना, मक्खी-मच्छरोको भी काटने देना, बडे-बडे तप भी कर डाला, लेकिन वह तप किया उस अज्ञानी जीवने पर्यायबुद्धिसे। मैं तपस्वी हू, मुझे तप करना है। मच्छर काटते है तो हटाना भी नही, सुध भी हो रही है, वहाँ सब हो रहा है, मगर उसको पानेकी धुन लगी तो तपश्चरण कर रहे है, पर ऐसे तपश्चरणसे कोई धर्मकी सिद्धि नही होती। इच्छाओका निरोध करें और अपने आत्माके स्वरूपका परिचय पावें तो इस तपसे कर्मनिर्जरा होती है। इसी प्रकार दान—यह छठा कर्तव्य है गृहस्थोका। उसमे भी आत्माके स्वरूपकी बात ही सीखी गई। मन्दिरमे दान करो मन्दिर बनानेके लिए, तो क्या उद्देश्य है ? मन्दिर होगा, वहाँ लोग बैठेंगे, तत्त्वचर्चा होगी, आत्माकी सुध ली गई, तो उस दानमे भी आत्माके स्वरूपकी ही बात आयी। चार प्रकारके दानोमे ज्ञानकी ही बात आयी। तो ज्ञान एक मुख्य चीज है। आत्माके स्वरूपका बोध हुआ तो उससे भी धर्मकी बात बनती है। तो यह चीज

वनती है सद्ज्ञानसे, इसलिए ज्ञानके उपाय बहुत-बहुत बनावे । स्वाध्याय करके, पाठशालाये खोलकर, विद्वानोको बुलाकर, भाषण कराकर, जो-जो भी उपाय हो सकें ज्ञानके लिए सारे उपाय करें तो इसमे आत्माका उद्धार है । तो यो आत्माके स्वरूपका ज्ञान हो तो वहां धर्मकी बात बनती है ।

विवक्षित शुद्धोपादानदृष्टिका प्रभाव—आत्माके स्वरूपकी चर्चा ही की जा रही है कि विवक्षित शुद्धोपादानदृष्टिमे कैसी दृष्टि बनती है याने अपने आत्माको शुद्ध निरखना, ऐसा जब कोई उद्यम करता है तो यो दिखेगा कि यह जो कषाय आयी है, यह कर्म द्वारा आयी है, कर्म की चीज है, कर्मका प्रतिबिम्ब है, मेरा इसमे कुछ नही । इस तरह इसे कर्मकी चीज मानेंगे और अपने आपको शुद्ध परमात्मस्वरूपकी तरह निरखेंगे । यद्यपि दर्पणके आगे हरी चीज रख दें तो दर्पण भी हरा हो गया । हरा होनेपर भी दर्पण खुद हरा है क्या ? वह तो स्वच्छ है। इसी तरह कर्मोदय आनेपर आत्मामे क्रोधभाव आ गया तिसपर भी क्या आत्माके स्वरूपमे क्रोध है ? नही है, तो ऐसा अविकार ज्ञानस्वभाव निरखना यही है शुद्ध उपादानकी दृष्टि । यह हम कैसे जानते है कि दर्पणमे प्रतिबिम्ब पडनेका स्वभाव नही । यो जिससे कि हाथ सामने करें तो हाथकी छाया दर्पणमे आ गई और हाथ हटा लिया तो छाया नही रहती । तो दर्पणमे जो छाया पडी है वह दर्पणकी कहलायी कि हाथकी ? जब हम दर्पणको शुद्ध उपादानकी दृष्टि से देखते हो तब यह उत्तर आयगा कि यह वह छाया दर्पणकी नही है । वहाँ परिणमन हुआ है, इतनेपर भी चूँकि अन्वयव्यतिरेक मेरे हाथके साथ है तो छाया दर्पणकी नही कहलाती । इसी तरह अपने आत्मामे क्रोधादिक हुए हैं तो परिणामा तो है यह आत्मा, लेकिन कर्मके उदय होनेपर हुआ है और कर्मके अभाव होनेपर नही होता, इस कारण ये आत्माके नही कहे जा सकते । तो यो भीतरमे अपनेको देखना है कि मैं ऐसा शुद्ध अविकार हू । व्यर्थकी ममता है । जिससे ममता कर रहा है कोई, क्या वह चीज उसकी हो गई ? माँ अपने पुत्रसे ममता करती है तो ममता करनेसे क्या वह माँ का पुत्र बन गया ? वह जीव अलग है, माँ का जीव अलग है, वह अपने कर्मसे आया है, अपने कर्मसे जायगा । सुख दु ख भी पाता है तो अपने कमाये हुए कर्मके अनुसार पाता है । माँका वह कैसे कुछ हुआ ? पर व्यवहारमे कहते है, तो ममता व्यर्थ हुई । इसी तरह जितने भी विकल्प किए जाते है—मैं इसको यो कर दू, मैं इसको यो कर दूँ, यह भी व्यर्थ है । तुम सोचते रहो कुछ भी । तुम्हारे सोचनेसे वहाँ होता क्या है ? देखिये सीताके जीवने जब वह प्रतीन्द्र हो गया और रामचन्द्र जी मुनि अवस्थामे ध्यान कर रहे थे तो श्रीरामको डिगानेके लिए वह जीव आया । बडे हाव-भाव दिखाये, इसलिए कि यह अभी डिग जावें तो अभी मोक्ष न जा सकें, बादमे हम और यह दोनो मिलकर मोक्ष जायेंगे। तो बडा रागभाव दिखाकर प्रतीन्द्रके जीवने बडा उपद्रव भी किया, लेकिन श्रीराम रच भी न

डिगे । उनकी तो वहाँ मुक्ति ही हुई । कोई चाहे कि मै इसे धर्ममार्गमे लगा दू तो क्या उसके विकल्प करनेसे वह मार्गमे लग जाता है ? उसकी अच्छी बुद्धि जगे तो वह मार्गमे लग सकता है । तो ऐसे ही समझिये कि हम जितने भी विकल्प करते है वे सब झूठे है । उनमे जो सोचा जाता है तो इतना सोचनेसे वहाँ यह होता तो नही है, इसलिए वह सब मिथ्या है । तो विकल्पसे निराले अपने आत्माको निरखना यही है शुद्ध उपादानकी दृष्टि ।

अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टिका प्रभाव—अब देखिये अन्तर्व्याप्यव्यापकदृष्टि । अपने आपको अपनेमे देखें कि हम हम ही मे बने रहे या दूसरेमे बने रहे, इतना जो भाव होता है वह हममे ही बनता है, दूसरेमे नही । लोग यो कहते है कि अमुक आदमी तो अन्यायसे धन कमाता है, दूसरोको सताकर धन कमाता है तो उस धनको जितने लोग खायेंगे उन सबमे वह पाप बंट जायगा, लेकिन ऐसा नही होता । अरे जो अन्याय करेगा, जो सक्लेश करेगा उसको ही फल मिलेगा । हाँ खाने वाले लोग यह जानते हो कि यह अन्यायसे कमाता है, सताकर कमाता है, फिर भी मौजसे खायें तो उन्होने अलगसे पाप बाँध लिया । पर ऐसा नही है कि कमाई करने वालेका पाप बाँट लेते हो और यह कुछ पापसे हल्का बन जाय । जो करता है सो ही कर्म

ख है, दु ख है, विकल्प है, विचार है ये

ो अपनो ही करते है कि नही ? हिसा

हिंसा कुछ न होगी । हमारी हिंसा हो

भाव किया । तो इसे कहते है—अन्त-

व्याप्यव्यापकदृाष्ट । इसम क्या ।वचा।रन। ह ।क म ज। कुछ करता हू सो मैं मुझमे ही करता हू, मैं ही मुझमे व्यापक हू, मेरे भावोका कोई दूसरा साथी नही है । देखो—ऐसा जो लोग उलाहना देते है कि कोई किसीका साथी नही, सब खुदगर्ज है···, अरे इसमे उलाहना देनेकी क्या जरूरत है ? वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी पर्यायमे रहेगा, दूसरेकी पर्यायमे न रहेगा । यदि कोई पुरुष अपने मित्रका, पुत्रका, स्त्रीका बहुत ख्याल रखता है, आराम देता है, सुख देता है तो उस पुरुषने कुछ नही किया । उसने अपना भाव किया और अपने भावोके अनुसार अपने आपमे पुरुषार्थ किया, प्रयास किया । दूसरा कोई सुखी हुआ तो वह अपने खुद उदयसे, अपने खुद परिणमनसे सुखी हुआ । कोई किसीको सुख नही देता, कोई किसीको दुःख नही देता, सब पुण्य-पापके उदय है, इसलिए अधिक दृष्टि दें अपने आपकी सभालपर । मैं अपने आपके आत्माको सभाले रहू, सावधान रखूं, इसपर दृष्टि करनी चाहिए । जब यह दृष्टि बन जायगी कि मेरा सब कुछ मुझमे है, मेरेसे बाहर मेरा कही कुछ नही है । तो वह अपने आपके स्वभावका भी दर्शन कर लेगा । लोग कहते कि परमात्मा घट-घटमे मौजूद है, वह किस तरह मौजूद है ? वह इसी तरह है कि प्रत्येक जीव परमात्माका स्वरूप

रख रहा है । अगर वह बनेगा तो विधिपूर्वक । दूधमे घी है कि नही ? जो एक खाली दूध लाये उसमे वही मौजूद है, पर आंखो दिखता है क्या ? नही दिखता, और उसकी विधि बना लें, दही बनाकर मथन करे तो उसमेसे घी निकल आयगा । तो दूधमे घी मौजूद है, पर घी बनानेकी तरकीब भी तो होती है । ऐसे ही आत्मामे परमात्मा है, हम आप सब जीवोंमे भगवान है, मगर भगवान बननेकी विधि भी तो होती है । क्या विधि है ? ममता न करें, बाह्य पदार्थोंसे उपेक्षा करे, किसी भी बाह्य वस्तुमे उपयोग न फसायें, अपने आपके ज्ञानस्वरूप आत्माको निरखो । मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही ज्ञानरूप हू, ज्ञानके अतिरिक्त और मैं कुछ नही हू, ऐसा ज्ञानरूप ही ज्ञानमे आये । ज्ञानका अनुभव बने तो सारे दोष दूर हो जाते है, और यह परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है । तो जैसे दूध दहीको मथे बिना घी नही प्रकट होता, ऐसे ही आत्मस्वरूपको मथे बिना अर्थात् उसमे उपयोग जमा रहे तब ही परमात्मस्वरूप प्रकट होगा । भगवानके दर्शन होते है समतासे । समतापरिणाम हो, रागद्वेष भाव न हो तो आत्मा मे परमात्मस्वरूपके दर्शन होते हैं । तो दो बातें एक साथ तो नहीं हो सकती कि घरकी ममता भी करें और धर्मका फल भी लूट लें । ममता वालेने धम ही कहाँ किया ? चीजें सब विनाशीक है । अपने आत्माकी दया हुई हो, आत्माका उद्धार करना हो तो उसका रास्ता मोक्षमार्ग है । ममता छोडें, रागद्वेष छोडें और अपने ज्ञानस्वरूपकी उपासना करें । और ससारमे रुलना है तो उसका उपाय तो कर ही रहे है सभी लोग । मगर ससारके उपायमे फायदा नही है, जन्ममरण मिलेगा, खोटी मौत मिलेगी, खोटा जन्म मिलेगा । इससे आत्मामें आयें, ज्ञान मे आये, कषायें कम करे, आत्माके स्वरूपको निरखनेका प्रयास बनावें, उसका योग जुडावें, बस यही कल्याणकी चोज है ।

हम आप सब लोगोकी स्थिति वर्तमानमे बडी विपत्तिमय है । जन्म और मरणके सकट परम्परासे चले आये हैं और सबसे बडा सकट यदि हम आपपर है तो सक्षिप्त शब्दो मे यह कह लीजिये कि जो जन्ममरणके चक्र लगे है यह सबसे बडा सकट है । जन्म किया, मरण किया और जन्ममरणके बीच जितनी जिन्दगी है उस जिन्दगीमे विकल्प किया । सिवाय इसके और क्या करते आये है ? तो पहिले तो इस ही बातपर निर्णय करे कि हम पर विपत्ति छायी है या नही । वर्तमानमे जरा मौज मिला, कुछ पुण्योदय हुआ, कुछ सुख सुविधायें मिली, मन मिला, कलायें हासिल की । तो इनमे मौज मानना उचित नही है, क्योकि हम आपपर बडी विपत्ति पडी हुई है, यह सकट दूर करना है । यह सकट कैसे दूर हो, यह है अपने लिए सुलझानेकी बडी समस्या । जैसे थोडा किसी व्यवहारके कारण दूसरेसे असतोष हो जाता है, कुछ बात नही मिलती, कुछ मन नही मिला, कुछ कषाय न मिली तो बडा शल्य कर लेते, सुहाता नही, किसीमे प्रेम कर लेते जहाँ कषायसे कषाय मिली, ये सब

बाते कोई खास समस्या नही है, इनपर अधिक दृष्टि नही देना है । ये काम तो उपेक्षाभावसे करने है । कोई कैसा ही बोलता है, परिणमता है, सोचता है तो उनकी परिणति है, स्थिति है वह आपके लिए बडी समस्या नही । कभी धन कम हो गया अथवा नुक्सान हो गया या परिवारमें इष्टवियोग हो गया तो यह कोई बडी समस्या नही, इसपर विशेष ध्यान देना ठीक नही । समस्या यह सामने खडी है कि जन्ममरणके चक्र लग रहे है । एक ही बात जीवनमे मुख्यतया ध्येयमे रख लें, बाहरके कुछ पपिरणमन मेरे ध्येय नही, गृहस्थी है यद्यपि, यह सब अवश्य है सो कर्तव्य निभा रहे है । दुकानके समय दुकान पर गए, काम हो गया, छुट्टी पायी अब घरमे रहने वाले जितने लोग है, उनका जैसा उदय है वैसा काम बन गया । अब उस सम्बंधमे अधिक विकल्प रखना कि हाय, ऐसा क्यो न हुआ ? अरे इसके लिए क्या चिन्ता करना ? घर वालोका जैसा उदय है उसके अनुसार आय होगी, आप तो सेवक है उनके । हो रहा है, निमित्त है, यह समस्या ज्यादा नही है । सिवाय जन्म मरणके सकटके और वे जन्म मरण करने लगे है विकल्पके आधारसे तो इस जन्ममरणका दुःख मेटनेके सिवाय और कोई समस्या प्रधान नही है, पहिले यह निर्णय हो और उसके अनुकूल कुछ बात अपनी परिणतिमे आने लगे । हम जरा-जरासी प्रतिकूलताओमे घबडायें नही, वहाँपर प्रसन्न रह सकें, जो होता है ठीक है, उसमे मेरा क्या ? तो अपनेपर करुणा करनेकी बात अब इस जीवनमे करनी चाहिए, क्योकि यह जीवन बड़ी दुर्लभतासे मिला है । जो हमें समागम मिला है वह ससारके अन्य जीवोपर दृष्टिपात करें तो बहुतोसे अच्छा है । ज्ञानशक्ति है, मन मिला है, हेय उपादेयका हम विवेक कर सकते है, सयमका साधन मिला है, तो इतनी सब बातें श्रेष्ठ मिल जानेपर भी हमने अगर इनका उपयोग न किया तो यो बरबाद गए जैसे मानो कौवा उडानेके लिए कोई रत्न फेंक दे और वह रत्न समुद्रमें गिर जाय । इसी तरह हमने जो वर्तमानमे समागम पाया है उसे हम फेंक रहे है, उसे उपयोगमे नही ले रहे हैं । उसे व्यवहारमे लें, प्रकृत बात यह कही जा रही थी कि हमपर जन्म मरणके सकट है, उनके दूर करनेका जीवनमे ध्येय बनावें, अन्य और ध्येय न बनायें । अन्य बातें जैसी होनी है हो जाती हैं, उनसे निपट लें, पर वे चित्त मे अधिक धारण करने लायक बातें नही है । तो जन्म मरणके सकट कैसे छूटे ? जिन उपायो से ये सकट लगे है उन्हे न करें तो ये सकट छूट जायेंगे ।

संसरण और मुक्ति पानेका उपाय—ससार और मोक्ष पानेके उपायोंमें यह बहुत सुन्दर सक्षिप्त उपाय बताया है— देहान्तरगतेर्बीज देहेस्मिन्नात्मभावना, बीज विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना । देह मिलते रहे, इसका तो उपाय यह है कि देहमे आत्मबुद्धि करते रहो । शरीरको 'यह मैं हू' ऐसा आग्रह करें तो शरीर मिलते रहेंगे । और जो शरीर नही चाहते, मायने जन्म मरण नहीं चाहते, शरीर मिला उसके मायने जन्म, एक शरीरसे गया ...

मायने मरण। तो अगर जन्म मरण नही चाहते याने शरीर नही चाहते तो आत्मामे आत्म-भावना करो। मै यह चैतन्यस्वरूप हू, इस देहको निरखकर जो यह भीतर विश्वास बनाता है कि यह मैं हू, बस इससे ससारके चक्र चलते है। अब देखते जाइये—कितनी गल्ती की, शरीरको मान लिया कि यह मैं हू और कितना भगडा वन गया कि ससारके जीवोको देख लो—कैसे कैसे जीव, कैसे-कैसे देह, कैसे-कैसे जन्म होते है, इतनी बडी भूलका वतगड कितना बडा बन गया? अभी व्यवहारमे कहा जाय कि ऐसी गल्ती तो माफ कर देने लायक है, क्योकि इसमे किसीका बिगाड नही किया। इसमे उसने क्या भगडा वनाया, क्या जगतका बिगाड किया, लेकिन यह गल्ती मूलकी इतनी बडी है कि जितने हमपर सकट छाये है वे सब इस गल्तीके आधारपर है। बात सरल भी नही, कठिन भी नही। जैसी पात्रता है उसके अनुसार सरल भी हैं, कठिन भी है। इस जीवको कूट-कूटकर कदर्थित कर देने वाली यदि कोई दृष्टि है तो यह ही है—देहमे आत्मदृष्टि रखना।

देहात्मभावनाकी सकलसंकटमूलकता—आप देख लो जितने भगडे लग रहे है वे सब इस दृष्टिके आधापर है। कोई सम्मान-अपमानका क्लेश मानता है तो वह इस देहके आधार पर है, क्योकि उसने माना कि यह मै हू, तब ही यह भाव आ गया। कोई यह माने कि मैं तो चैतन्यस्वरूपमात्र हू, देह नही हू। तो कोई कितना ही अपमान करे तो उसका विषाद न मानेगा। तो अपमानका जो दुःख लगा है वह देहमे आत्मबुद्धि की तब लगा है। आप दुःखके नाम ले लो—जितने भी दुःख कहे जा सकते हो सबका मूल यह निकलेगा कि देहमे आत्म-बुद्धि की, इसलिए ये सब सकट छा गए। कुछ सकट ऐसे हैं कि देहमे आत्मबुद्धि तो नही कर रहे, फिर भी सकट आ रहे है। सकट तो सम्यग्दृष्टि जीवपर भी आते है, लेकिन उन सकटो का भी मूल देहात्मबुद्धि की, उस समय जो कर्म बाँधे वे परम्परासे वहाँ अब भी सकट उठा रहे है। तो सर्वसकटोका मूल है देहमे आत्मबुद्धि करना। भूख लगती है, प्यास लगती है, शारीरिक रोग हो जायें, जो कुछ भी है वह देहात्मबुद्धि की, उसके आधारपर है। आज नही भी मिली देहमे आत्मबुद्धि, फिर भी जो कुछ सकट है वे सब असत्यदृष्टिसे है। तो सारे भगडे देहमे आत्मबुद्धि करनेसे लगे हैं। तब जो सत्य बात है उसका आग्रह कर लो, असत्यका असहयोग कर लो, काम बन जायगा। मैं चैतन्यस्वरूप हू।

आत्मसुधका महत्त्व—कोई सोचते है कि बात कहना बडा सरल है, मगर इसपर प्रयोग करना, अमल करना, कुछ भी चलना बडा कठिन लग रहा, तो सुनो—पहिले यह ही दृष्टि बन जाय, यह क्या कम प्रयोग है, इतना हताश न होना चाहिए। अगर देहसे निराले इस चैतन्यस्वरूपकी कुछ भी भाँकी होती है, कुछ ढगसे अगर चर्चा भी कर लेते है तो भी यह एक प्रयोगका रूप ही तो है, और जो मेरेको यह प्रयोगात्मक न बना, इस प्रकारकी जो कुछ

आकुलता है वह भी तो इस ही प्रयोगके आधारपर ही है। काम इसी तरह बना सकते है। जितनी भी सिद्धि होती है वह भेदविज्ञानके प्रतापसे होती है और जितने भी बन रहे है वे भेदविज्ञानके अभावमे ही बन रहे है। जैसे चीटी भीतपर चढती है, फिर गिरती है, फिर चढती है, आखिर किसी न किसी वक्त वह चढ ही जाती है। इसी प्रकार हम भेदविज्ञानपर न रह सके, आत्मस्वभावके अनुभवके पथपर हम न चल सके, लेकिन करने योग्य काम तो यह ही है, दूसरा नही है। करने योग्य काम एक यही है कि सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने आपके स्वभावकी श्रद्धा करना। इस प्रसगमे एक बात और समझनेकी है कि हम चाहते है कि मेरी मुक्ति हो। मुक्तिका अर्थ क्या है कि विषयकषाय प्रभाव, द्रव्यकर्म, नोकर्म, शरीर, जन्म मरण इन सब झझटोसे निराला हो जाऊँ और मैं खालिस हो जाऊँ, उस ही मे रह जाऊँ, मुझमे अन्य कुछ परभाव न आयें, परका सग न रहे, मैं केवलमे ही रह जाऊँ, इसीके मायने तो मुक्ति है, तो जब यह श्रद्धा हो उठी कि मैं स्वरूपसे ऐसा ही हू कि मेरे स्वरूपमे अन्यका स्वरूप नही पडा है, स्वरूपसे मैं केवल ही हू, चाहे मेरी वर्तमान स्थिति कुछ भी हो रही है, पर स्वरूपसे यदि मैं केवल न होता तो कभी भी मैं किसी भी उपायसे केवल नही बन सकता। इसको कुछ इन उदाहरणोसे ले लो—किसी चीजको जब हम साफ करते है, मानो इस चौकी को रग, बीट आदि धोकर साफ करना है तो वहाँ साफ करनेके लिए क्या करना होता है ? साफ करने वालेके चित्तमे यह बात बसी है कि चौकी स्वरूपतः वैसी है जैसी कि हम निकालना चाहते है। अगर ऊपरकी बीट, रग आदिको साफ कर दें तो चौकी ज्योकी त्यो निकल आयगी। अगर श्रद्धामे यह बात न बसी हो तो चौकीको वह साफ करनेका प्रयास ही नही कर सकता। तो सम्यग्दृष्टि जीवको यह श्रद्धा है कि मैं सत्त्वसे, स्वरूपसे, अस्तित्त्वसे मै मै ही हू, मुझमे अन्य चीजे नही लगी हुई है तब उसका प्रयास बनता है और इस प्रकारका वह होने लगता है। तो इसको भी यह श्रद्धा चाहिए कि मै मै ही हू स्वरूपदृष्टिसे। इस समय इस विकल्पके लिए अवसर नही है कि यह वैभव कैसे हुआ, कैसे आया, किस निमित्तसे आया, किस ढगसे आया, इसकी बात इस समय नही कह रहे, केवल यह बात दृष्टिमे ला रहे हैं कि मुझे बनना है परमात्मा, विशुद्ध आत्मा, केवल आत्मा, तो ऐसा केवल मै सत्त्वसे हू या नही या सत्त्वमे ही मै दो मिलकर सत् हू, अगर दो या अनेक मिलकर मै सत् होऊँ तो यह बात कभी नही बन सकती, परमात्मत्व भी प्रकट नही हो सकता, फिर तो दो बात समझें, परमात्मत्व नही हो सकता, एक तो यह। दूसरा कुछ न रहे एक यह। यदि कोई असर अनेक पदार्थोंको जोडकर हो रहा है और असर मात्र ही मै जीव हू, तो ऐसा शून्य रहा जैसे कि भौतिक लोग मानते हैं कि जीव कुछ नही है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका समूह है सो जीव है। जल अग्नि वायु इनका समूह है सो जीव है, यदि यह बिखर गया तो जीव न रहा।

परमात्मा भी न हो सके और जीव भी न रहे। यदि अपने आप सत्त्वसे केवल स्वकी सत्ता नही स्वीकार है कि मै हू वास्तवमे अपने स्वरूपसे वहीका वही तो शान्तिका उपाय भी नही बना सकते और न वे सिद्ध भी हो सकते। तो यह श्रद्धा चाहिए कि मै देहसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हू।

निश्चयत. स्वयका स्वयमे ही कर्तृत्व भोक्तृत्व—अब निजके नाते से इसमे और विचार करें कि मै ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू, हर स्थितिमे भेदविवक्षामे कुछ भी कह लो, पर वस्तुतः क्या हो रहा है ? कोई जीव दु:खी हो रहा है तो हो क्या रहा है ? ज्ञानको उस तरह बनाया जा रहा है, जिसके दु खका अनुभव होता है। यह मेरा है, वह गिर गया, वह मिट गया, अब उसकी क्या हालत होगी ? बस उस तरहका एक ज्ञान बन रहा है। वह जघन्य ज्ञान है, जिस ज्ञानमे यह क्लेश पडा हुआ है। और कोई जीव मौज मान रहा है तो क्या कर रहा है ? एक तो ज्ञानके नातेसे तको। कोई हमे हित चाहिए और हित के लिए हम एक ज्ञानस्वभावमात्र चैतन्यको स्वीकार करें, उसकी समालोचना कर रहे हैं। मौज भी जिसको मिल रहा है उस तरहका ज्ञानपरिणमन कर रहे है। जिसमे मौज मिला करती है, यह मेरा है, बडा अच्छा है, सब ठीक चल रहा है, धन भी खूब आ रहा है, बच्चे अच्छी तरह रह रहे है, सब आज्ञाकारी है, मेरेको बडा मौज है, इस तरहका विकल्प हो रहा है, वह विकल्पका परिणमन चल रहा है। जैसे किसी पागल पुरुषको सत्य आनन्द आ रहा तो भी वहाँ क्या हो रहा ? ज्ञानका परिणमन उस तरहका चल रहा है, जिसमे आनन्द है, ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया हुआ है। ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ज्ञेय हो रहा, सामान्यज्ञान। उस ज्ञान-ज्योतिरूपसे ही मेरा परिणमन चल रहा, उसे सत्य आनन्द आ रहा, आकुलताका नाम नही। तो यह मैं हर स्थितिमे ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू।

परमार्थतः कर्तृत्व भोक्तृत्वका अभाव—अब एक और अन्तर्दृष्टि लगायें तो मैं एक ज्ञानमात्र हू तो मेरा उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरतर होगा। प्रत्येक पदार्थका उत्पाद व्यय निरन्तर होता है। मैं ज्ञानमात्र हू तो मेरा उत्पाद व्यय हुआ ही करेगा तो ज्ञानका परिणमन, जानन यह हुआ ही करेगा। उसका करना और भोगना क्या ? यह हो रहा है, इसीको हम भेददृष्टि से करें और भावनाकी बात कहते है। हो रहा है, लेकिन परमार्थत मैं अविकार ज्ञानस्वभाव हू अर्थात् मेरे ही मात्र सत्त्वकी दृष्टिसे देखा जाय तो मेरेमे स्वभाव अविकार ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानरूप है, ज्ञानसे ही तो रचा हू। यह जीव है, ज्ञानघन है, बस वह ज्ञानघन जो सहज ज्ञान है, अपने सत्त्वके कारण ही जो कुछ है वह अविकार ज्ञानस्वभाव है। जैसा ज्ञानस्वभाव है वैसा परिणमन हो, वैसी निर्मलता हो तो सारे सकट दूर हो सकते हैं। देखिये—सारी बात-चीत अपनी चल रही है, अपने आत्माकी चल रही है, इसलिए कुछ कठिन नही मालूम होना

चाहिए। दृष्टिसाध्य बात है। दृष्टिकी दृढता यह उसका आगेका कदम है। जिस दृढतामे उसके अनुरूप परिणमन होता है, दृष्टिसाध्य बात है, हम चाहे ससारमे रुलते रहे तो उसका भी उपाय मौजूद है। देहको मान ले कि यह मै हू, बस खूब जन्म मरणकी कमाई कीजिए, और यदि जन्म मरणसे हटना है तो मूलमे यह श्रद्धा कर लीजिए कि देह मै नही हू, मैं तो देहसे निराला अमूर्त चैतन्यस्वभाव हू।

आत्मप्रकाशमे संकटका अभाव—देखो—कहीसे आवाज भी आ सकती है कि इस समयमे बडी मुश्किल है। कही सिरदर्द हो जाय तो ये सब बातें एक ओर धरी रह जाती। उससे कहे कि जरा चर्चा करो तो नही कर पाता। कोई लोग ऐसे भी हुए है कि जिनके नहीं धरी रह पाती। सुकौशलको सिंहनीने खाया, सुकुमालको गीदडीने खाया, किसीके सिरपर अगीठी जलाई गई, किसीके शरीरकी चाम छीलकर नमक छिडका गया, पर उन महापुरुषोने ऐसे सकटके समयमे भी अपने धैर्यको नही खोया। वे ज्ञानसाधनामे स्थिर रहे। हम आप भी मामूली-मामूली बातोमे घबडा तो नही जाते। कुछ लोग ऐसे भी होते है कि जो सकट आया भी न हो, आनेकी सम्भावना भर हो तो इतनेमे ही अपने धैर्यको खो देते है। इतनेमे ही अपने को आकुल-व्याकुल कर देते है। तो जीवनमे बस एक ही सहारा है, दूसरा सहारा सब व्यर्थ है, सब विकल्पकी बातें है। मेरा जो चैतन्यस्वरूप है उसकी दृष्टि रहे, उसकी धुन रहे, अपने आपको ऐसा अनुभव करनेका यत्न रहे कि मैं अविकार ज्ञानस्वभाव हू, ज्ञानमात्र हू, ये सब लोग जिसे समझ रहे—मै हू, यह तो मैं हू ही नही, यह तो देह है, असमानजातीय द्रव्य पर्याय है, मैं तो एक चैतन्यस्वभाव हू, पर यह बात दृढतासे आ जाय तो निश्चयत उसमे भी बल होता है कि अपमान, ससारके क्लेश, बाहरके प्रतिकूल व्यवहार, इन सबपर उसका असर नही होता। उसे तो अपनी पडी है, दूसरेकी क्या सोचना? दूसरी बात और ध्यानमे रखने की है कि मेरेमे जो विकल्प उठते हैं, यह ज्ञान विकल्परूप चलता है, विकल्पको क्या समझाना? सब जानते हैं। कुछ सोच रहे है, किसीका विचार कर रहे है, तो ये विकल्प जितने क्षण उठते है उतने क्षण तो हमारा जीवन व्यर्थ है, मकानका, धनका, स्त्री-पुत्रादिकका, इज्जत का किसी भी प्रकारके जो कुछ विकल्प उठ रहे है और प्रायः उठ रहे हैं। बहुतसा समय इसी मे जाता है तो वह हमारा व्यर्थका जीवन है, बेकार है, बेकार भी नही है। बेकार हो तब भी अच्छा, मगर यह तो पुरस्कार है, अनर्थकी ओर ले जाने वाला है। कोई सुख ऐसा है कि इससे काम न बने तो चलो न बना, मगर उल्टा काम बने तो वह बेकारसे भी बुरी चीज है। और जितना सुख उसके ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाये, उसकी चर्चा हो, उसका ज्ञान हो, उसका प्रतिभास हो, उस ओर दृष्टि हो, उस ओर हमारा ज्ञान चले, मैं ज्ञानमात्र हू, तो जितने क्षण ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ज्ञेय हो, वह क्षण हमारा सारभूत है, और बात यह बहुत ठिकानेकी है कि

अगर हमारा पापमय जीवन है तो जीवनमे सन्तोप नही आ सकता । अगर अज्ञान बसा है तो सन्तोप आयगा क्या ? ज्ञान होगा तो भी असतोप रहेगा । ज्ञान जगनेपर यह असतोष रहे कि मैंने सारा जीवन पापमे व्यतीत कर दिया, मैंने कुछ नही किया, और मान लो इसी समय मौत आ रही है तो वह अभी घबडायेगा कि हाय, मैंने पापोमे ही सारा जीवन गवाया अथवा हितका काम नही किया । यह पापमयी दुनिया, ये विकल्पकी स्थितियाँ ये सतोषके कारण कभी नही हो सकते । और जिसमे भी साधन किया, इस ज्ञानस्वरूप निज परमात्मतत्त्वकी सुध रखी और इसकी भक्तिमे कुछ चला, कुछ इसके ज्ञानमे रहा, उस प्रकारकी वृत्ति भी बनी रहे तो मरते समय यह सतोप रखेगा । मै मर भी रहा हू तो क्या हो रहा है ? कुछ गडबड नही हो रही है । मैं आगे पूरा ज्ञानसर्वस्व जो मेरी निधि है सब एक साथ लिए हुए जा रहा हू, अपरिचित स्थानमे जा रहा हू, पर मैं अपने आपमे पूरा परिचित होता हुआ जा रहा हू । उसको घबडाहट नही हो सकती । तो इतना उल्लास बनाना चाहिए कि जीवनमे चाहे दरिद्रता आये तो वह मेरे लिए कोई बडी समस्या नही है । अगर कोई घरके लोग या मित्र जन प्रतिकूल हो रहे हो तो यह भी मेरे लिए कोई बडी समस्या नही है । मेरेसे कुछ चिपका तो नही है, मेरे स्वरूपमे कोई प्रवेश किए हुए तो नही है, मेरे लिए वह क्या समस्या है ? समस्या है यह विकल्परूप परिणमनकी और ज्ञानस्वरूप दृष्टिकी । विकल्पपरिणमन तो मेरे अनर्थके लिए है और इस ज्ञानमय आत्मतत्त्वका दर्शन है तो वह मेरे लिए हितकारी है । बस सही और गैर सही समस्याको ही इन दो बातोमे सक्षेपसे रखो । तब भलाईके लिए केवल हमको एक ही उपाय है—उस ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि रखना ।

अन्तस्तत्त्वके दर्शनमे कल्याण लाभ—हम जो इस तरह कर्तव्य निभाते है गृहस्थधर्म के अनुसार, उन सबमे यह बात पडी रहती है कि हम इस ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वके दर्शन करें । देवदर्शन मे भी यही बात है, गुरूपासनामे भी यही बात है । हम उस ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व के दर्शन करें । पहिले तो गुरुका दर्शन होगा इस रूपमे कि कैसा शुद्ध ज्ञाता है, कैसा अपने आपकी ओर धुन रखने वाला है, कैसा अपने आपकी सभाल करने वाला है ? धन्य हैं वे गुरु, इसलिए उनकी उपासनामे रहे, दर्शन हो तो ज्ञानस्वरूपका ही । स्वाध्याय करे तो वहाँ भी ज्ञानस्वरूपका दर्शन है । सयम, तपश्चरण, दान आदिक सभी उपाय उसीके लिए हैं । तो हम आपके जीवनमे एक ही निर्णय हो, इसी आधार पर चलें कि मेरेको समस्या एक जन्ममरणसे छुटकारा पानेकी है और समस्या मेरे लिए कोई खास बात नही है । यह तो जैसा होना होता है वैसा होता है । कैसा ही परिणमे मेरेमे व्याकुलता नही होती । मैं अपने ज्ञानस्वरूप को भूल न जाऊँ । बस ऐसा ही मेरा उपाय रहे । यह उपाय जिन्होने किया उनका मानवजीवन सफल है । जो इस उपायसे दूर रहे उनका मानवजीवन उसी तरह गया

जैसे कि अब तकके अनन्तभव व्यर्थ गए। भ्रमसे उत्पन्न हुआ दु.ख भ्रमके नाश बिना कैसे मिट सकेगा ? रस्सीको साँप जान लिया तो लो घरमे बैठे हुए ही आकुलित हो रहे तो यह दुःख कैसे मिटेगा ? मान लो वह रस्सी बहुत दूर है, सकट नही है, मगर शल्य तो बनाये रहेगा। यह है कोरा भ्रम। जरा हिम्मत करके थोडा पास जाकर देखा तो मालूम हो गया कि यह तो कोरी रस्सी है, तो सब दुःख मूलत. नष्ट हो जायेगे। जहाँ इन मायामय भावोमे आत्मदृष्टि की, इस मायामय दुनियामे अपना निवास समझा तो मायामय पुरुषोको अपने लिए प्रभुकी तरह देख रहा है। इनकी दृष्टिमे मैं भला जचूँ, ये लोग मुझे अच्छा कह दें। इसको प्रभु मानकर भीख सा माँग रहा है क्या ? अरे जो हो सो हो। हम अपने आपके आत्माकी संभाल करे। मैं सर्वसे अपरिचित हू। पहिले भी ऐसे मुनि हुए है कि जिनकी कोई प्रतिष्ठा नही हो रही थी, जिनकी कोई उनके समयमे उनकी इज्जत नही कर रहा था, जिनको कोई जानने वाला न था, लेकिन आत्मसाधना उनकी विफल नही हुई। वे ऋषिराज सिद्ध हुए। उनके ही समान हम भी पूर्ण आनन्दमय है। तो इस जगतसे क्या लेना देना है, अपनी करुणा करना है और अपनी करुणा इसी बातमे है कि इस देहसे निराला ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपकी ओर तकें, जिसमे किसी दूसरेका स्वरूप मिला हुआ नही है, अस्तित्वसे ऐसा ही है। ऐसे अपने स्वरूपको देखें तो कर्मबन्धन टूट जायेंगे, अन्यथा बहुत-सी खराबी हो जायगी। अपने आपको सत्पथ मिलेगा, शान्तिका मार्ग मिलेगा। अपनेको जन्ममरणके संकट दूर करनेका काम करना है। वह सकट दूर होगा अपने आपको देहसे निराला चैतन्यस्वरूप मात्र दर्शन, ज्ञान और उसके प्रयोगके बलसे। ऐसा निर्णय करके इस ओर ही अपने कदम बढानेका जीवनका ध्येय बनाना चाहिए।

यथार्थ ज्ञानकी सत्य शरण्यता—यह जीव अपने आनन्दके लिए कुछ न कुछ सहारा ढूढा करता है। जिसको जो सहारा जहाँ जचता है वह उसकी शरणमे अपने उपयोगको ले जाता है, पर अब तक हुआ क्या ? जिस किसीकी भी शरणमे गया वहीसे कोरा जवाब मिला। क्यो न मिलता ? वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ अपना द्रव्य गुणपर्याय प्रभाव कुछ भी तो दूसरेमे नही दे सकता। तो मेरेको कौन शरण रहा ? जिस किसी भी चेतन और अचेतन पदार्थकी शरणमे गया बस वहाँसे फुटबालकी तरह लात लगी और यहाँ वहाँ डोलता रहा। यह स्थिति अनादिसे अब तक बनी आयी है। इसका प्रमाण यह है कि ससारमे रुल रहे हैं, चारो गतियोमे भटक रहे हैं। अब अपने आपपर दया करके कुछ अपनी बात समझनी है। मेरेको शरण बाहरमे कही कोई दूसरा नही है। मेरे आत्मामे नित्य अन्तः प्रकाशमान जो सहज चैतन्यस्वभाव है, जो सहज ज्ञानानन्दस्वभाव है उसकी दृष्टि करना, उस की धुन बनाना, उसमे उपयोग रखना, बस यही मात्र शरण है और ऐसा शरण है कि सर्व-

सकटोसे मुक्ति दिलाकर सदाके लिए सत्य आनन्दमे पहुचा दे, ऐसी यह दृष्टि आलम्बन शरण है। वह प्राप्त कैसे हो ? उसके लिए वस्तुस्वरूपका ज्ञानाभ्यास चाहिए। वस्तुस्वरूपका ज्ञान होता है नयो द्वारा और नय होते है दो प्रकारके निश्चयनय और व्यवहारनय। देखिये दोनो ही नय हमारे ज्ञानके विकासके लिए उपयोगी है। पर पकडना है केवल चैतन्यस्वभावको। ये तो ज्ञानके तरीके है।

सहजस्वरूपके ज्ञानमे सम्यग्ज्ञानका लाभ—जैसे दर्पणके सामने कोई वस्तु रख दी, मानो एक हाथ ही कर दिया तो उस दर्पणमे हाथकी छाया आ गई। अब दर्पणका स्वभाव पहिचाननेके लिए हम दोनो नयोसे पहिचान कर सकते है। निश्चयसे तो दर्पण अपनी स्वच्छता मात्र है। दर्पणमे अपनी स्वच्छता उसका निजी स्वरूप है। दर्पणके स्वभावको हमे पहिचानना है तो हम इस तरह भी पहिचान सकते हैं कि दर्पण तो अपनी स्वच्छतामात्र है, उसमे अपनी निजी चीज दर्पणकी स्वच्छता है और वह परिणमता है। उस परिणमनेका एक यह भी असर होता कि वह छायारूप भी परिणम गया, लेकिन परमार्थ निश्चयसे देखें तो दर्पणमें जो निजी स्वच्छता है, जिस स्वच्छताके कारण प्रतिबिम्ब भी पड गया। भीतमे क्यो नही पडती ? उसमे निजी स्वच्छता नही है। तो जिस स्वच्छताके बलपर हाथका प्रतिबिम्ब दर्पण मे आ गया, वह स्वच्छता दर्पणकी निजी चीज है। हाथ छायारूप परिणम गया, मगर दर्पण का स्वभाव नही है। निश्चयदृष्टिसे इस तरह हमने दर्पणके स्वभावको परखा। अब व्यवहारदृष्टि से चलकर भी हम दर्पणके स्वभावको देख सकते है। व्यवहारनयसे जानकर उसका निषेध करके हम स्वभावमे परखेंगे। क्या हुआ ? दर्पणमें जो छाया हुई वह छाया किसकी है ? वह छाया यदि दर्पणकी होती तो दर्पणमे सदा काल रहनी चाहिए। तो वह छाया किसकी है ? वह यदि हाथकी हो तो हाथमे ही उसको बसना चाहिए। दर्पणमे क्यो बस गई ? वह छाया किसकी है ? दर्पण और हाथ दोनोकी है तो दोनोमे छाया दिखना चाहिए। वह छाया किसकी है ? अहो, न दर्पणकी, न हाथकी, किन्तु ऐसा मायामय विकार है कि हाथका निमित्त पाकर दर्पणमे उसका आभास हुआ है। अब जरा आत्माके विकारको भी तको— आत्मामे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार होते हैं। अहो बडे कष्टकी बात है।

ज्ञानानन्दनिधान आत्मपदार्थकी वर्तमान ससारदशापर खेद—यह आत्मा परमात्माके समान शुद्ध आनन्दका धनी है। इसमे विशुद्ध ज्ञान और आनन्दका स्वभाव पडा हुआ है, मगर आज हम आपकी क्या हालत हो रही है ? जो दयनीय हालत है, ज्ञान थोडासा, आनदका पता नही, विकार लगा हुआ है, कभी सुख माना, कभी दुःख, ऐसा विकृत जीवन चल रहा है। तिसपर भी एक ऐब और लगा है कि हम उसमे राजी हैं। तो भला जो थोडी दशामे राजी हो उसको तो खोटी दशा मिला ही करेगी। आखिर यह आत्मा भी तो ईश्वरका रूप है,

आत्मा स्वयं भी ऐश्वर्य है, तब यदि यह ससारकी स्थितियोमे राजी है तो इन स्थितियोसे कोई छुडा नही सकता। ये खूब मिलती रहे। यदि यह जीव जन्ममरणमे ही राजी है तो इसे जन्ममरण मिलते रहेगे. यदि यह देहको आपा मानकर इसमे ही राजी है तो इसको देह मिलते रहेगे, क्योकि आखिर यह प्रभु ही तो है। यह आत्मा अगर खोटी दशामे रम गया तो खोटी दशाके टोटे न रहेगे। तो यह खेदकी बात है कि हम अपने स्वभावको न पहिचानकर बाह्यमे रम रहे है। कुछ तो अनुभव भी होंगे सबके कि जितना जो समागम मिला उसकी एक कणिका भी साथ रहनेकी नही। किसीके पापका उदय आया तो जिन्दा रहते-रहते विनश जायगा अथवा मरणकाल आया, मरकर चले गए, एक साथ विनश गए, एक कणिका भी साथ नही जाती, मगर जो सस्कार बाँध लिया है वह सस्कार अगले भवमे भी जायगा और उन सस्कारोके अनुकूल हमारी दशा बनेगी। जैसी कि अब तक बनी चली आयी है। सच्चा बुद्धिमान पुरुष वह है, सच्चा मतलबी वह है, सच्चा काम बनाने वाला वह है, चतुर वह है जो अपने आत्माके बसे हुए परमात्मस्वरूपसे मिलन करे और तृप्त रहे, कर्मोको काटे, अपनेको शुद्ध बनाये, उसके समान और कोई चतुर नही कहा जा सकता। तो व्यवहारसे देखो कि आत्मामे जो विकार उत्पन्न होते है क्रोधादिक, वे कर्मके उदयका निमित्त पाकर होते हैं, ये पौद्गलिक है, ये मेरे नही हैं। ऐसा जब जाना तो विकारसे तो हटा और फिर अपने आपमे जो ज्ञानस्वरूप है उसका दर्शन पा ही जायगा। हमारे परमात्ममिलनमे बाधक है तो विकार है। जैसे एक म्यानमे दो तलवारें नही रहती है, इसी तरह एक उपयोगमे ससारभाव और परमात्मदर्शन ये दो भाव नही ठहर सकते। या रागद्वेष मोह, माया, ममता प्रपच रहेगा उपयोगमे या आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन होगा, वहाँकी तृप्ति होगी। यदि सच्चा जाना कि आत्मा उतना ही है जितना कि यह ज्ञानमात्र है, ऐसा जानकर अपनेमे प्रेम करें याने ज्ञानमात्र स्थितिमे अपना अनुराग बनावें, यही कल्याण है। जितनेमे यह ज्ञान ज्ञान रहे, ऐसा आत्मा ही तृप्त होता। जो पुरुष यह जानता है कि मैं देहसे निराला हू और मेरा एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ज्ञान दर्शनस्वभाव सबसे निराला हू, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक भले मिले है, तो ठीक है, व्यवहार निभाये, भला रागसे बोले, पर भीतरमें यह विश्वास रखे कि ये भिन्न जीव है, इनसे मेरा पूरा नही पड़नेका। मेरा पूरा पडेगा मेरे ही ज्ञानसे। दूसरा कोई पूरा पाडने वाला नही है, तो ऐसी अपने आपपर दया करे। यहाँ ही हम अपने आपपर दया न कर सके तो फिर कहाँ दया करेंगे ?

आत्माका सम्यक्ज्ञानकी ओर ढलाव—देखो—सच्चा ज्ञान करना सभी चाहते है। कोई भी घटना घट गई हो रास्तेमे, यह वहीं जा रहा हो तो यद्यपि उसका उस घटनाकी जानकारी करनेका कोई प्रयोजन नही है, फिर भी इसकी इच्छा हो जाती है कि मैं देख लो

सही कि वास्तवमे मामला क्या है ? तो सच्चा ज्ञान करनेकी तो इस जीवकी प्रकृति है। सच्चा ज्ञान करनेका प्रयास तो करना ही चाहिए, और जहाँ सत्य ज्ञान होगा वहा नियमसे सकट टलेंगे। कोई बडी कठिन बात तो नही कही जा रही है। जो बात जैसी हो उसको उस तरह मान ले। इतनी बातमे न कही लाठी पड रही, न आक्रमण हो रहा, न कुछ बात हो रही, फिर ऐसा करनेमे रुचि क्यो नही की जा रही है ? जो पदार्थ जैसा है उसका उस तरह से ज्ञान कर लो। अच्छा बताओ—दो जीव मिलकर कही एक हुए कभी, दोनोंने मिलकर एक जन्म लिया कभी या दोनोने मिलकर एक मरण किया कभी, या दोनोने मिलकर एक साथ सुख अथवा दु खका अनुभव किया कभी ? अरे सभी जीव भिन्न-भिन्न है। मान लो आपके घरमे जो पुत्र, स्त्री आदिक आये, ये जीव न आये होते, इनके बजाय और ही जीव आये होते तो क्या उनसे मोह करते ? आपके तो मोह करनेकी आदत पड गई है। कोई यह तो सम्वध नही है कि यह जीव है सो मेरी स्त्री है अथवा पुत्र है, ऐसा कोई सम्बध तो नही पडा है। जिसकी मोहकी आदत है, जो मिलता है उसीमे मोह राग करता है। जैसे लोग कहा करते हैं कि गोहरेकी आदत होती है कि वह किसी पुरुषको काटे और पेशाब कर दे तो फिर वह पुरुष बचता नही है। तो कही ऐसा नही कि पुरुषको काटे सो उसको उसका मूत्र लगता हो, किन्तु उसकी आदत है कि जब वह पेशाब करनेको होता है तो उसे कुछ न कुछ काटनेको चाहिए। काटनेको कुछ न मिले तो लकडीको ही काटकर मूत्र कर दे, आदत है उसकी ऐसी। ऐसे ही इस मोही जीवकी यह आदत है कि कोई मिलना चाहिए देखनेको, माननेको मोह करेंगे, राग करेंगे, द्वेष करेंगे, पर यह रागद्वेष मोह व्यर्थ है। जितने भी अध्यवसान है उन सबको मिथ्या बताया है। जितनी भी हमारी कल्पनायें है, विकल्प हैं वे सब मिथ्या हैं, क्योकि ये अर्थक्रियाकारी नही हैं। विकल्पमे जो सोचा, कल्पनामे जो माना, वहाँ परमे हो जाता हो, ऐसा सम्बध नही है। सीताजी ने बहुत चाहा कि श्रीराम अभी मोक्ष न जायें, ये ध्यानसे डिग जायें, कुछ दिन ससारमे रहे, फिर एक साथ दोनो मोक्ष जायेंगे। किया प्रयास, पर रामको ससारमे बाँधनेका भाव होनेसे क्या राम ससारमे बँध गए ? वे तो मुक्त हुए। किसी भी जीव को ससारसे छुडानेका कोई उपदेश करे, विकल्प करे, मैं इसको ससारके बन्धनसे छुडा दू, उसके ज्ञान वैराग्य जगता नही तो क्या उसको वह छुडा देगा ? और कदाचित् ज्ञान वैराग्य जग जाय तो क्या इसने छुडा दिया ? अपने ज्ञान वैराग्यतासे स्वय मुक्ति पाते हैं। कोई किसी का कुछ करनेमे समर्थ नही है। तब यह जानना चाहिए कि मेरे उपयोगमे कितने क्षण विकल्प बसा करते हैं उतना जीवन बेकार है, अनर्थ है। चाहे वह विकल्प किसी प्रकारका भी बसे।

त्रिविध अध्यवसानोकी अनर्थकारिता—देखिये तीन प्रकारके अध्यवसान होते हैं—क्रियमाणैकत्वाध्यवसाय, विपच्यमाणैकत्वाध्यवसाय, ज्ञायमानभावैकत्वाध्यवसाय। ध्यानसे

सुनने लायक बात है, अपने आत्मासे सम्बंध रखने वाली बात है। समझमे आनेपर भव-भवके बँधे हुए कर्म दूर हो सकते है। क्रियमाणैकत्वाध्यवसाय यही है कि मैं सुखी करूँ, दु:खी करूँ, मैं अमुक करूँ, इस प्रकारका जो विकल्प है वह क्रियमाणैकध्यवसाय है। अच्छा विकल्प हो, बुरा विकल्प हो, किसीको सुखी करनेका विकल्प है, किसीको दु:खी करनेका विकल्प है, अपने आपको कुछ करनेका विकल्प है। तो जहाँ क्रियाका सम्बन्ध लगा है ऐसा जो विकल्प है वह क्रियमाणकत्वाध्यवसाय है। दूसरा है विपच्यमाणकत्वाध्यवसाय। कर्मके उदय आये और हम अपनेको कुछसे कुछ मान लें—मैं धनी हू, गरीब हू, मूर्ख हू, पडित हू, सुखी हू, दु:खी हू, कुरूप हू, सुरूप हू, मनुष्य हू, मैं साधु हूं, मैं त्यागी हू, आदि किसी भी प्रकारसे मान्यता करता है यह अपनेमे, वह विपच्यमाणैकत्वाध्यवसाय है। आप सोच लो—सारा झगडा इस विपच्यमाणैकत्वाध्यवसायसे चला करता है। दूसरा कोई अपमान करे तो हमे बुरा क्यो लगता है? हमने माना कि मैं मनुष्य हू और मुझको ये सब लोग देख रहे है, यह ऐसा कह रहा है, अरे मैं मनुष्य ही नही हूँ। मैं तो इस देहसे निराला एक चैतन्यमात्र पदार्थ हू। उसको तो कोई लोग जानते ही नही, फिर मेरा अपमान क्या करेंगे? मेरा अपमान तो मैं स्वयं कर रहा हू। जो अपनेको सोच रहा हो कि मैं मनुष्य हू और ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्यपदार्थ हूं। तो हू तो मै कितना बडा महनीय स्वरूप वाला, किन्तु मान बैठा हू मैं कि विनाशीक मनुष्य-पर्यायरूप। हमने अपना अपमान तो खुद ही कर डाला। अब झूठमूठ भी क्यो सोच रहे कि ये लोग मेरा अपमान कर रहे? तो गुप्त ही गुप्त, किसीको कुछ दिखाना नही, अपने भावसे अपने भावमे ही पथ बढाना है। और यहाँ ही अपने आत्माके सहज ज्ञानानदस्वरूपका अनुभव करके तृप्त होना है। यह कुछ किया जा सका तो समझो कि हमने वह काम किया, वह काम करने लगे जो तीर्थंकरोने किया, बड़े-बडे मुनीन्द्रोंने किया, सदाके लिए हम संकट मिटा लेंगे। केवल एक ही काम सारभूत है। अपने आपके सत्य सहजस्वरूपको पहिचानें, उसका उपयोग बनायें और उसकी ही धुन बने, उसमे ही उपयोग रमे, ऐसे आनन्दामृतका पान करना, यह काम जितने क्षण बन सके वह क्षण सफल है, बाकी जितना विकल्पोंमें समय निकलता है वह हमारा व्यर्थका जीवन है। तीसरा अध्यवसाय है ज्ञायमानकभावकत्वाध्यवसाय। क्रियाकी व कहनाकी मुद्रा तो व्यक्त नही हो या न हो, किन्तु जो जाना जा रहा है उसीमें भूलके लग गये, आत्मसुध खो बैठे, ऐसे एकत्वाध्यवसानका नाम है ज्ञायमानभावकत्वाध्यवसाय।

की बात तो यहाँ है नही, फिर क्यो नही किया जाता ?

धर्मका अन्त स्थान—भैया ! कोई यह सोचे कि धर्म तो धर्मस्थानमे पालन करनेकी बात है । काम तो अभी हमे सब करने पडेंगे—व्यापारका, कमाईका, धनसग्रह आदिका । उसके बिना तो कुछ जीवन ही नही है । आजकी दुनियामे पैसा बिना कोई जीवन नही, इसलिए धन बढानेकी बात फिर इसके लग जायगी । काम तो वह पडा है, ठीक है, जब तक गृहस्थीमे है, पैसा बिना जीवन न चलेगा, होगा, मगर वहांपर भी सत्य ज्ञान तो कर लेवें कि पूर्वकृत पुण्यका उदय होनेपर स्वयमेव ही सब भोगसामग्री जरासे उपायसे प्राप्त हो जावेगी । इस बात मे रच भी मिथ्यापन नही है । पुण्योदय आये बिना ये सब चीजें प्राप्त नही होती । यह पुण्यफल कहलाता है । सो गृहस्थीमे रहते हैं, तीन वर्गका साधन करना होता है—धर्म, अर्थ, काम आदि । कुछ धर्मका काम भी करना होता है, कुछ धनार्जनका भी काम करना होता है । बच्चोके पालन-पोषण, विषयसेवन आदिके भी काम करने होते हैं । तो जो काम जिस समयका है वह उस समय कर्तव्यमे आयगा । मगर श्रद्धा तो यह रखनी है कि मैं ज्ञानमात्र आत्मा केवल ज्ञानभावको ही करता हू, ज्ञानभावको ही भोगता हू, मै धन नही कमाता हू । हमने ऐसा ज्ञानभाव किया था कि जिसमे पुण्यबंध है, उसका फल है कि वह आ गया अथवा कोई गरीबी आ जाय तो उसमे कोई विनाश है क्या ? गरीब होता हुआ भी कोई पुरुष आत्मा के सम्यक्त्वका आचरण करे तो वह तो पवित्र ही है, वह तो निकट कालमे ससार-सकटोंसे छूट जाने वाला ही है । उसका क्या बिगाड हुआ ? गरीबी आये अथवा कोई विपत्तियाँ है तो जो यह जानता है कि मै आत्मा ज्ञानमात्र हू, उसको किसी भी प्रकारका सकट नही है । मै ज्ञानमात्र हू, ऐसा अनुभव करना अमृतपन है । कितनी ही बडी भारी विपत्तिया आयी हो, मगर ध्यान आपका यह जाय कि मै सबसे निराला ज्ञानमात्र हू । तो समझिये कि सारे सकट वही खतम हो जायेंगे, पर हृदयसे भावपूर्वक ऐसा जमाव होना चाहिए अपनेमे कि मैं ज्ञानमात्र हू । बात सत्य है । मै हाथ, मुख या अन्य अङ्ग वाला नही हू, विचार-विकल्प आदिक नही हू, मै तो ज्ञानमात्र हू । ये सब विडम्बनाये लग गयी हैं । मैंने ज्ञानभावसे देदीप्यमान आत्माको देहरूप माना, इतनेसे अपराधमे यह सब बन गया है, पर इतना बनकर भी मै ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा भीतरमे निरखें, ऐसा ज्ञानमात्र जान सकेंगे तो फिर मेरे सारे सकट दूर हो जायेंगे ।

निज ज्ञानसागरमे मग्न होनेपर सकल संकटोका विनाश—एक चित्रण लो—यमुना नदीमे कोई कछुवा पानीके ऊपर सिर उठाये हुए पानीमे जा रहा हो, यो समझो कुछ हवखोरी कर रहा हो । अब उसकी चोचको देखकर १०-२० पक्षी उसकी चोचको पकडनेके लिए आते है । कोई पक्षी दक्षिणसे आया तो उस कछुवेने दूसरी तरफ अपनी चोच कर लिया, आक्रमण विफल हो गया, फिर और कोई पक्षी आया तो दूसरी तरफ चोच कर

लिया। इस तरह अनेक पक्षी उसे पकडते है और वह चोचकी हेराफेरी करता रहता है। अब कितने कष्ट वह कछुवा सह रहा है ? बेमतलब ही वे सब कष्ट सह रहा है। उस कछुवे को कोई समझा दे—अरे कछुवे तू क्यो व्यर्थमे दुःखी हो रहा है ? अरे तेरे पास तो एक ऐसी कला है कि जिसके बलपर तू सारे सकट तुरन्त ही मेट सकता है। वह कला क्या है कि पानीके भीतर ४-६ अंगुल तू अपनी चोचको कर ले, बस तेरे ऊपर आने वाले सारे उपद्रव स्वतः ही दूर हो जायेगे। ठीक इसी तरह इस आत्मामे चोच है उपयोगकी। लोग अपने उपयोगरूपी चोचको बाहर निकालकर यत्र-तत्र डोल रहे है, तो चारो तरफसे अनेक घटनायें घटती हैं। कही राजाने सताया, कही चोरोंने सताया, कही भाई-बन्धुवोंने सताया, कही किसी ने सताया। यो ये दु ख न सह सकनेसे यह अपने उपयोगरूपी चोचको यत्र-तत्र बदलता रहता है, दु खी होता रहता है। उसे कोई समझा दे कि अरे आत्मन् ! तू तो व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला पडी है कि जिसका यदि उपयोग करले तो तेरे ऊपर आने वाले सारे उपद्रव स्वत ही टल जायेंगे। वह कला क्या है ? अरे अपने उपयोग को अपने ज्ञानानन्दस्वभावमे डुबो दे, फिर कोई सकट नही रह सकते है। अरे इस कलाके प्रयोग बिना, इसकी जानकारी बिना कुछ भी स्थितियाँ आ जायें तो इस जीवके लिए वे सब स्थितिया दुःखके लिए ही है वे सुखका कारण नही बन सकती। तब अपने आपपर दया करने की बात अब करनी चाहिए, कुछ सयाने बनना चाहिए, वह गुप्त ही गुप्त अपनेमे कर लेनेकी बात है। जो कर लेगा वह सत्पुरुष होगा, सदाके लिए सकटोंसे मुक्ति पायगा। उसके बराबरका सानी कोई नही। एक बात और भी प्रकृतमे कहनी है कि पुण्योदय पाया, सर्वसाधन पाये, वैभव भी मिला, सब कुछ ठीक मिला तो इसमे अधिक तृष्णाकी बात अपने उपयोगमे लेकर अपनी पायी हुई सुख स्थितिको किरकिरा मत बनाओ। जो कुछ पाया है उसका भी आनन्द नही लूट सकते। जो कुछ सम्पदा पुण्योदयसे मिली है उसके प्रति ऐसा लगता है कि यह तो कुछ भी नही मिली हुई है। और भी सम्पदा होती तो अच्छा था। इस प्रकार पायी हुई सम्पदामे सन्तोष न होनेके कारण तृष्णा बढ जाती है। उसके फलमे वह उस प्राप्त सम्पदाका भी ठीक-ठीक उपभोग नही कर पाता। वह तो धनसचयके पीछे ही पडा रहता है। अगर ऐसी बुद्धि जग जाय कि अरे मेरे पास तो जरूरतसे ज्यादह धन है, इतना धन न होता तब भी मेरा काम चल जाता। मुझे तो इस सम्पदाके सम्पर्कसे दूर रहकर आत्मध्यान मे अपना कुछ समय व्यतीत करना चाहिए था और ऐसा क्रमिक ज्ञानाभ्यास करना चाहिए कि हमे अपनी निधिकी, अपने वास्तविक खजानेकी प्राप्ति हो जाय, जिससे कि हम सदा कालके लिए सर्वसंकटोसे छुटकारा पायें।

स्वभावदृष्टि द्वारा आत्मनिधिका लाभ लेनेका अनुरोध—आत्मनिधि मिलेगी स्व

दृष्टिसे। मेरा स्वभाव ज्ञानानन्द है और जो विकार है, जो कषायें जगती हैं, जो विषय लगे हैं, इनका अन्वयव्यतिरेक कर्मके साथ लगा है। कर्मोदय होनेपर ये होते हैं, न होनेपर नही होते तो यह सब मामला कर्मके साथ है, पौद्गलिक है। इससे मेरा कोई सम्बन्ध नही। इस तरह इन सब विकारोसे अपना उपयोग बदलकर अपने आपके स्वभावमे ले जाइये बडा आनन्द होगा, बडी स्वच्छता प्राप्त होगी, और एक यही काम किए बिना जीवन व्यर्थ है। कुछ भी कर लिया जाए, मगर अपना कोई काम नही किया। बहुसे लोग कहते है कि हम तो बीसो वर्षोमें धर्म कर रहे है पर धर्मका फल तो कुछ मिला ही नही। अरे धर्मका फल नही मिला तो समझो कि अभी तक हमने धर्म किया ही नही। धर्म तो विषयकषायोसे हटकर अपने आपके स्वभावकी उपासना करें तो उसको धर्म कहते हैं। यदि सत्यका आग्रह करके धर्म किया होता तो क्या कुछ मिलता नही ?

श्रद्धाकी दृढताका एक दृष्टान्त—एक कथानक है कि कोई एक ब्राह्मण था। उसके यहाँ गाय चराने वाला एक चरवाहा रहा करता था। वह ब्राह्मण एकादशीके दिन भगवानका भोग लगाया करता था। एक दिन उसके मनमे आया कि इस बार चरवाहेसे भगवानका भोग लगवायेंगे। सो चरवाहेसे कहा—भाई आज तुम भगवानका भोग लगाना। अच्छी बात। तो ब्राह्मणने एक पाव आटा दिया। चरवाहेने उस आटेके दो टिक्कड बनाये और यह आग्रह करके बैठ गया कि आइये भगवान भोजन कीजिए। जब बहुत देर हो गई, कोई न आया तो वह खिसिया गया और बोला हे भगवन! आप तो बडे दुष्ट हो, हमको भी बडी भूख लग रही है, तुम व्यर्थ ही भोजन करनेमे देर कर रहे हो। हे भगवन्! यदि तुम न आवोगे तो हम भी न खावेंगे, चाहे प्राण भले ही चले जावें। उसका इस प्रकारका आग्रह देखकर मानो किसी कौतूहल करने वाले देवने ही अपना कौतूहल दिखाया हो, आकर कहा—लावो मेरा भोग। सो एक टिक्कड भगवानको खिलाया और एक खुद खाया। वह भगवान उस चरवाहे पर बडा प्रसन्न हुआ और बोला—इस बार हम दो जने आयेंगे, अच्छी बात। दो जने आवोगे तो उतने ही आटेके तीन हिस्से करके तीन रोटियाँ बना देंगे। सो अगली एकादशी को उसने एक पाव आटेके तीन टिक्कड बनाये और कहा आइये भगवन! आपका भोग तैयार है, यदि आप न आयेंगे तो मैं भी न खाऊँगा चाहे प्राण चले जाये। उसके इस आग्रह पर प्रसन्न होकर भगवान फिर आये अपने साथी सहित। उन दोनोंने भी एक टिक्कड खाया और एक टिक्कड चरवाहेने भी खाया। और भगवानने कहा कि इस बार फिर तुम भोग लगाना, हम लोग २० जने आयेंगे। अच्छी बात। चरवाहेने ब्राह्मणसे कहा कि इस बार तो २० जने आयेंगे, अधिक भोजनसामग्री चाहिए। तो ब्राह्मण सोचने लगा कि देखो हमने तो अपने जीवनमे न जाने कितनी बार भगवानका भोग लगाया, पर कोई भोग करने न आया,

यह चरवाहा क्या कह रहा है ? खैर अगली एकादशीको २० आदमियोके लिए काफी भोजन-सामग्री दे दिया और स्वय छिपकर देखने लगा। उसे सब बात सत्य दिखी। २० लोग आये और सभीने भोग पाया। (यह कथानक इसलिए कहा कि अगर कोई किसी सत्यका आग्रह करके बैठ जाय तो उसकी विजय अवश्य होती है) यहाँ हम आप यदि अपने आत्मस्वभावकी परखके लिए सच्चा आग्रह करके बैठ जायें कि हमे तो अपने आत्मस्वभावकी सच्ची परख करनी ही है तो सच समझिये कि आत्मस्वभावकी परख होकर रहेगी। इस आत्मस्वभावकी परखके लिए सत्सगतिमे रहना होगा, गुरुजनोके वचनोका आध्यात्मिक ग्रन्थोका पठन-पाठन एव श्रवण आदि करके ससारके समस्त समागमोको असार समझना होगा, इससे मेरा पूरा न पडेगा, तो फिर यह बहुत ही जल्दी अन्तः बसे हुए परमात्मस्वरूपका दर्शन करने लगेगा और दुर्लभ मानव-जीवन सफल होगा।

जीवपदार्थके परिचयकी आवश्यकता—जीव पदार्थका सब तरहसे ज्ञान करना आवश्यक है। जीवकी कितनी जातियाँ है, किन-किन स्थितियोमे जीव रहता है, उससे एक तो दया की बात बनेगी, दूसरी बात अपनेमे वैराग्यकी आयी। जीव ससारमे ५ तरहके पाये जाते है—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। अब इनमे नीच-ऊँचपना देखो—जिन जीवोके एक ही इन्द्रिय है स्पर्शनमात्र—जैसे पेड, पृथ्वी, पत्थर, जल, आग, हवा आदिक, इनमे क्या चेतना है ? चेतना अवश्य है, मगर न कुछ स्वाद ले सकते, न सूँघ सकते, न देख सकते, न सुन सकते, न कुछ विचार कर सकते। एक देह ही देह पडा है, बस उसीका वे ज्ञान रखते है। जहाँ अन्य इन्द्रिय न हो, केवल स्पर्शन इन्द्रिय हो, उसके ज्ञानकी क्या कीमत है ? तो समझिये—ऐसे भवमे हम आप अनन्तकाल तक रहे। जितना अपना पहिले समय बीता है अनन्तकाल उसमे प्राय· एकेन्द्रियका भव ही तो मिला। साथ ही यह भी विचारना कि जो हम कुछ जीवोसे कितना बढ-चढ करके उन्नतिमे पहुचे और इस वक्त भी अपनी वर्तमान उन्नतिका उपयोग न किया। यहाँ ही विषयकषायोमे लेखे-जोखे लगाते रहे तो फिर मनुष्य होनेसे लाभ क्या ? जिस मनुष्यका उपयोग केवल परिग्रहमे ही लगा हुआ है—धन कमाना, दूकान चलाना, खूब धनी बनना आदि बातोमे ही जिसका चित्त बना रहता है तो समझिये कि उसका जीवन तो बाह्य नि सार अचेतन पदार्थोमे ही लगा हुआ है। ससारकी इतनी हालत दिखती है तिसपर भी शिक्षा नही ली जाती। बगला देशमे तो देखिये क्या हालत हो रही थी—जिस चाहेका धन लूट लें, जिस चाहेकी जान ले लें, जिस चाहेके मकानमे आग लगा दें, फिर भी मकानोको खोदेंगे, इसलिए कि कही छिपा हुआ धन न निकल आये। पाक से जो कदम उठाया था वह ऐसा उठाया था, तो समझिये कि ऐसे अनेक लोग कितना हैं, उनसे तो हम आपको बहुत अधिक आराम है। पर इतने धनमे सतोष न कि

तृष्णाभावको चित्तमे बसा लिया जाय तो समझिये कि हमारा जीवन यो ही व्यर्थ जा रहा है, कुछ लाभ नही उठाया। जीवनका लाभ तो उन क्षणोका है कि जिन क्षणोमे ज्ञानानन्दमय ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमात्र यह आत्मा मेरे ज्ञानमे रहे वे क्षण तो जीवनके असली समझिये, बाकी परपदार्थोंके विकल्पोमें समय गंवाया, मिला तो इसे कुछ नही, कल्पनायें कर ली। जैसे स्वप्न मे किसीको राज्य मिल गया तो वहाँ वह बडा मौज मानता है, पर मिला क्या ? कुछ नही। वह तो कल्पनाभरकी चीज है। इसी तरह यहाँ मोहकी नीदमे कुछ वैभव मिल गया तो मिला क्या ? यह तो कल्पनाकी चीज है। मान लिया कि यह मेरा वैभव है, मिला इसको क्या ? मिल ही नही सकता।

अकिञ्चन अतुलनिधि भगवान आत्मामे परका अप्रवेश—एक वस्तु दूसरी वस्तुमे प्रवेश ही नही करती। मेरे ज्ञानस्वरूप आत्माको तो बाहरसे कुछ मिलता है नही, बस एक कल्पनाभर करते है और दुखी होते हैं। यह बहुत बडी समस्या है जीवनमे। अगर न चेते तो मनुष्यभवसे हटकर खोटे भाव ही मिलेंगे और रोते ही रहेंगे। अब सोच लीजिए कि इन १०-५ वर्षोंका आराम मौज यह महत्त्वपूर्ण है या आत्माका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करना महत्त्वपूर्ण है ? वैभवका क्या विश्वास ? आप उसके मालिक ही नही, भ्रमसे मोहवश समझ रहे कि मैं मालिक हूँ। अरे आप तो अपने स्वरूपके मालिक हैं। अपने स्वरूपका परिचय करें तो स्वरूपमे मग्न हो। स्वरूपकी धुन रखी तो हमारी सुन्दरता है, अन्य बातोमे तो बडी बरबादी पडी हुई है, इतनी हिम्मत बना सके तब तो अपनेको धर्मात्मा कहनेकी बात बन सकेगी। इतना साहस कर सकें। गृहस्थीमे रहते है, कुछ धन कमानेका कर्तव्य है, खूब ८-१० घटे तक परिश्रमसे काम करें, जो उदयमे है वह मिलेगा, उसीमे गुजारा करेंगे। मगर हमे वाञ्छा नही है कि हमे तीनो लोकका वैभव मिल जाय। क्या करें वैभवका ? यह तो ज्ञानमात्र आत्मा है, यह तो सबसे निराला है, कुछ समयके लिए इस मनुष्यभवमे आये और एक दिन इस भवको छोडकर आगे चले जायेंगे। मेरे लिए किस कामका है यह वैभव जिसका इतना विकल्प बनाये हुए हैं कि आत्मकल्याणके लिए अवसर नही मिलता, उपयोग नही जमता, उसके लिए साहस नही है। तो समझ लो कि जिस ओर लोग बहे चले जा रहे है वह तो सब खतरा ही खतरा है, पर जिस ओर लोगोकी दृष्टि नही है, कम दृष्टि है, जहाँ लोगोका मन नही लगता है, ऐसा यह आत्मज्ञानका प्रसग यह सब है बडे हितकी बात। तो अब अहितसे हटकर हित की ओर लगना चाहिए ?

असंयत जीवनका फल दुर्गतियोमे जन्म—हाँ क्या कहा जा रहा था कि जीवके चेतन को पहिचानें, लेकिन यह जीवोंके तो अब ज्ञानविकास है नही, उनका जैसा जीवन चाहते हो क्या ? कोई पूछ बैठे या स्वय ही सोच बैठे कि मै अगर वृक्ष हो जाऊँ तो पसद होगा ना ?

जैसे हम आप लोग आज मनुष्य है, यहाँसे मरकर अगर हम पेड-पौधे बन जाये तो बताइये उन पेड-पौधोका जीवन आपको भला लगेगा क्या ? कोई न चाहेगा कि मैं पेड बन जाऊँ, आग बन जाऊँ। उनकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है ? अब कुछ उनका उत्थान हुआ तो वह जीव दो इन्द्रिय बन गया। स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिय मिल गई। रसनासे जरा चख लिया, स्वाद आ गया, पर देखें तो यही जो दो इन्द्रिय जीव है केचुआ, जोक, लट वगैरा, जो कि जमीनमे बने रहते हैं, मिट्टीको ही चाटते रहते है, उनका खान-पान क्या हो रहा है ? ऐसा केचुवा, लट, जोक वगैरा बनना क्या इष्ट है ? यदि अपने आपमे यह कल्पना आये कि मै मरकर जोक बन गया, केचुवा बन गया तो क्या यह इष्ट है ? बडे असह्य दु ख है इस गतिमे। मछली मारने वाले लोग जिन्दा केचुवे जमीनसे निकाल लेते है और वे जीवित ही काटेमे फसाकर पानीमे डाल देते है, मछली उसे खा लेती है। तो ऐसा केचुवा होना आपको पसद है क्या ? अरे अपने आत्माकी सुध न रखी जाय, बाहर-बाहर ही दृष्टि रहे तो यह तो अपने उद्धारके लिए अनुचित बात है। यदि अपना उद्धार करना है तो सही विवेक बनायें व्यापार मे भी, अगर हम नफाका काम करें तो वहाँ भी जिस काममे ज्यादा नफा दिखता हो उसमे लग जाते है, कम नफा वाली चीजको छोड देते है, ऐसे ही यहाँ हम आप वह कार्य करे जिससे कि इस भवमे भी शान्ति मिले और आगामी कालमे भी शान्ति मिले। वह काम है आत्मज्ञानका। एकेन्द्रियसे दो इन्द्रिय हो गए तो भी जीवका यह क्या विकास ? दोइन्द्रियसे तीनइन्द्रिय हो गए, नाक और मिल गई, जैसे चीटा-चीटी, कीडा-मकोडा बन गए तो उनका जीवन भी क्या जीवन है ? कोई पूछने वाला नही है। कोई बताने वाला है क्या ? किसीका किसीको कुछ परिचय भी बनता है क्या ? व्यर्थकी जिन्दगी है। बस खाने खानेकी जिसकी धुन है, खाना भी क्या ? मिट्टीका खाना। ऐसा तीनइन्द्रिय बनना क्या इष्ट है ? हुए है अनत बार ऐसे, तीनइन्द्रिय भी हुए, पर वह भी उस जीवके कोई खास विकासकी बात नहीं है। मनुष्य होकर अगर हम ऐसे खोटे जीव बनें तो इसमे तो हमने टोटेका ही काम किया, फायदे का काम नही किया। क्षणिक विषयोमे, क्षणिक कषायोमे रहकर आत्माको क्या मिलेगा ? कोई लाभ नही आता। जरा और विकास हुआ, चारइन्द्रिय जीव बन गए तो चारइन्द्रिय जीवोको देखो—भवरा, मच्छर, मक्खी ततैया आदिक ये ही तो चारइन्द्रिय जीव कहलाते है। इनको क्या सुख है ? इनकी जिन्दगीमे क्या इनको प्रतिष्ठा मिलती है ? कौन इनकी बात पूछता है ? इनकी कुछ इज्जत भी है क्या ? इन जीवोको लोग यो ही मार डालते हैं। उनमे मानो जीव ही नही समझते, ऐसे भव हम आपको मिले है और आगे अगर मिलें तो क्या आप पसद करेंगे ? कोई न पसद करेगा। उनकी जिन्दगी कोई खास जिन्दगी नही है। नही बनना चाहते ऐसे खोटे जीव तो जरा आत्माकी सुध रखो और बाहरी चेतन, अचेतन,

परिग्रह—ये ही सब कुछ नही है, इनसे अपना चित्त हटाओ। जो भी विकास हुआ, मानो चारइन्द्रियके बाद असज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो गए, जिसके मन नही है, विवेक नही है, जैसे पानीके साँप हो गए तो उनकी भी जिन्दगी क्या जिन्दगी है ? सैनी भी हो गए और जैसे पशु पक्षी हो गए तो वहाँ भी क्या बना लिया जायगा ? क्या जिन्दगी है उनकी ? सब ओर दृष्टिपात करो, सब जीवोपर दया करो। यदि इन सब जीवोपर दया नही की जायगी तो उसका फल यह है कि ऐसे जीव बनना पडेगा। उनकी हिसा न हो, उनका बचाव हो, देखकर चलना, भोजन शुद्ध करना ताकि जीव हिंसा न हो, रात्रिको न खायें ताकि जीवहिंसा न हो। अब सयमसे रहना, कुछ आत्माकी सुध रहना, यह काम होगा तो खोटी गतियोंमे जन्म न लेना पडेगा।

दुर्गतिनिवारणहेतु मोक्षमार्गमे चलनेका अनुरोध—यदि खोटी गतियोमे जन्म लेना अभीष्ट नहीं तो मोक्षमार्ग बताया है। मोक्षमार्गका काम करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रका एकत्व, जिससे इसकी पूर्णता हो वहा मोक्ष हो जाता है। सम्यग्दर्शन क्या ? आत्माका जैसा सहजस्वरूप है, अपने आप आत्माका जो स्वरूप है उस स्वरूपकी श्रद्धा करो। इस सम्यग्ज्ञानका सम्यग्दर्शन कल्याणका मूल है। इसे बहुत सीधे शब्दोमे यो समझिये कि अपने बारेमे ऐसा ज्ञान बना रहे कि ऐसा श्रद्धान् बना रहे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ और कुछ नही हू, यहाँ मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं, मैं किसीका बाप नही, किसीका मैं मालिक नही, किसीका मैं कुछ नही, इस प्रकारका ज्ञान बना रहे। यदि यहाँ अपनेको किसी का मालिक, पिता, पुत्र अथवा कुछ सम्बन्धी मानते हैं तो यह तो यह भ्रमकी बात है। उसका फल आकुलता है, कर्मबन्धन है। वह ससारजालमे भ्रमण करता है। एक पहिचान बतला रहे हैं सम्यग्दर्शनकी। आपको सम्यक्त्व है अथवा नहीं, आप इस परिचयसे निर्णय कर लेंगे। आप अपने बारेमें अपनी कैसी श्रद्धा रखते है ? यदि यह श्रद्धा है कि मैं ज्ञानमय एक पदार्थ हू। पर जैसा मैं ज्ञानमय पदार्थ हू, बस उसका परिणमन निरन्तर होता रहता है। इसके अतिरिक्त मुझे मेरेमे और कुछ नही। यदि यह श्रद्धान बना हुआ है तब तो समझिये कि अब हम मोक्षमार्गमे आये और यदि यह श्रद्धान बने कि मै तो मनुष्य हू, अग्रवाल हू, अमुक हू, मित्र हू, बाप हू, लखपति हू, इतने वैभवका मालिक हू, अगर इस तरह की श्रद्धा है भीतरमे, ऐसे अपनेमे ज्ञान बनाये हुए है तो यह ससारमे फसानेका कारण है। इसका फल है कि खोटी गतियोमे जन्म लेना पड़ेगा। अब अपने आपपर अगर दया आयी हो कि ससार सारा दु.खमय है। इस ससारसे मै छुटकारा पाऊ तो उस दयाका काम कर लीजिए और अगर ऐसी दया आयी हो कि हम अगर मोक्ष जाने लगें तो ससार खाली हो जायगा, अगर ऐसी दया आ रही हो तो फिर ससारी बने रहो, मोही बने रहो और एकेन्द्रिय

दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिक सभी शरीरोमे जन्म ले लेकर उनकी पूर्ति करते रहो। मोह करनेका फल तो है ससारमे जन्ममरण करना और अपनेको ज्ञानमात्र मानेगे तो ससारभ्रमणसे अपनेको बचा लेगे। तो जीव जातिकी परख करनेसे अपने ज्ञान और वैराग्यकी भी बात मिलती है और उनकी दया करनेकी भी भावना जगती है। अब सोचता है अपने बारेमे कि सब जातिका परिचय कर लिया, परिचय करके अब हमे करना क्या है ? करना यही है कि उन जन्मोमे हम अब न आयें, ऐसा उपाय बने। वह उपाय कैसे बनेगा ? स्वभावदृष्टिसे।

स्वभावदृष्टिकी दिशा—अपनेको स्वभावदृष्टिसे देखे और ऐसा ही स्वभावदृष्टिसे निरखकर अपना भान करें तो इससे अपने आपका सही परिचय होगा, कर्मबन्धन कटेगा, ससारसकटसे मुक्ति पायेंगे। स्वभाव किसे कहते है ? दूसरेकी अपेक्षा लिए बिना, दूसरेका सम्बन्ध बनाये बिना अपनेको अपनेमे जो बात हो उसे स्वभाव कहते है। जैसे मोटे रूपका उदाहरण है—पानी गर्म हो गया तो उसे कोई स्वभाव न कहेगा। जानता है कोई कि आगपर रख दिया, गर्मी हो गयी, इसलिए पानी गर्म हो गया। तो स्वभाव मानते है लोग उसे कि जो परके सम्बध विना, परकी अपेक्षा बिना अपने आपमे जो कुछ हो सकता है उसका नाम है स्वभाव। ऐसा स्वभाव देखिये—अपनेमे क्या है ? क्रोध क्या स्वभाव है ? क्रोध तो कोई प्रसग आनेपर, कोई निन्दक सामने आये, कोई प्रतिकूल आये तो क्रोध उत्पन्न होता है, उसमे क्रोध प्रकृतिका उदय निमित्त है और कुछ लोग, कुछ जीव, कुछ पदार्थ वहाँ आश्रयभूत हैं। कितनी पराधीनता है जिसमे परकी अपेक्षा हो, ऐसा क्रोध करना वह स्वभाव नही है। स्वभावकी परखके दो चिह्न है। परकी अपेक्षा बिना हो और शाश्वत हो। जो परकी अपेक्षा बिना होता है वह शाश्वत तो होता ही है। तो क्रोध मेरा स्वभाव नही है, ऐसे क्रोधार्त कार्यरूप अपनी दृष्टि न बनावें। क्रोधने जैसी आपको प्रेरणा किया हो वैसा करनेपर उतारू मत हो। विवेकी लोग भी कहते है कि जिस समय क्रोध आये उस समय मौन रह जाये, बात न करें, उस समय कुछ प्रयोग न करें।

क्रोधकी चाण्डालरूपता—क्रोधको चाण्डाल माना गया है। एक ऐसी ही देहाती भाषामे कहते है कि "पक्षीना काक चाण्डालः, पशुना चाण्डाल गर्दभः। मुनीना कोप चाडालः, सर्व चाण्डाल निन्दकः ॥" अर्थात् पक्षियोमे चांडाल कौवाको माना है। क्यो माना है कि एक तो वह विष्टा, कफ, थूक, नाक आदिक सब गदी चीजें खा लेता है, इस कारण वह चाडाल है। दूसरे यह कह सकते कि यह रूपका काला है, आवाजका खोटा है, इसलिए चाडाल कह देते हैं, और एक कथा तो ऐसी गढी है कुछ लोगोने कि जिससे उसका चाडालपना विदित हो जाता है। भगवान और भगवानके मुनीम वगैरा कुछ बातें करते होगे ससारको रचनेके लिए तो वहाँ कौवे रहते थे। तो उन्होंने ऐसी चालाकी की कि भगवानकी बात सुन आयें

मनुष्योको बता दें, इसे कहते है चुगली । यह कुछ लौकिक जनोने कथा गढी है, सत्य कथा नही है । यहाँ तो इस कथानकसे कौवाके चाडालपनेकी बात कह रहे है । बहुत दिनोंके बाद भगवानको गुस्सा आ गया तो उन्होने कौवेको यह शाप दे दिया कि तुम्हारी चोच हमेशा विष्टा मे रहेगी । उसी दिनसे कौवाका भोजन विष्टा होने लगा । वह बडा दुःखी हुआ । अब तो सारे कौवोने एक पार्टी बनाया और भगवानके पास आकर प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन ! हमे ऐसा शाप न दीजिए, अबसे हम ऐसा खोटा काम न करेंगे । बहुत-बहुत प्रार्थना करनेपर भगवानने कह दिया कि अच्छा जावो असौजके कृष्णपक्षमे १५ दिन तक तुम्हारी चोच मिठाईमे रहेगी । तभी तो देखिये—उन दिनो लोग कौवोको बुला-बुलाकर मिठाइयाँ खिलाते है । तो पक्षियोमे चाण्डाल माना गया कौवा और पशुवोमे चाडाल माना है गधेको । इसलिए माना कि वह घूरेपर लोटता है और वह खराब चीजोमें मुह देता रहता है, और उसकी चाल खराब है, उसकी भाषा खराब है, बोली भी अच्छी नही निकालती । उसे कोई लोग छूते तक नही, इसीसे पशुवोंमे गधेको चाडाल कहा है । और मुनियोमे चाडाल कहा है उसे जो क्रोधी हो । सभी लोग यह अन्दाज कर सकते है कि जब क्रोध आता है तो कितना एक बुरा नशासा चढ जाता है । उसे कुछ विवेक नही सूझता, अपना अनर्थ कर दे, दूसरोका अनर्थ कर दे । तो मुनियोमें चाडाल क्रोध है और 'सर्व चाडाल निन्दक' अर्थात् जो दूसरोकी निन्दा करे वह सबसे अधिक चाडाल है । अपने जीवनमे यही एक काम बना लीजिए कि मुझे किसीकी निन्दा नही करनी है । जैसे जो लोग सिगरेट पीते है तो उनके पीते हुएमे यदि सिगरेट उनसे छीन ली जाय तो उन्हे भीतरमे सिगरेटकी हूक आती रहती है । ऐसे ही निन्दा करने वालोकी वृत्ति ऐसी रहती है कि उन्हे कोई निन्दा करते हुएमे मना कर दे तो उन्हे भी एक हूकसी आती रहती है । निन्दा करनेसे न तो खुदका ही कुछ लाभ होता है और न दूसरोका ही । उल्टा उससे खुदका बिगाड ही सारा हो जाता है । तो क्रोधकी बात चल रही थी, यह क्रोध आत्मा का स्वभाव नही है, क्योकि यह पराधीन है और सदाकाल नही रहता है ।

मान, माया आदि सभी कषायोकी अस्वभावता--मान, अहकार, गर्व यह भी आत्मा का स्वभाव नही, यह कभी मौका पाकर होता है, यह सदा नही रहता । जो लोग मान करते हैं उनके अन्दर देखिये कितनी मूढता है कि उनके चित्तमे यह बात बनी रहती है कि यह मैं इन सबसे अच्छा हू । ऐसा भाव जिसका होता है वह ही घमड करेगा । तो मैंने माना अपने को पर्यायरूप । यह शकल यह मैं हू और यह मैं इन सबसे बडा हूँ, औरको तुच्छ समझना, अपनेको महान समझना, यह बात पर्यायबुद्धिमे ही तो होती है और उसमे अहकार पैदा होता है । यह अहकार भी जीवका स्वभाव नही है । कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है, अनेक जीवोका आश्रय करके होता है । मान करना भी जीवका स्वभाव नही है । जिसको यह पता

है कि मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य कुछ हू ही नही, उसमे पर्यायकृत छोटे बडेपनका संस्कार श्रद्धान नही रहता । सब जीवोको अपने समान समझते है । वह मान किसपर करे ? वह भगवानको और अपनेको एक समान समझता है । स्वरूपदृष्टिमे तो दीनता काहेकी करे । मान करना भी खोटा और दीनता करना भी खोटा । मान करना मेरा स्वभाव नही । मै तो मानरहित ज्ञानमात्र एक ज्ञानज्योतिस्वरूप चेतन हू, यह श्रद्धा हो तो वेडा पार हो गया । अगर इतने परिग्रहको ही चिन्ता, घरके लोगोकी, धन वैभव सोना, चाँदी आदिकके परिग्रहकी धुनमे समाये हुए हैं तो जीवन बेकार है । क्रोध, मान आदिक मेरा स्वभाव नही, माया, लोभ आदिक भी मेरा स्वभाव नही । ये भी कर्मके उदयके कारण मेरेमे हुए है और वाह्यपदार्थोका आश्रय करके हुए है । मायाचार करता है यह जीव, क्योकि उसे किसी परवस्तुसे सुखकी अभिलाषा है और वह परवस्तुओके पानेकी वाञ्छासे अनेक प्रकारके मायाचार करता है, छल कपट रचता है, उसके ये परिणाम रहते हैं कि किस तरह दूसरेसे छीनकर यह वस्तु मेरे पास आ जाय ? कोई वस्तुका लोभी है, कोई यशका लोभी है, कोई किसीका भी लोभी हो, यह जीव उसमे मायाचार करता है । लोभ भी इस जीवका स्वभाव नही, मायाचारका स्वभाव नही और लोभ से मिलेगा क्या ? करते जाओ लोभ । कोई दिन ऐसा आयगा कि सब छोडकर अकेले जाना पडेगा, सब यही पडा रह जायगा । लोभसे क्या फल मिलता ?

अनात्माओकी आत्मलाभमे अकिञ्चित्करता—आप सोचेंगे कि मेरा जोडा हुआ धन बच्चोको तो मिल जायगा । मेरे साथ धन नही जाता तो न सही । अरे मरनेके वाद कौन किसका क्या ? अगर आप ही मरकर अपने घरमे चूहा, बिल्ली आदि बन गए तो ये बच्चे तो आपको मारेंगे, आप अपने घरमे ही मरकर साँप वन गए तो वे बच्चे फिर क्या आपकी रक्षा कर सकेंगे ? अरे वे तो मार-पीट ही डालेंगे । मरनेके बाद फिर तुम्हारे बच्चे क्या रहे ? और मरनेकी तो बात क्या ? जिन्दामे भी तुम्हारे बच्चे क्या ? वे अपनी कषायसे परिणमते हैं, वे बच्चे लोग अपने-अपने कर्म लिए हुए है, अपने उदयसे सुखी दुखी होते हूँ । आप यह भ्रम करते हो कि हमारी बात हमारा बच्चा मान लेता है । आपकी बात कोई बच्चा मान ले तो निश्चयसे आपकी बात नही मानता, किन्तु उसने अपने ज्ञानकी बात मानी, और कभी ऐसा योग जुड गया कि आपकी बात मान ली तो उसने अपने स्वार्थसे माना है, आपपर दया करके नही माना है । उसे ऐसा दिख रहा है कि मैं वापकी जरासी वात मानूं तो यह वाप मेरे लिए दिन-रात श्रम करके सुखके साधन जुटाता रहेगा । इसलिए वात मान रहा है, वापके नातेसे नही मान रहा कि यह मेरा वाप है । मै इसकी वात मान लूं तो मेरा चित्त खुश हो जाय, और कभी जब वह बच्चा समर्थ हो जाता है और उसे वापकी कोई प्रतीक्षा नही करनी पडती है, तब देखो वह वापसे बात भी नही करना चाहता । तो जिन्दामे भी बच्चा क्या ?

किसके लिए होड मचायी जा रही है ? जिसमे न ज्ञानके लिए समय मिले, न ज्ञानवर्द्धनकी रुचि हो, न इस ओर धन खर्च करनेका भाव हो, न इस कार्यके लिए तन लगानेका भाव हो, न मन, धन, वचन आदि लगानेका उत्साह हो। उत्साह तो है स्त्री, पुत्रादिकको खुश करनेका, मित्रोकी पार्टीमे बैठकर हँसी गप्प करनेका और विषयोके साधन बढानेका। तो ये सब बातें हो रही है, आत्माका भान नही है, आत्माका ज्ञान नही है, इसलिए धर्मकी कोई बात बन ही सकेगी। भाई अपना ढग सुधारो। जो बेढगा चला आया है अनादिकालसे, उसमें फायदा कुछ नही मिला, बरबादी ही बरबादी हुई। अब तो बरबादीसे हटे। व्यापारी लोग भी बडे मुनाफेके कामके सामने छोटे मुनाफेके कामपर दृष्टि नही देते। इसी तरह आत्माका जो बडा लाभ है कि सदाके लिए ससारसकट छूट जायें। इतने बडे लाभके लिए अगर यहांके छोटे लाभ धन पैसा आदिक त्यागने पडें, इनकी उपेक्षा करनी पडे तो कर देना चाहिए बडी खुशीसे, प्रसन्नतासे, अन्यथा समारमे रुलना, ससारका जन्म मरण चलता रहता है। उसमे आत्माकी कुछ भी सिद्धि नही है। भाई स्वभावदृष्टिसे देखो अपनेको। मैं ज्ञानमात्र हू, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा स्वरूप नही है। ऐसी स्वभावमय अपने आपकी उपासना करें और अपने इस जीवनको सफल करें।

शरीरसे निराले निज अन्तस्तत्त्वका समीक्षण—सबके चित्तमे यह वाञ्छा है कि मैं सुखी रहू, शान्त रहू। अब यह सोचना है कि वह मैं क्या हू, जो मैं सुखी शान्त रहना चाहता हू ? अपने आपके बारेमे सोचो—वह चिन्तन अपने कल्याणके लिए है इसमे यह मानो कि अपने आपपर दया की जा रही है। कही कोई ऊपरी बातें नही है कि जिनको यो ही बिना मनके कर लिया जाय। यह बहुत बडा सवाल है अपना। मैं शान्त रहू, सदाके लिए सुखी हो जाऊँ, ऐसा मुझे चाहिये। शान्त और सुखी रहनेके लिए कोई मना तो नही कर सकता। सभी चाहते है कि मैं सदाके लिए शान्त और सुखी रहू। तो विचारिये कि मैं क्या हू, इतना तो ध्यानमे आना चाहिए अन्तर्दृष्टि करके कि मैं तो कोई ज्ञानपुञ्ज पदार्थ हू, और जो दिखता है यह जड शरीर, यह मेरेसे निराला है। देखो—जो दिखने वाली चीजें है, जो पदार्थ पिण्ड वाले है, जिनका रूप, रस, गध, स्पर्श है, ऐसे इन सब पदार्थोंको देख लो—क्या इनमे ज्ञान है, क्या इनमे सुख दुःख है ? नही, क्यो ? यो नहीं कि जो मूर्तिक होता है, जिसमे रूप, रस, गध स्पर्श है, जो पिण्डरूप है वह ज्ञानमय नही हुआ करता। इन सारी चीजोको मुकाबलेतन जो आँखोसे देखता है यो यह शरीर यह ज्ञान दर्शन जैसे सर्व गुणोसे रहित, यह तो एक पौद्गलिक पिण्ड है और यह मैं आत्मा जो इस शरीरके अन्दर ही हू वह मै जाननहार हूँ और शरीर व अन्य पदार्थोंसे मैं निराला हू। यद्यपि आज इतनी कमजोरी है इस आत्मामे कि आँखोके बिना देख नही सकते, कानोके बिना सुन नही सकते, लेकिन जानने वाला कौन

कान आँख आदि है या जीव ? जैसे कोई पुरुष इसी हालमें खड़ा हुआ खिडकियोंसे बाहरकी चीजें देख लेवे तो कहता जरूर है कि मै खिड़कियोसे देख रहा हूं, मगर देखनहार खिडकियाँ हैं या वह पुरुष ? पुरुष । इसी तरह देखनहार ये इन्द्रियाँ नही है किन्तु इसके अन्दर रहने वाला जो जीव है वह देखनहार है ।

अब आप स्वय यह फैसला करलें कि मुझे अपने इस जीवको बरबादीसे बचाना इष्ट है या शरीरका पोषण रमण इष्ट है ? दो बाते सामने है एक तो इस शरीरको खूब खुशामद करना, इस शरीरको आराममे रख लेना और इस शरीरके यशके लिए सतत प्रयत्नशील रहना आदि और दूसरा काम है अपनेको सत्य शान्त बनाना । इस शरीरकी पूजा प्रतिष्ठा आदिके लिए तो न जाने क्या-क्या प्रयत्न किए जाते ? लोग अपना (अपने शरीरका) स्टेचू बनवाकर इधर उधर चौराहोपर लगवाते, अपना (अपने शरीरका) फोटो बनवाकर इधर उधर चिपकवाते । ये सब प्रयत्न इसीलिए तो किए जाते है कि मेरा अधिकसे अधिक नाम हो । यहाँ आत्माकी ओर तो कुछ ध्यान है नही । मात्र शरीरपर ही ध्यान है । तो एक तो यह काम सामने है और दूसरा काम है अपने जीवको बरबादीसे बचानेका । बताइये इस जीव को बरबादीसे बचानेका कहां प्रयत्न किया ।

वर्तमान समागमके व्यामोहमें कुशलताका अभाव—लोगोका ध्यान बना हुआ है धनार्जन करनेका, इसीके लिए रात दिन चिन्तित रहा करते है, देखिये—कितना अंधेरा भीतर मे है । मैं क्या हूं, इसका पता नही है । तो हो रही है अपनी बरबादी । इसका फल क्या होगा ? आज हम मनुष्य है, इतना ज्ञान मिला है, सुख सुविधायें मिली है और यहांसे मरण करके अगर केचुवा, वृक्ष, कीडा, मकोडा आदि हो गए तब तो फिर सब कसर निकल जायगी । तब तो न वहां ज्ञान विशेष है, न कोई पूछ है, न इज्जत है, ऐसी जन्म मरणकी परम्परा हमारी होते रहे, ऐसा न सोचना चाहिये । ऐसा उपाय निकालें कि जन्म-मरणकी परम्परा दूर हो और फिर देखो—करनेका काम यह आत्मकल्याण है, बाहरी बातें नही है । बाहरी बातोका समागम आपके चाहनेपर भी नही होता और कभी आपके न चाहनेपर भी हो जाता है । कभी आपके चाहनेपर भी हो जाता है तो इसका सम्बन्ध आपकी इच्छासे नही है । यह तो पूर्वमे जैसी पुण्यकी कमाई की थी उसके अनुसार यहाँ मिल रहा है । पर इसके फलमें यदि हम इन्द्रियका आराम भोगकर इन विषयसुखोंको ही सब कुछ सर्वस्व समझें तब तो इसका फल दुर्गति ही है । तो इतना जानकर कि जगतमे जो कुछ हमे मिला है वह सब असार है । मानलो किसी समय यदि मृत्यु हो गई, हार्ट फेल हो गया तो फिर मरणके बाद यहांका सारा समागम आपके किस काम आयगा ? बल्कि बाह्यपदार्थोंमे जो अपना उपयोग फसाया है उससे इस जीवकी बरबादी ही होगी । कुछ अपने आत्माकी दया करना चाहिए यदि आत्मदया न की तो फिर कुछ भी कर डालो, समझो कि कुछ भी काम नही कि

अपना जीवन तभीसे मानें जब कि आत्मदया करनेकी सुध हो जाय । नही तो अनन्तकालसे जीवित है, फिर तो अपनेको अनादि कालका बूढा कहे ? फिर ७०-८० वर्षका बूढा क्यो कहते ? तो अपनी सच्ची जिन्दगी उतनी है जिस क्षणसे अपने आत्माका पता पडा हो और अपने आत्माके निकट कभी ज्ञान बना-बनाकर तृप्त रहा करते हो । जो आनन्द ज्ञानके ज्ञान स्वभावमे रहनेमें मिलता है वह आनन्द, पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, परिग्रह आदिक बिडम्बनामे ज्ञानको लगानेमे नही मिलता । वह तो एक स्वप्नवत् खेल है । जैसे स्वप्न देखने वालेको स्वप्न मे सब कुछ सार मालूम पडता है, कोई बात झूठ नही मालूम पडती है, मगर जग गए, नेत्र खुल गए तब पता पड़ता है कि ओह ! सब झूठ था । इसी तरह जब तक मोहकी नींद लग रही है तब तक ये समागम झूठ नही मालूम होते । ये मेरे ही तो बच्चे हैं, इनसे ही तो मेरा शरण है । सब कुछ सही लगता है और जिस दिन अन्तरात्मामे ज्योति जग जायगी और अपने सत्य आनन्दका पता पड जायगा उस दिन ये सब भ्रम जचने लगेंगे ।

अन्तस्तत्त्वके दर्शनमें ही सच्ची उपासना—भैया ! अगर यह अन्तस्तत्त्वकी बात चित्तमे न बैठे तो हमे आप बताओ पूजा किसलिए करते हो ? पूजाका तो यही उद्देश्य है कि जिसे हम पूज रहे है उस आत्माके स्वरूपकी हमको सुध हो । ये वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, शुद्ध हो गए है, जन्ममरणसे रहित हो गए है, इनके अनन्तआनन्द है—ऐसा सोचनेके साथ इस तरह भी बोध हो, यही ऐसा मेरा स्वरूप है । भले ही कर्म व शरीर होनेसे आज ऐसी दशा हो रही है, लेकिन स्वरूप मेरा वही है जो प्रभुका है । तो ऐसी अपने आत्माकी सुध नही है तो धर्म कहाँ हुआ तो इतना निर्णय तो रखें कि यहाँ यह मैं पिण्डोला, यह तीन प्रकारके पदार्थोंका ढेला हू, पिण्ड हू । एक तो इसमे जीव है, दूसरे कर्मसमूह है, तीसरे—शरीरकी वर्गणायें है । इन तीनोका ही तो यह ससारी जीव समूह बन रहा है । इसमे जो जीव है वह मैं निराला हू । देखो कई चीजें मिली हुई हो, फिर भी किसीके स्वरूपमे किसीका स्वरूप नही जाता । अनेक घटनायें ऐसी देख लो दूध पानी, घी आदि एकमे मिला दो तो दूधमे दूध है, पानीमे पानी है और घी मे घी है, लेकिन उपाय करके इन तीनोको अलग अलग करके देखा जा सकता है । देखिये—अगर ये सभी चीजें दूध, पानी, घी अलग अलग अपना स्वरूप न रखती होती तो फिर बहुत-बहुत प्रयत्न करके भी ये अलग-अलग नही की जा सकती थी । मुक्तिकी बात सभी लोग कहते हैं, और सूत्र जी मे सबसे पहिले यही पढते है "मुक्ति मिले" पर मुक्तिका अर्थ क्या है ? मुक्तिका अर्थ यही है कि जैसा यह जीव अपने स्वरूपमे अकेला है वैसा ही अकेला प्रकट हो जाय, इसीके मायने मुक्ति है । जीव अपने स्वरूप मे ज्ञायकस्वभाव है, विशुद्ध सहज ज्ञानानन्दमय है । स्वरूपकी बात कह रहे है, परिणति र बात नही ले जाना है । अब उस स्वरूपकी कोई दृष्टि लगाये, और उस ही एक सहज ज्ञान-

स्वभावी आत्मापर ही अपनी धुन लगाये तो अन्य निमित्तोका ख्याल न रहेगा, आश्रयका आश्रय न रहेगा। ऐसी स्थितिमें ज्ञानस्वभाव और ज्ञान ये एक रूप होगे। तब कर्म कटेंगे। कर्म काटनेकी यही विधि है, दूसरी विधि नही है। इतनेसे संतोष न करना चाहिए कि हम इतना धर्मका काम कर लेते है, पूजा भी कर लेते, सामायिक भी कर लेते, स्वाध्याय कर लेते, और-और चर्चायें भी कर लेते, अच्छा व्यवहार भी कर लेते। अरे ये तो करने होगे, अन्यथा क्या पापकार्य करे ? पर इतनेको ही सर्वस्व न समझ लेना कि हम धर्म कर चुके, इसके बाद आगे कुछ बात नही। इससे आगे अगर धर्मकी कोई बात नही है तो लोग मुनि क्यो होते, लोग त्यागी क्यो बनते, लोग सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदिकी वेदनाओंकी परवाह न करके अपने ज्ञानस्वरूपमे क्यो लीन होते ? अरे गृहस्थ बनकर इस ही काममे लग जाये। तो करने होगे गृहस्थधर्ममे ६ कर्तव्य और व्यवहारमे सब कुछ करना होगा, मगर दृष्टि बना ले, ध्येय बना ले कि जब हम अपने ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समायें तब कर्मोंकी निर्जरा होगी। अगर ज्ञानमे पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक समाये हुए हो तो कर्मोंकी निर्जरा न होगी। प्रभु भी ज्ञानस्वरूप है, उनकी भक्ति करना है कर्मनिर्जराके लिए, और वहाँ उस ज्ञानस्वरूपकी जो झलक आती है वह निर्जराका कारण बनती है।

अन्तर्दृष्टिके बलसे धर्मलाभ लेनेका अनुरोध—धर्म असलमे क्या है ? संक्षिप्त शब्दोमें बोलें तो कहेगे कि मैं ज्ञानमात्र हू, इस ज्ञानाचरणमे। मेरा कही कुछ नही हू, मै सबसे निराला हू, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू, मेरा कोई पहिचाननहार नही है, जिसका संकोच करके मै अपना ध्यान छोडूँ या रागद्वेष करूँ। मेरा कोई पहिचानने वाला नही है। जो लोग कुछ परिचय किए हुए है वे इस मुद्रा, आकार, इस शरीरका ही परिचय किए हुए है। मैं तो सबसे निराला एक चैतन्यस्वरूप मात्र हू, ऐसी दृष्टि जगना चाहिए। यदि ऐसी दृष्टि जगी है तो उद्यम करे इस बातका। सस्ते-सस्ते ऊपरी धार्मिक वातावरणके सौदेमे ही खुश न हो। ज्ञानका अधिकसे अधिक अपनेमे प्रसाद बने, इसपर अपने झुकावका अधिक जोर दें। मैं ज्ञानमात्र हू, मेरा कही कुछ नही। तो आकिञ्चन्यभाव आयगा श्रद्धामे, ज्ञानमे और चारित्रमे, उसके बाहर कही कुछ नही। जो मेरा स्वरूप है वही मेरा सब कुछ है, उसकी दृष्टि हो तो सब जीव एक समान हो जायेंगे। यह बात हम साधुवोकी ही नही कह रहे, किन्तु गृहस्थोकी भी ऐसी वृत्ति हो जाती है कि दृष्टिमे सब जग एक समान हो गया, लेकिन गृहस्थोकी परिस्थिति ऐसी है कि कुटुम्ब है तो धनोपार्जन भी करना होगा। जिस शरीरमे हम रहते है उसमे कोई रोगादिक हो गए, जिस शरीरको हमे साधनमे बढनेके लिए काममे लेना है उस शरीरके सम्बंधसे सभी काम करने पडते है, मगर ज्ञानी गृहस्थ यह जानता है कि यह तो करना पड रहा है, ऐसा करनेका काम इस आत्माका है नही। इस आत्माका करनेका काम तो है अपने ज्ञानस्वरूपकी उपासना

करना, इस ज्ञानस्वरूपमे अपना ज्ञान बनाना। जो प्रभुकी उपासना करता है वह महान होता है। यदि हम महान होना चाहते हैं तो ऐसे महान हो कि जिसके ऊपर फिर महान और कोई न हो। ऐसा महान बननेसे लाभ क्या कि जिसके बाद फिर छोटा बनना पडे अथवा अपनेसे बडोको देखकर मनमे जलते-भुनते रहना पडे। तो बडा बने तो ऐसा बनें कि फिर जिसके बाद बडा कोई न हो, जैसे अरहत और सिद्ध प्रभु। ऐसा महान बननेकी विधि क्या है ? सो यह विधि है इस ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वकी उपासना करना। विकास ज्ञानकी ही बात कह रहे, इसमे ऐसा नही है कि यह बात कोई स्त्रीजन नही कर सकती, यह तो पुरुष ही कर सकेंगे। ऐसी बात मत सोचो—ज्ञानकी बातमे दोनो समान हैं। ज्ञानसे विचारना ही तो है, ज्ञानसे देखना ही तो है।

मोह विपदाकी हैरानी—देखो—सबसे बडी कठिन विपदा है तो मोहकी है। घरमे रहते है, मोह करते जाते है, दुःखी होते जाते हैं, परेशान होते जाते हैं, बीच-बीचमे कितना क्रोध आता जाता, फिर भी जिन जीवोमे मोह लगा है उसे छोडना नही चाहते। यह स्थिति हो रही है जिससे अनेक बार दु ख पैदा होता, और झुझलाहटमे कह बैठते है कि अब यह मेरा रहा ही नही, लेकिन मन नही मानता, उसे अपना मानते है। एक छोटासा किस्सा है कि कोई वृद्ध पुरुष दरवाजेपर बैठा था। उसे उसके ही छोटे-छोटे नाती-पोते हैरान कर रहे थे। कोई सिरपर बैठता, कोई कधेपर बैठता, कोई मूँछ पटाता, कोई कुछ करता। तो परेशान होकर वह बूढा रो रहा था। उधरसे निकले एक सन्यासी जी। बोले—क्यो रोते हो ? अरे ये नाती-पोते मुझे बहुत तग करते हैं। अरे इन सभी परेशानियोंसे बचनेका तो सीधा सा उपाय है। कहो तो हम तुम्हारी ये सब परेशानियाँ जरासी देरमे मेट दें। उस बूढेने समझा कि शायद सन्यासीजी कोई मत्र पढ देंगे जिससे ये नाती-पोते हमारे सामने हाथ जोडते फिरेंगे। सो वह बूढा बोला—हाँ महाराज ! आप हमारी ये सब परेशानियाँ दूर कर दें तो आपकी बडी कृपा होगी। अच्छा चलो हमारे साथ जगल, इन नाती-पोतोंके बीचका रहना छोड दो। अरे महाराज ! ये नाती-पोते चाहे हमे मारें, पीटें, कुछ भी करें, पर ये हमारे नाती-पोते ही रहेगे, हम इनके बाबा ही रहेगे, यह तो कोई नही मेट सकता। तुम कौन आ गए बीचमे हमे बहकाने वाले। तो देखिये—जिन बातोंसे परेशान भी होते जाते, दुःखी होते जाते उन्ही बातोको अपनाते जाते। अरे एक झलकमे यह बात देख लो कि मरण होनेके बाद साथ क्या रहता है ? कोई कहे कि न रहे साथमे तो हमारे बच्चोंके पास तो रहेगा। तो भाई काहेके आपके बच्चे ? अरे बच्चे अगर सपूत है तो वे स्वय ही अपनी कलाके बलसे कमा लेंगे और अगर कुपूत है तो आप चाहे कितना ही धन जोडकर धर जायें, पर वे थोडे ही दिनोंमें सब धन बरबाद कर देगे, और फिर जिन बच्चोके लिए आप रात-दिन हैरान हो रहे वे बच्चे

आपके मरणके बाद फिर आपको क्या मदद कर सकेंगे ? कदाचित् आप मरकर उसी घरमे कुत्ता, बिल्ली, चूहा, साँप आदि हो गए तो फिर वे बच्चे आपकी रक्षा करेंगे क्या ? अरे वे तो आपको मारकर भगायेंगे । आपका ही जीव आपके घरमे पैदा हो जाय तो बच्चे क्या मोह करेंगे ? तो वस्तुतः किसीका कुछ नही । जितनी देरका जीवन है उतनी देर भी कही आपके कहनेसे बच्चा नही मानता, आपके कहनेसे आपकी स्त्री नही मानती, सबकी अपनी-कल्पना है । सबको अपने-अपने सुखकी इच्छा है । वहाँ ये बात मान लिया करते, वस्तुत. इस जगतमे कही कुछ भी नही है । मै केवल एक ज्ञानस्वरूप हू, बडी अन्तर्दृष्टिसे विचारनेकी बात है । अगर ऐसा अन्तर्दर्शन हो गया तो समझो कि हमारा जीवन सफल हो गया । और अन्तर्दर्शन नही होता तो बाहरमे बहुत भले भी बने रहे तो उससे क्या है ? अरे जो तीन लोकका वैभव है उसे मान लो ना कि यह मेरा है । थोडेसे वैभवको ही क्यो अपना मानकर उसके पीछे दु खी होते फिरते ? मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ज्ञानसे रचा हुआ हूँ और पूर्ण हूँ, मैं अधूरा नही हूँ । अधूरापन तो परिस्थितिमे है, पर स्वरूपके निर्माणमे अधूरापन नही हुआ करता ।

परिणामशक्तिके निर्णयका लाभ—जो है वह पूरा है और प्रतिसमय परिणमते रहते हुए जो भी पदार्थ है उसका प्रत्येक समयमे नवीन-नवीन पर्यायका उत्पाद, पुरानी पर्यायका व्यय, ये होते ही रहते है । मै हू, मै भी कुछ न कुछ बनता हू, बिगडता हू, बस इतनी ही तो मेरे साथ बात है । इतनेके आगे और मेरे साथ कोई बात नही । सारा भ्रमजाल है । यो तो उस घसियारेकी कथा बडी प्रसिद्ध है और भजनोमे भी गाते है । जो कि कोई घसिआरोंके साथ घासका गट्ठा लिए हुए जा रहा था । गर्मीके दिन थे, तेज धूप थी, इसलिए सभी घसियारे एक पेडके नीचे विश्राम करने लगे । उस एक घसियारेको निद्रा आ गई, सो गया । सोते हुएमे उसे स्वप्न आया कि मैं एक देशका बादशाह (राजाओका राजा) बना दिया गया हू । बहुतसे राजा लोग मेरी आज्ञामे है, सभी लोग आ-आकर मुझे नमस्कार कर रहे हैं, मेरी हुकूमत सारे राज्यमे चल रही है ।·· (देखो जब स्वप्न आता है तो उस समय सब सत्य प्रतीत होता है) अब साथके घसियारोको घर जानेकी जल्दी थी सो उसे जगा दिया । जगनेपर देखा कि वहाँ तो कही कुछ भी न था, न राज्य, न वैभव, न प्रतिष्ठा । लो घसियारोंसे वह झगड़ने लगा कि तुमने मेरा राज्य ले लिया, तुमने मेरा सारा वैभव ले लिया, मेरी हुकूमत ले लिया···· बताओ--पडा तो था वह पेडके नीचे ककरीली जमीनपर, ईटकी तकिया रखे था । पासमे कुछ न था, पर स्वप्न आ जानेके कारण वह अपनेको राजा मान रहा था । आँखें खुली कि वह सब कुछ खतम । ठीक इसी तरह मोहनीदने ही मोहीजन विकल्प करके बरबाद हो रहे है । अगर आपको सत्य आनन्द मिल जाय, सत्य ज्ञानस्वरूप आत्माके दर्शन हो जायें तो सारे-

सकट आपके समाप्त हो जायें। जन्ममरणसे बढकर और क्या विपत्ति है ? मरे, जन्मे, मरे, जन्मे। न जाने कहाँ जन्म हो गया, न जाने क्या-क्या जन्म मिले ? ऐसी परम्परा रहना यह सबसे बडी विपत्ति है, और जो वर्तमानमे कोई समस्यायें आयें उन्हे बडी विपत्ति न मानें, उनके ज्ञाताद्रष्टा रहे, यह भी समस्या आयी तो ठीक, यह भी आयी तो ठीक। मारवाडियोंके बारेमे यह बात प्रसिद्ध है कि कदाचित् लखपति, करोडपति हो गए, और किसी समय कोई ऐसी घटना घट गई कि कुछ भी धन पासमे न रहा तो वे कह बैठते है कि धन न रहा तो न सही। जैसे लोटा डोर लेकर निकल पडे थे वैसे ही लोटा डोर लेकर फिर जा रहे है। नुक्सान क्या ? तो वहाँ वे सभी स्थितियोमे सतुष्ट रहते है, इतना नुक्सान करके भी हिम्मत करते है, ऐसे ही समझिये कि अगर यहाँ कुछ घाटा हो गया तो इसमे हमारा क्या बिगाड ? मैं तो ज्ञानघन हूँ, ज्ञानस्वरूपमात्र हू। इतना ही स्वरूप लिए हुए मैं आया था परभवसे और इतना ही स्वरूप लिए हुए मैं अब भी हू और जब यहाँसे जाऊँगा तो इतना ही स्वरूप लिए हुए जाऊँगा। मेरेमे क्या कमी आयी ? जो मैं हू वह पूराका पूरा, वहीका वही हू, तो अपने आपके बारेमे ज्ञानप्रकाश लेना बडा जरूरी है। और यह प्रकाश कोई एक दो दिनमे अथवा १०-२० दिनमे नही मिलता। जितना सारा जीवन शेष है वह सब इस ज्ञानप्रकाशके पानेमे लगाना होगा। अनादिकालसे जो वासना सस्कार घर कर गए उनको मिटानेके लिए कुछ चद दिनोंसे न काम बनेगा, सारा जीवन लगाये और यह ही एक जीवन नही। जब तक ससारमे जीवन शेष मिलता है बह सब जोवन इस आत्माके ज्ञानप्रकाशके लिए ही रहना चाहिए और उस ज्ञानप्रकाशसे अपना जोवन सफल मानें। बाकी कुछसे भी कुछ हो तो क्या है ?

देहशृङ्गारसे उपेक्षित होकर आत्मशृङ्गारमे आनेका अनुरोध—भैया ! व्यवहारमे इतना तो अभीसे ही करने लगे। शरीरका शृङ्गार, उसकी क्या आवश्यकता ? अरे शरीरमे रहने वाला यह जीव अगर ज्ञानी है, शान्त है तो उसके शरीरकी शोभा अपने आप बढ जाती है। मान लो कि कोई पुरुष या स्त्री है तो बहुत रूपवान मगर करता हो क्रोध तो ऐसा क्रोध करने वाला पुरुष या स्त्री सुन्दर प्रतीत होगी क्या ? किसीको ठीक लगेगी क्या ? और कोई सामान्य ही ऐसा रूपवान है और ज्ञानमे रहता है, धीरे बात करता है, हितकी बात करता है, इस असार शरीरको दूसरोके उपकारमे लगाता है तो उसकी सुन्दरता अपने आप बढी हुई है। और फिर व्यवहारमे रहते हुए जो कुछ करना पडता है, समझें कि करना पड रहा है, लेकिन शरीरकी सजावटसे मुझे मिलता क्या है ? चाहे बहुत अच्छा रूप मिला, बडे अच्छे कपडे पहिन लिए और कही कही तो ओठोमे लाली लगानेका रिवाज है। भला बताओ ऐसे शृङ्गारसे इस आत्माको मिलता क्या है ? तो भूल बढ रही है, इस शरीरको ही सब कुछ माना जा रहा है। एक घटना है कि कोई सुनार और सुनारिन थे। एक बार सुनारिनको एक

बात पर हठ हो गई । बेचारा सुनार तो गरीब था, पर उस सुनारिनकी ऐसी हठ हुई कि हम तो ५० तोले सोनेके जेवर बनवायेगी । तो बेचारे गरीब सुनारने दूसरोंसे काढ माँगकर किसी तरह ५० तोला सोना तैयार किया और पासके ही किसी दूसरे सुनारको उस स्त्रीके मन माफिक गहना बनानेको कहा । तो स्त्रीने मकडी, ततैया, मक्खी, मछली, सर्प आदि बहुतसे जेवर जो कि नाक, कान, मस्तक, कमर आदिमे पहिने जाते है, बनवा लिए । अब वह सुनार तो बडा श्रम करके कर्जा लाया हुआ था । एक दिन वह सुनार उस स्त्रीसे पूछ बैठा कि भला बताओ—तुम जो इतने जेवर पहिनकर चलती हो तो तुम किसको खुश करनेके लिए, किसे रिझानेके लिए पहिनती हो ? तो भला बताओ क्या कोई स्त्री अपने मुखसे यह कह सकेगी कि हम इन लोगोको खुश करने अथवा रिझानेके लिए इतने गहने पहिनती है ? भले ही अन्दरसे वैसा भाव हो, पर कह कोई स्त्री नही सकती । तो उस स्त्रीने पहिले कोई तो उत्तर न दिया । बादमे बोली. आपको खुश करनेके लिए । अरे मुझे तो रात दिन कर्जा चुकानेमें बडा श्रम करना पड रहा है, फिर मैं खुश कैसे ? लो बात झट समझमे आ गई और उस दिनसे उसने प्रतिज्ञा किया कि अब हम ऐसा न करेंगी । तो भला यह बतलाओ कि इस शरीरको सजाकर किसको खुश करना चाहते है ?

परमार्थ शरण ग्रहण करनेका अनुरोध—अरे दुनियाके लोग मेरे दु खको बाँट लेंगे क्या ? वे भी कर्मके प्रेरे है, उनका सुख दु खादिक सब कुछ उनमे चल रहा है । वे कोई मेरा भला कर देगे क्या ? कोई मेरा प्रभु है क्या दुनियामे ? अरे दो की शरण मानो—विस्तारसे कहे तो चारकी शरण मानो—चत्तारिदण्डक पाठ एक मूल पाठ है जैसे कि मुसलमान लोग अजान करते हैं, इस तरहका समझिये आवश्यक पाठ है । मैं चारकी शरणको प्राप्त होता हू, अरहतोकी शरणको प्राप्त होता हू । जब अरहतके स्वरूपका हम ध्यान करते है तो हमारा मोह दूर होता है, स्वरूपसे स्वरूपका मिलान होता है, उस समयका अद्भुत आनन्द कर्मोको काटने वाला होता है । सिद्धकी शरणको प्राप्त होता हू । जब ऊपरी मल भी न रहा, शरीर भी न रहा तो वही परमात्मा सिद्ध कहलाता है । उस शुद्ध निरञ्जनका जब ध्यान करते है तो कितनी पवित्रता बढती है ? साधुवोकी शरणको प्राप्त होता हू, क्योकि इस समय साधु जन हमे साक्षात् मिल सकते है, उनकी सेवा करके उपासना करके वहाँ हम अपना उपयोग विशुद्ध बनायें, सच्चा शरण लें और अन्तमे निश्चयदृष्टिसे कहते है कि केवली भगवानके द्वारा कहा गया जो धर्म है उसकी शरणको प्राप्त होता हू । वह ही ज्ञानमात्र, ज्ञानमात्र शुद्ध ज्ञानमात्रका आलम्बन हो, उसीमे अपनी लीनता हो, ऐसा जो धर्म है उसकी शरणको मैं प्राप्त होता हूँ । तो दो शरण अपने समझे । देवका शरण या अपने आत्माके स्वाभाविक आलम्बनका शरण, बाकी आपको बाहरमे कोई शरण न मिलेगा । तो अपने आपका निर्णय करके, अपने आपकी

करके अपने आपको ज्ञानार्जनमे लगायें, स्वाध्याय करे, तत्त्वज्ञान करें, ज्ञानके वढानेमे अधिकाधिक समय दें तो उससे जीवनकी सफलता है।

शान्तिधाममे सयमवलप्रयोगकी उपयोगिता—हम सव जीवोका मुख्य ध्येय है शान्ति पाना। इसके लिए पहिले यह निर्णय करना होगा कि शान्ति मेरे स्वभावमे है। यदि शान्ति स्वभावमे न होती तो किसी भी उपायसे शान्ति प्रकट न होती। तिलमे तेल है तो पेलनेसे तेल प्रकट हो जायगा। रेतमे तेल नही है दो उसे कितना ही पेला जाय पर तेल प्रकट नही हो सकता। दूधमे घी है स्वभावत, वह आँखो नही दिखता और न दूध पीनेसे घी का आराम मिले, लेकिन उस ही दूधमे जब यह श्रद्धा है कि इसमे घी है तो उपाय करते हैं। जमाते है, मथानीसे मथते है, घी निकल आता है। तो जिसका जो स्वभाव है वह बात उसमे से प्रकट होती है और न हो स्वभाव तो प्रकट नहीं होता। पहिले यह समझना कि हमको शान्ति आत्माके स्वभावमे पडी हुई है। हम जब बाहरी पदार्थोंका विकल्प विचारते हैं, मोह रागद्वेपकी बात करते हैं तो इस शान्तिका विघात हो जाता है और जब कभी कुछ थोडेसे इन्द्रिय मुखके रूपमे सुख शान्ति मालूम होती है उसे धोखा समझें वह मायामय है। तो यह पहिले निर्णय करें कि मेरे आत्मामे शान्तिका स्वभाव है। उसमेसे शान्ति प्रकट होगी। अब शान्ति प्रकट करनेके लिए उपाय क्या करना है? उपाय यह करना है कि जैसा शान्तस्वरूप मेरा आत्मतत्त्व है उसका निरन्तर ज्ञान बना रहे, विकल्प बीचमे न उठें तो निर्विकल्परूपसे मेरे ज्ञान बना रहे तो वह शान्ति पानेका उपाय है। अब चले तो आ रहे हैं अनादि कालसे हम अशुद्ध, अनेक पर्यायोंमे बधे हुए, तो हम ऐसे ज्ञानको कायम कैसे रख सकेंगे? उसके लिए चाहिए हमे पञ्चेन्द्रियके विषयोसे निवृत्ति। अगर हम स्पर्शन इन्द्रियके विषयोकी धुन बनाये रखते हो, काम वासना, मैथुन, ठडा गर्म आदिक बातोमे अगर लुभा गए हो तो हमारा उपयोग उन विषयोमे चला गया। अब कैसे ज्ञानमे लगें? मेरेमे जो शान्ति भरी है, ज्ञान भरा है उसमे कैसे उपयोग लगे? अगर खाने पीनेमे ही, रसके स्वादमे ही हमारा उपयोग लग गया और अनेक वासनायें बनें, जब चाहे खाने पीनेकी आदत डाले रहे, कोई सयम नही है, यदि चित्त वहाँ ही घर किए हुए है तो कैसे उस उपयोगमे वह ज्ञानस्वरूप आत्मा या परमात्मतत्त्व समाये? विषयोका कुछ त्याग करना होगा, कुछ निवृत्ति करनी होगी। यही तो सयम है। सयमके बिना हम ज्ञानका स्वाद न ले सकेंगे। जब असयममे चल रहे तो ऐसी स्थितिमे हमे ज्ञानका समागम नहीं मिल सकता।

असंयमके उपयोगमे शुद्ध वृत्तिका विघात—एक कथानक है कि बचपनकी दो सहेलियाँ थी। एक थी धीमरकी लडकी और एक थी मालिनकी। दोनोका अलग-अलग गाँवोमे विवाह हुआ। धीमरकी लडकी तो एक गाँवमे ब्याही गई और मालिनकी लडकी एक शहरमे

ब्याही गई। धीमरकी लडकी मछलियाँ बेचनेका काम करती थी और मालिनकी लडकी फूलो की मालायें बनानेका काम करती थी। एक दिन धीमरकी लडकी उसी शहरमे मछलियाँ बेचने गई जहाँ उसकी सहेली रहती थी। शाम हो जानेसे सोचा कि आज अपनी सहेलीके घर रुक जाऊँ। रात्रिको मालिनकी लडकीने अपनी सहेलीका बडा आदर किया। जब सोनेका समय हुआ तो बडा ही कोमल गद्देदार बिस्तर लगाया, उसमे कुछ फूलोकी पखुडियाँ भी डाल दी। जब वह धीमरकी लडकी उसमे लेटी तो उसे नीद ही न आये। मालिनकी लडकीने पूछा— सखी! तुम्हे नीद क्यो नहीं आ रही? क्या करूँ सखी, तुमने ये क्या फूल बिखेर रखे है कि इनकी गधकी वजहसे नीद नहीं आती। मालिनकी लडकीने फूलोकी पखुडियाँ हटा दी, फिर भी नीद न आये।·· पूछा अब क्यो नीद नही आती? अरी सखी यहाँ फूलोकी ऐसी गध भर गई कि जिससे नीद नही आती। · तब क्या करूँ जिससे नीद आये? वह जो मेरा मछलियोका टोकना रखा है उसे मेरे सिरहाने धर दो और उसमे कुछ पानीके छीटे मार दो तब नीद आयगी। जब ऐसा ही किया तब उसे नीद आयी। तो जैसे मछलियोकी गधमे रहने वाली लडकीको फूलोकी गध नही सुहायी, इसी प्रकार विषयोकी गधमे रहने वाले व्यक्तिको आत्मस्वरूपकी बात कहाँसे सुहायगी? इस आत्मस्वरूपकी बात पानेके लिए चाहिए इन्द्रिय-विषयोका त्याग। बहुत देखना, बहुत बोलना, बहुत सुनना आदि ये सब इस जीवके लिए लाभदायक नही है। बहुत कुछ सुनकर भी थोडा बोलना, यह तो एक सयम है। इन्द्रियसंयम बिना और मानसिक सयम बिना हम उस ज्ञानतत्त्वकी प्राप्ति नही कर सकते। जिनका मन अटपट है, जरा भी दुःख नही सकते, विरुद्ध वचन नही सह सकते। प्रशसाके वचन ही सुहाते हो, ऐसे उस कायरको आत्माके तत्त्वकी बात कैसे सुहा सकती है? तो सयम करना होगा, अपनी वृत्ति शुद्धि बनानी होगी तब ही हम ज्ञानका लाभ पा सकेंगे। जैनधर्मकी परिपाटीके अनुसार सबसे पहिले बालकको सप्तव्यसनोका त्याग, अष्ट मूल गुणका पालन कराया जाता है। मद्य, माँस, मधुका त्याग करना, पचउदम्बर फलोका त्याग करना, क्योकि अगर अभक्ष्य पदार्थोंके खानेकी वृत्ति रहेगी तो उपयोग इसका भटका रहेगा, निर्दय रहेगा। वह कैसे इस आत्माके ज्ञानभण्डारको, इस शान्तिनिधिको सम्हाल सकेगा? तो उसे सबसे पहिले अष्टमूल गुणका पालन कराया जाता है, सप्त व्यसनका त्याग कराया जाता है। देखो कैसा जैनधर्ममे सम्यग्दर्शन पानेकी पद्धति बतायी गई है? सम्यग्दर्शनके भेदोमे एक मार्ग सम्यक्त्व भी बताया गया है। जो मार्ग है, जो आचरणकी वृत्ति है उसे ही देखकर बहुतसे लोगोको इस जैनधर्मका श्रद्धान हुआ। यहाँ प्रतिमाओका स्वरूप इस ढगसे क्रमिक उन्नतिके रूपसे बनाया गया कि उसे पढकर लोग स्वय ही इस जैनधर्मके श्रद्धालु हुए। तो जितने ये बाह्य त्याग है ये मनको शुद्ध और सयत बनानेके लिए है। कोई भी समझ सकता है मोटे रूपसे कि जो अभक्ष्यभक्षणमे ल

हो, जो अन्याय करनेमे लगा हो, ऐसे पुरुषका उपयोग क्या कभी तत्त्वज्ञानकी ओर जा सकेगा? जब मन ही शुद्ध नही तब वहाँ परमात्मस्वरूप कैसे बसेगा? जुवा खेलने वाले लोग प्राय. रात-दिन शल्यमे बने रहते है। इसका कुछ अदाज करना हो तो पहिले जो सट्टा खेलने वाले लोग थे उन्हीको देखकर अदाज कर लो। उनका चित्त कुछ चैनमे नही था। जरा-जरासी बातोमे हृदयमे बोझ पड गया। जुवा खेलनेसे सभी व्यसनोकी आदत लग जाती है। मद्य, मास वगैरा तो प्रकट ही अभक्ष्य हैं, परस्त्रीसेवन, वेश्यासम्पर्क आदिकी रुचि करना ये तो प्रकट आपत्तियाँ है। चोरी, झूठ आदिक सभी व्यसन इस जीवके लिए आपत्ति हैं। उनका त्याग कराया जाता है। उसका ध्येय यह है कि बाहरी बातोमे यह जीव न लुभायेगा। जो व्यर्थके काम हैं, जो असयमरूप है, उन कामोसे कुछ निवृत्ति मिले।

परमात्मत्वदर्शनकी ज्ञानसाध्यता व निवृत्तिसाध्यता—परमात्मतत्त्वका दर्शन ज्ञान-साध्य व निवृत्तिसाध्य है। ये ज्ञान और निवृति दोनो ही बातें चाहिएँ। जैसे-जैसे ज्ञान बढेगा वैसे ही वैसे निवृत्ति भी बढेगी और जैसे-जैसे निवृत्ति बढेगी वैसे-वैसे ज्ञान बढेगा। जब ज्ञान और निवृत्ति हो जाते है तो वहाँ आत्मतत्त्वका दर्शन होता है। तो उस अतस्तत्त्वकी ज्ञान-साधनाके विषयमे कह रहे है कि उस ज्ञानकी उपासनासे शाति प्राप्त होती है। हमे इसके लिए क्या करना चाहिए? तो वह श्रावकधर्म और मुनिधर्ममे है पाँच पापोका त्याग, ताकि किसी भी प्रकारका विकल्प न रहे, शल्य न रहे, बालकोकी तरह चित्त सरल हो जाय। चलो तो देख-भालकर चलो। यह तो ख्याल रहे कि जैसे मैं जीव हू वैसे ही ये ससारके सब जीव हैं। जीव जीव समान हैं, जब जरासा दब जानेपर मुझे भी क्लेश होता है तो इनको भी वैसा ही क्लेश होता है, और फिर यह बात है कि कोई जीव आघातसे मरता है तो उसका सक्लेश मरण होता है। वह सक्लेशमे मरण करके उससे नीचेकी गतियोमे जन्म लेता है। सक्लेशसे मरनेका यही फल होता है कि जिससे उसके नीचेका भव मिले। तो सक्लेशसे मरनेपर जीव का कितना अनर्थ हुआ? ये साधु कितना दयालु पुरुष होते है कि वे जीवोकी न तात्कालिक हिंसा चाहते हैं और न भविष्यकी। वे एसे अहिंसाके उपासक हैं। भाषासमितिमें बहुत कम बोलना, हितकारी वचन बोलना, प्रिय वचन बोलना, यह बात तो सब गृहस्थोको भी चाहिए। बहुत कम बोलें, पहिले दूसरोकी बात सुनें, फिर थोडा बोलें वह भी जरूरतके माफिक, वह भी परिमित शब्दोमे। वह भी इस तरह कि जिससे सुनने वालोका हित हो। तो हित मित प्रिय वचन बोलें। ऐसा कोई करेगा तो उसका ऐसा जीवन बनेगा कि उसको गृहस्थीमे अशाति नही आ सकती। ज्यादा झगडा तो ज्यादा बोलनेसे बनता है। घरमे भाई-भाईमे, किसीमे बिना काम, बिना प्रयोजन अधिक बोलनेसे विवाद उत्पन्न होता है। जरूरत क्या पडी है? हमे अपनेको शान्तिमे रखना है, हमे अपने आत्माका उद्धार करना है। जैसे मेरा जीवन भला

हो वह बात हमे करनी है और जैसा बनना है भला वैसा करनेमे दूसरोका भी भला है, अपना भी भला है, मगर इससे उल्टे कामोमे तो दूसरोका ही भला है और न खुदका ही भला है। हित मित प्रिय वचन बोलना आत्मामे आत्मस्वरूपका इतना गहरा विश्वास रखना कि मेरी जो निधि है वह मेरे आत्मामे है, बाहरकी निधि कोई निधि नही है। आज है कल न रहेगी।

अनात्मपदार्थसे उपेक्षा करके अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि कर आत्मदया करनेका अनुरोध—देखो भैया! जिसे जो निधि मिली है वह उसकी आवश्यकतासे कई गुना अधिक है। भले ही अपनेसे अधिक धनिकोको देखकर कोई ऐसी कल्पना करे कि मेरे पास कुछ नही है। अरे यह तो उन देवोका काम है जो दूसरोकी सम्पदाको देखकर मन ही मन कुढा करते। हाय, मेरे पास इतनी सम्पदा क्यो न हुई, किन्तु तुम तो इन देवोसे ज्यादा विशिष्ट पुरुष कहलाते हो। यहाँ तो यह देखना है कि जो कुछ भी प्राप्त हो रहा मेरी जरूरतसे विशेष अधिक है। इसका प्रमाण यह है कि अपनेसे कई गुना अधिक निम्न स्थिति वाले लोगोको देख लो—क्या उनका गुजारा नही चल रहा है? आपने तो उस सम्पदाकी कोई सीमा नही रखी, उसकी तृष्णा ही बनाये रहे तो उसका परिणाम यही तो होगा ना कि वर्तमानमे पायी हुई सम्पदाका सुख भी नही लूटा जा सकता। जैसे कोई था तो १ लाखका धनी, पर १ हजारका टोटा पड गया तो उसकी दृष्टिमे वह १ हजारका टोटा ही बना रहता है जिससे वह अपनेको दुःखी बनाये रहता है। यद्यपि अभी उसके पास ९९ हजारकी सम्पदा है, पर उसका सुख वह नही लूट पाता। और किसीके पास सिर्फ १ हजारकी ही सम्पदा थी और उसे १ हजार रुपयेका लाभ हो जाय तो वह तो अपनेको बहुत सुखी अनुभव करता है। तो जैसे तृष्णा बढा लेनेके कारण वर्तमान प्राप्त सम्पदाका भी सुख नही लूटा जा पाता, इसी प्रकार अपनी निधिको भूलकर बाह्यपदार्थोमे उपयोग लगानेमे अपनी निधिका आनन्द नही लूटा जा पाता। बहुतसे लोग सोचते हैं कि हम अभी धन जोडकर रख दें ताकि बुढापेमे सुखसे रहेगे, मगर जिन जिनने ऐसा किया उनकी हालत देख लो—वे सुखसे रह भी सके क्या? अरे कही लुटेरे लोग धन लूटनेकी सोच रहे, कही सरकार ही उस धनको जब्त करना चाहती, कही घरके लोग ही उस मालिकको मारकर धन अपनाना चाहते। कितनी ही घटनायें इस तरह ही सुननेको मिला करती हैं। स्वयं भी आँखो देखा होगा। तो धन जोडकर रख जानेपर भी वह सुखका कारण नही बनता, बल्कि दुःखका ही कारण बनता है। जब वृद्ध हो गए, शरीर भी किसी काम करने लायक न रहा, एक जगहपर पडे रहते है तो वहाँ कौन इस बूढेकी पूछताछ करता है? वहाँ तो इसकी खबर लेने वाला भी कोई नही होता। तो यह धन सुखका कारण नही बनता, हाँ अगर आत्मज्ञान जागृत हुआ है तो उसके बलसे वह सदा तृप्त रहता है। तो यहाँकी इन बाहरी बातोपर क्या अधिक उपयोग देना, क्या इनमे चैन मानना? अपने आपपर सच्ची दया करो

वह सच्ची दया यही है कि ममता न रहे और अपने आत्माका सही ज्ञान हो ।

स्वयं आत्मज्ञ बनने व आत्मज्ञोकी उपासना करनेका कर्तव्य—जिसके दर्शनसे, जिसकी शरण लेनेसे, जिसमे अभेदरूपसे ठहर जानेमे सत्य आनन्द है उस अन्तस्तत्त्वका शरण गहो । जैसे साल दो-सालके बच्चेपर जब कोई सकट आता है तो वह अपनी माताकी गोदमे छिपकर ऐसा अपनेको निर्भय बना लेता कि मेरेको तो अब कोई डर हो नही रहा, ऐसे ही यह आत्मा अपने आपमे विराजमान उस अत ज्ञानस्वरूपकी गोदमे ऐसा पड जाता है एक रूप हो करके कि इसको फिर भय नही रहता दुनियाका कि मुझको कोई डरकी बात है । लेकिन यह बात क्यो नही होती कि स्वय तो आत्माको जाननेका प्रयास नही करते, और जो आत्माको जानने वाले पुरुष है उनकी उपासना नही करते । एक कही सभा हो रही थी । उसमे एक मुसलमान भाषण दे रहा था । उसे तो अपने भाषणमे जीवहिंसाको जायज सिद्ध करना था, लेकिन वह भाषण देनेकी कलामे इतना प्रवीण था कि जिससे प्रभावित होकर सडकपर जाने वाले सभी लोग उसका भाषण सुनने लगते थे । उसी सडकपर कुछ जैन लोग भी जा रहे थे, उनको भी सभामे लानेका ढग उसने अपनाया । एक चर्चा ऐसी कर दी कि दुनियामे कलायें ७२ मानी गई है, मगर जैनियोमे ७४ कलायें होती है । दो कलायें जैनियोमे ज्यादा होती है । तो वे जैनी भाई यह जाननेके इच्छुक हो गए कि जरा सुन तो लें कि कौनसी दो कलाये जैनियोंमे ज्यादा होती है । तो उस भाषणको वे जैनी लोग सुन रहे थे । भाषण तो हो चुका पर यह न बताया कि वे कौनसी दो कलायें है जो कि जैनियोमे ज्यादा होती है ? बादमे उन्होने पूछा कि आप बताइये कि कौनसी दो कलाये जैनियोमे ज्यादा होती हैं ? तो बताया कि खुद जानना नही, यह तो ७३वी कला हुई और दूसरेकी मानना नही, यह ७४वी कला हुई । यह बात कोई उसने ही कहा हो सो बात नही, श्री अमृतचन्द्राचार्यने खुद लिखा है—स्वस्यानात्मज्ञतयापरेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनु तो भाई अपने उद्धारके लिए जो रहा-सहा थोडासा जीवन है, इसके पानेके लिये छटपटा जाइये । मुझे दुनियाकी अन्य बातोसे कुछ प्रयोजन नही, मेरे लिए अन्य कोई बडी समस्या नही । समस्या सिर्फ एक है कि कैसे मेरी निर्विकल्प स्थिति हो ? कैसे मैं अपने ज्ञानप्रकाशमे लीन होऊँ, तृप्त रहूँ, कैसे मैं उस मार्गपर चलूँ जिस मार्गपर चलकर प्रभु अरहत हुए, सिद्ध हुए ? बस एक ही धुन है, और दूसरी कोई हमारे जीवनमे बडी समस्या नही है । ऐसे बडे प्रकाण्ड साहसके साथ जीवनमे धर्ममार्गमे बढे ।

धर्मकी शरण गहे बिना सकटोमे छुटकारा असंभव—यदि धर्ममार्गमे न बढे तो क्या स्थिति होगी ? एक कथानक है कि कोई राजा रानी थे । रानी तो धार्मिक थी, पर राजा

धार्मिक न था। तो रानी रोज-रोज कहा करती थी कि धर्म करो, नही तो मरकर ऊँट बनोगे। आखिर हुआ भी ऐसा ही। वह राजा मरकर एक बादशाहके घर ऊँट बना और रानी मरकर उस बादशाहकी लडकी बनी। जब बादशाहने अपनी लडकीका विवाह किया तो दहेजमे वह ऊँट भी दे दिया। अब ऊँटपर क्या लादा जाय ? सो तय हुआ कि लडकीके कपडे या वहूके कपडे व अन्य सामान लाद दिया जाय। जब कपडे आदि लाद दिए गए तो उसे रास्ते मे चलते हुएमे ऊँटको जातिस्मरण हो गया। अहो ! मुझपर पूर्वभवकी मेरी स्त्रीके कपडे लदे है, सो वह चले नही, चलाने वाला उसे खूब डडे मारे, पर वह चले नही। इतनेमे ही उस लडकीको भी जातिस्मरण हो गया। वह समझ गई कि यह ऊँट किस कारणसे नही चल रहा है ? तो वह लडकी बोली—अरे इस ऊँटको मत मारो, हम इसे कुछ समझायेंगी तब यह चलेगा। सब लोग आगे चले गए, अब वह लडकी उस ऊँटके कानमे कहने लगी कि देखो हम तुमसे कहा करती थी कि धर्म करो, नही तो मरकर ऊँट बनोगे, पर तुमने मेरा कहना नही माना, इसीलिए तुम्हे ऊँट बनना पडा। अब हम यहाँपर किसीसे यह तो नही कह सकती कि यह हमारे पूर्वभवके पति थे, इनपर हमारा सामान मत लादो, अब तो अच्छा यही है कि लदे चले चलो। अब देख लीजिए, यदि अपने इस थोडेसे जीवनमे धर्मकी बात कुछ न सभाली, धर्मके मार्गमे अपना कदम न बढाया, बच्चोकी मोह ममतामे ही पगे रहे तो यह जीवन भी निष्फल जायगा, और मरकर क्या बनेंगे, इसका कुछ पता नही। अभी यहाँ किसी बूढेसे पूछे कि भाई तुम मजेमे हो ? तो वह कह उठेगा कि हाँ हम तो बहुत मजेमे है। हमारे इतने लडके है, इतने नाती-पोते है, इतने मकान है, बडा ठाठ है, खूब हरे-भरे है, हम तो बहुत मजे मे है। अरे मजेमे कहाँ ? उन नाती-पोता, धन, वैभव आदिपर तो ममता लगी है, उनके बीच रहकर बडी परेशानीमे रहा करते, फिर भी कहते कि हम तो खूब हरे-भरे है, बडे मजेमे है। अरे इस मोह ममतासे बढकर विपदा जगतमे और कोई नहीं है। अब जो इच्छा हो सो करो। मोह करोगे तो खुद नुकसान पावोगे, मोहसे हटोगे तो कुछ ज्ञानमार्गमे लगोगे, कुछ अपने आत्माका उद्धार पा लोगे ? इस झूठमूठकी हठमे लाभ कुछ नही मिलनेका। तो क्या करना चाहिए ? अरे आत्माकी उपासना करो। ज्ञानस्वरूप आत्माकी उपासना करो, परमात्माकी उपासना करो। उसका श्रद्धान करो। भगवानका स्वरूप क्या है ? शुद्ध ज्ञान, शुद्ध आनन्द, उत्कृष्ट ज्ञान, उत्कृष्ट आनन्द। ज्ञानानन्दका जो पिण्ड है, जहाँ ज्ञान पूर्ण प्रकट है, बस वही परमात्मा है। ज्ञानानन्द जिसके प्रकट है, जिसके कर्म नही रहे, जो कर्मोंसे भी दूर हो। घातिया कर्मोंसे दूर हुए बिना ज्ञानानन्द पूर्ण प्रकट नही होता और जो अघातिया कर्मोंसे भी दूर हो गया, शरीरसे दूर हो गया वह निकलपरमात्मा है। उन परमात्माओकी बात विचारनेसे अपने आपके आत्माकी भी सुध आती है। इसी प्रकार अपने स्वरूपमे अकेला ज्ञानानन्द

स्वभाव मै भी हू । यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अपने आपकी दृष्टिमे रहू, इससे बढकर विभूति कुछ नही है ।

बाह्य समागमोकी अशरण्यता—ये बाहरी पदार्थ तो सब डलेकी माफिक है । इनसे आत्माको कुछ मिलता नही । आत्मोद्धारमे तो ज्ञान ही मददगार है, अन्य कुछ भी मददगार नही । सिकन्दरका किस्सा सभीने सुना होगा । वह मरते समय कह गया कि मेरी सारी विभूतिको मेरी अर्थीके साथ ले चलना और मेरे दोनो हाथ अर्थीसे बाहर निकाल देना ताकि दुनिया समझ जाय कि देखो सिकन्दर बादशाहने कितनी ही हत्यायें करके इतना वैभव जोडा, पर आज वह खाली हाथ जा रहा है । और भैया ! एक बात यह भी सोचिये कि आज जो आपने यह हजार लाखकी विभूति पायी है उससे करोडो गुना विभूति तो इससे पहिले भी पा चुके हो, बडे-बडे राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार भी बन चुके हो । पर आज इस न कुछ जैसे वैभवमे इतनी ममता करके अपने आत्माका कैसा पतन कर रहे हो ? अरे अपने आपपर कुछ दया करो । अब यहाँ वहाँकी बाहरी बातोमे पडनेका समय नही है और मेरे लिए काम क्या करना ? इसके लिए दो दृष्टियाँ बतायी गई है—१ भेदोपासना, २ अभेदोपासना । भेदोपासनामे कैसी दृष्टि बनती है कि मेरे आत्माकी सिद्धि इस मुझ आत्माके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे ही होती है । इसलिए मै ही साधक हू, मैं ही साध्य हू । अन्य कुछ विकल्प नही करना है । अपनेको जानू, अपनेको मानू और अपनेमे आचरण रखू । इसके लिए बाहरका सब कुछ त्यागना पडे तो वह त्याग दें । यह हुआ बाह्य सयम और अपने ज्ञानको अपने आपमे लगायें यह है अतरग सयम । इस उपायसे मुझे इस आत्मतत्त्वकी उपासना करनी है । उससे ही मेरा जीवन सफल है ।

ज्ञानकी लक्ष्यपर निर्बाध पहुंच—सर्व प्रयत्नोका ध्येय है अपने सहजस्वरूपको दृष्टिमे लेना । यह मैं सहज ही ज्ञानमात्र हू । मेरे स्वरूपमे किसी अन्यका प्रवेश नही । यद्यपि आज मेरे ही प्रदेशमे कर्म भी बस रहे हैं, शरीर भी बस रहा है, किन्तु स्वरूपत प्रदेश देखें तो कर्मके प्रदेशमे कर्म ही है, आत्माके प्रदेशमे आत्मा ही है । जैसे व्यवहारसे हम यह कहते हैं कि आकाशमे हमारा हाथ है, तो ठीक है, इसे असत्य नही कह सकते, मगर आकाशका स्वरूप देखो और हाथका स्वरूप देखो तो हाथके स्वरूपमे हाथ है, आकाशके प्रदेशमे आकाश है, यह एक देखनेकी तरकीब है । ज्ञानमे ऐसी सामर्थ्य है कि जिसको वह जाननेके लिए चलेगा । बीचमे कितनी ही चीजें आडे आयें, कितने ही ओट आयें, वह किसीसे नही भिडता और जिसका जिसके जाननेका ध्येय बनता है वह उसपर पहुच जाता है । जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला एक्सरा यत्र होता है । वहाँ मनुष्यको खडा कर दिया या लिटा दिया तो वह यत्र न तो उस ऊपके रोमका फोटो लेगा, न चमडी, खून, माँस आदिका फोटो लेगा, वह तो सीधा हड्डीका

फोटो ले लेता है। यह तो एक दृष्टान्तकी बात है। ऐसे ही ज्ञानमे एक ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि जिसका वह लक्ष्य बनाये ठीक वही जाकर वह पहुच जाता है। तभी तो कहते है लोग कि एक सेकेण्डमे यह ज्ञान कलकत्ता पहुच गया। अरे बीचमे कितने ही नगर पडते हैं, किसीसे ज्ञान नही रुका। कितनी ही बडी-बडी लोहेकी दीवारें भी होगी, मगर उनसे ज्ञान रुकना नहीं। आपके घरमे तिजोरीमे सदूक रखी हो, उसमे और छोटी पेटी रखी हो, उसमे कपडेमे बधी हुई अगूठी रखी हो और आप यहाँसे बैठे-बैठे जानना चाहते है तो आपका ज्ञान न तो किवाडसे रुक सकेगा, न भीतसे, न तिजोरी आदिसे। वह तो सीधे उस अंगूठीपर ही पहुच जायगा। अब अपने ज्ञानके स्वरूपको देखकर उसकी महिमा समझें, और उससे अपनेको महिमावत जानकर उस ज्ञानके प्रकाशमे रहकर तृप्त होनेका प्रयत्न करें।

आकिञ्चन्यकी भावना—लोकमे मेरा कही भी कुछ नही। खूब परख लो, देखभाल लो, कुछ भी अपना हो सका हो या हो सकता हो तो बताओ। यहाँ जीवित है, पता नही है कि यह देह मेरे सयोगमे कब तक रहेगा? देह सब वियुक्त होगा। हमको यह देह छोडकर जाना ही पडेगा। व्यर्थका यह ममकार चल रहा है। जैसे आपसे पूछता है कि भाई आप कौनसे गाँवके है? तो आप कहते है कि हमारा सुजानगढ गांव है। अरे इतना बडा सुजानगढ जहाँ अरबोकी सम्पदा होगी, वह सब आपका है क्या? अरे सुजानगढमे रहते है, खाते हैं, सोते है, थोडी सुविधा मिली हुई है, सो कहते है कि मेरा गाव सुजानगढ है। मेरा देह, अरे देह जो रूपी है, हाड, माँस आदिकका पिण्ड है, जो जीर्ण-शीर्ण हो जाता है वह देह इस अमूर्त आत्माका बन जायगा क्या? अगर आज इस कमजोरी हालतमे, इस विषयकषाय वासनाकी स्थितिमे कुछ चैन माने रहे, कुछ अपना गुजारा बना रहे, इस कारण कहते कि यह हमारा देह है, बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। इस देहसे अपना कुछ काम नही निकलनेका, बल्कि बिगाड ही रहा सब कुछ। जितने सकट है वे सब इस देहके कारण है। जिस देहपर इतना गर्व करते, जिस देहको देखकर इतनी ममता करते, वे सब सकट इस देहके कारण है। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, रोग आदिक ये सब प्रत्यक्ष दिख रहे है कि इस देहके कारण ये सकट लगे हैं, सम्मान-अपमान, दिमागसे बहुत-बहुत सोचते रहना, मेरा ऐसा प्रताप हो, मेरा ऐसा प्रभाव हो, मेरा एकछत्र राज्य हो, इस प्रकारकी भीतरकी हूकें क्यो उठती है? इस देहके कारण। इस देहमे ममता है, और देखिये मेरा प्रताप फैले, इसका अर्थ यह नही कि जो चैतन्यस्वरूप है उसका प्रताप फैले। यह नही सोच रहा वह, किन्तु यह जो आकार है, यह जो देह है, यह जो कुछ बिस्तर है, इसका प्रताप फैलानेकी बात सोच रहे है। जैसे बुन्देलखण्डमे भी और मारवाडमे भी स्त्रियाँ कपडोसे चारो ओरसे इस तरह लिपट जाती हैं कि जैसे बिस्तरके भीतर कोई जीव पड़ा हो, और लोग जब उनका मजाक करते है तब यही तो कहते है कि

विस्तर किसका ? मायने यह धर्मपत्नी किसकी ? ऐसे ही यहाँ कह लीजिये कि यह सारा जो पिण्डोला है उतनेको चित्तमे रखकर यह उत्सुकता होती है कि मेरा प्रभाव हो। सब असार है। जो बाते आचार्योंने कही है वे अक्षरत सत्य है, सर्व बाह्य तृणवत् असार है। करोडोका वैभव भी निकट आ गया, सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदिक खूब आ गए तो क्या है ? ये सब डेला पत्थर ही तो है। इसी डेला पत्थरको देखकर लोग मानते है कि मैं बडा महान हू। अरे जरा अपनेपर दया करके अपनी सच्ची महत्ता प्रकट कर ले, और यह धोखे वाली महत्ता, इसका अहकार बिल्कुल छोड दे। धनी और निर्धन दोनो जीव एक समान है। जीव-जीवमे तो कुछ अन्तर नही। कभी भी अपनी दृष्टिमे अन्य कोई तुच्छ नजर आये तो इन बाह्य बातो के कारण तो यहाँ अधेरा ही अधेरा है। इन बाहरी बातोमे पडकर भीतरका ज्ञानप्रकाश ढका रहता है।

ज्ञानका अलौकिक प्रताप—इस ज्ञानमे एक ऐसा अलौकिक प्रताप है कि हम अगर जानना चाहे अपने भीतरकी सारी निधिको तो हम बहुत शीघ्र सुगमतासे जान सकते है। पर जान क्यो नही रहे ? सबसे कठिन बात यह है कि इसे अपने आत्माका ज्ञान करनेकी रुचि नही हुई है। आत्माका ज्ञान करना कोई कठिन काम नही है, इससे सरल काम है जो कि बाहर की चीजोका हम ज्ञान करते है, बडा हिसाब-किताब रखते है, बडी व्यवस्था बनाते हैं, किन्तु आज आत्मज्ञान करनेका काम बडा कठिन दिख रहा है। तो कठिन दिखनेका कारण यही है कि उसकी ओर लोगोकी रुचि नही है। बाह्यपदार्थोंकी ओर रुचि होनेसे बाहरी बडे कठिन-कठिन काम भी बहुत सरल एव सुगम लग रहे हैं। जैसी रुचि बाह्यपदार्थोंकी ओर लगा रखी है वैसी ही रुचि अगर आत्मस्वरूपका ज्ञान करनेकी हो जाय तो यह काम भी बडा सुगम एव सहज हो जायगा। इन बाहरी पदार्थोंको जाननेके लिए तो आँखें खोलनी होगी। आँखोमे यदि कोई कमजोरी है तो चश्मा लगाना होगा, दवा करना होगा, यहाँ हमे जान-बूझकर ज्यादा दिमाग लगाना होगा। इससे परपदार्थोंको जाननेमे कठिनाई है, पर आत्माके जाननेमे कोई कठिनाई नही है, क्योकि वह इन्द्रियके बिना जानेगा। पहिले इन्द्रियसे सहारा तो होगा, मगर पश्चात् वह मन भी आत्मामे घुला-मिला जैसा बन जायगा। सहज ज्ञान है। आप यदि ऐसा कहे कि ज्ञानावरणका इतना क्षयोपशम नही तो फिर कैसे आत्माका ज्ञान हो ? तो भाई यह बहाना न रखो। जब इतना बडा क्षयोपशम पाया है कि बाहरी बातोको हम इतना अधिक जानें, बडे-बडे आविष्कार कर लें, बडे-बडे कारखाने खोल लें, बडी-बडी व्यवस्थायें बना लें, इतना बडा क्षयोपशम मिला है, इतना ही क्षयोपशम चाहिए आत्माके ज्ञानको। बस फर्क सारा रुचिका है, और यह रुचि तब तक नही जग सकती जब तक कि इन बाह्यपदार्थोंको हम असार न समझे।

रुचिके अनुकूल विषयमे गति— जब हम इनमे सार समझते है तब इनकी ही तो रुचि जगेगी। पर यहाँ सार कुछ नही है। किसका बेटा, किसका पोता, किसका क्या ? कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे, सभी अपने-अपने कर्म साथ लेकर आये है। यहाँसे मर कर कोई किसी गतिमे जायगा, कोई किसी गतिमे। जब तक समागम है तब तक भी आपकी इच्छासे वे काम नही करते। वे अपनी ही इच्छासे काम करते है। उन बेटो अथवा नाती पोतोके मनमे यह बात बसी होनी है कि अगर हम इन पिताजी या बाबा जी वगैराका कहना मानते रहेगे तो हमको ये रात दिन बडा श्रम करके बडे सुखमे रखेंगे। इस प्रकारका भाव उनका बना हुआ है तभी वे आपका कहना मानते है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जीव अपने-अपने उदयके अनुसार अपनेमें इच्छा बनाकर अपना प्रयत्न करता है। कोई किसी दूसरेका प्रयत्न नही करते। जब तक हम भले है तब तक हम सभीके लिये भले है, और जिस दिन हम बुरे बन जाये तो फिर सभीके लिए हम बुरे बन जायेंगे। यदि हम अन्याय और पापोमे लग जायें तो सबके लिए हम बुरे हो गये। हम अन्य लोगोका प्रेम तो तब समझें जब कि हम कैसे ही बुरे बन गए हो, पर लोगोका हमपर प्रेम ज्योका त्यो बना रहे। यह बात सभी लोग अपने-अपने बारेमे सोच लें। आप अनर्थमे चलें, अन्यायमे चलें, पापोमे चले, व्यसनोमे फस जायें, दूसरोको गालियाँ बकते रहे और फिर भी अन्य लोग आपकी प्रशसा करें, आपको माने तो कहना चाहिए कि ये लोग बडे सज्जन है, मुझे कुछ मानते है। अरे हम जब तक भले है तब तक सबके लिए भले है। तो असली बात तो हमारे आचरणपर है। हमारा आचरण अच्छा हो तभी सब लोग मददगार है। घरके लोग भी तभी तक मदद गार है जब तक कि हमारा आचरण अच्छा हो। हम इन पाये हुए समागमोको असार समझें यह सबसे बडा काम करनेको पडा है। धर्म करनेकी विधि बतला रहे है। धर्म धारण करने की मूल बात यह है कि ये वैभव, मकान, परिवार, मित्र जन आदिक ये सब मेरे लिए असार है, न कुछ चीज है, ये मेरे कुछ नही है, इस प्रकारकी बात पहिले समझ लें। यह है धर्म मार्गमे कदम बढानेकी सबसे पहिली सीढी। अब आप सोच लें कि यह बात हममे आ सकी कि नही ? यदि नही आ सकी तो इस बातको अपने अन्दर लानेका प्रयत्न करना चाहिए। और यह जान लें कि अभी हम धर्मसे बहुत दूर है, हमे धर्ममे लगना है। एक झूठमूठ धर्मात्मापन का विश्वास हो जाय अपनेमे तो वह भी एक अनर्थकी चीज है। पूँजी तो उतनी पासमे है नही जितना कि हम अपनेको मान रहे है। तो उस माननेसे क्या बने ? पहिली बात यह निरखें कि हम यह समझ सके या नही कि मेरे लिए तो ये सब कुछ सारहीन चीजें है। कुछ कुछ समझना होगा, मगर दूसरोंके प्रति घटानेके लिए तो ज्यादा समझ बनती है। देखो यह कैसा वैभवमे फसा हुआ है ? साथ तो कुछ आता-जाता नही, पर यह लगा फिर रहा है। हुन-

के प्रति यह बात जरा कम विदित होती है, मगर अपने बारेमे भी जिस दिन यह प्रकाश जग जायगा कि अहो ! शरीरसे लेकर पुत्र, मित्र, परिवार, वैभव, धन, इज्जत सब कुछ मेरे लिए सारहीन है । मै तो अपनेमें ही गुप्त रहता हू, गुप्त ही गुप्त अपनेमे अपने ज्ञानका स्वाद लेता हुआ अपनेमे ही तृप्त रहू । यदि मै ऐसा हो सकता हू तो मैं धर्मात्मा हू ।

सृष्टिकी दृष्टयनुसारिता—कोई बाहरमे धर्मात्मापन दिखाये तो उससे काम तो नही बननेका । काम जैसे बने वैसे करना चाहिए । हमारे सदाके लिए जन्ममरण ससारसकट छूट जायें वैसा हमको करना चाहिए । दुनिया क्या कहे, क्या न कहे ? इसकी परवाह नही । अरे अपने आपमे सत्य श्रद्धा उत्पन्न करो, अपने आपकी दया करो । मान लो किसी धर्मप्रभावना के जुलूसमे १०० आदमी इकट्ठे है और सभी यह चाहते है कि लोगोपर हमारे धर्मकी खूब छाप पडनी चाहिए, अन्य लोगोपर भी खूब छाप पडनी चाहिए । यह भाव लेकर सभी लोग बडा परिश्रम कर रहे । बताओ इतनेपर भी उन १०० जनोमे से एक भी धर्मात्मा है क्या ? और उन १०० मे यदि दो पुरुष भी ऐसे हो कि जिनको अपने अन्दर प्रकाश हो और यह भावना हो कि धर्मप्रभाव मुझपर पडना चाहिए । यदि ऐसी भीतरमे भावना हो तो वे दो व्यक्ति धर्मात्मा है और सम्भव है कि उनका सत्सग पाकर अन्य लोग भी धर्मात्मा बनें । तो आचार-विचारपर बहुत कुछ निर्भर है । अगर हमारा आचरण हीन है तो हम न खुदके उपकारी है और न दूसरोके, और वह आचरण बनता है ज्ञानपूर्वक । और ज्ञानमे समीचीनता आती है । तो यह बात हुई कि हमे अपनी योग्यतानुसार, अपनी परिस्थितिके अनुसार इन तीनोमे (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे) बढना चाहिए । तो दृष्टिकी बात चल रही है कि हम जैसी दृष्टि बनाते हैं वैसी ही अपनी सृष्टि बनाते जा रहे है । हमे चाहिए आत्मज्ञान, आत्मज्ञानकी तरकीब । हम यदि सत्य ईमानदारीसे अपने कल्याणकी भावनासे चल रहे हैं आत्मज्ञानकी ओर तो निश्चयनय भी आत्मज्ञानके लिए मदद करेगा, व्यवहारनय भी मुझे आत्मज्ञानके लिए मदद करेगा । निश्चयनय तो आत्मज्ञानके लिए मदद करता है, इसमे तो किसीको सन्देह नही हो सकता, क्योकि वह एक साक्षात् उपाय है । मगर जब व्यवहारदृष्टिसे हम अपनेमे यह समझते है कि ये जो सारे विकार, रागद्वेष कषाय विषय आदिक भाव हुए हैं वे कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए है । कर्मोदय ही यहाँ नाच रहा है । उस कर्मोदयकी मेरे आत्मामे झाँकी होती है और वह झाँकी अधेरापूर्ण झाँकी हैं, जिससे मैं अपनेसे च्युत होकर उस सारे अधेरेको अपनाकर और उस रागद्वेषमे उपयुक्त हो गया हू । ये रागद्वेप मेरेमे सदासे तो नही आये, ये तो नैमित्तिक भाव है । ओह ! इस व्यवहार दर्शनने हमारे भीतरकी आँख खोल दी । मैं तो इन सबसे अछूता परमार्थतः एक चैतन्यस्वभाव हू । जो दिल से चाहे आत्माका ज्ञान वह सब नयोके विवरणमे आत्माका ज्ञान पा सकता है । और जो

नही चाहता आत्मज्ञान वह कभी निश्चयके विवादमें और कभी व्यवहारके विवादमे, बस इन विवादोमे, चर्चामे ही रहा करता है, रुचि होना चाहिए। पद्मनन्दी महाराजने बताया है कि इस एकत्वस्वरूपके प्रति जिसकी भावना हुई है, रुचि हुई है वह निश्चयसे भव्य है, जिसकी आत्मतत्त्वकी ओर कुछ दृष्टि हुई है, चर्चा भी करता है, अनुरागपूर्ण वात्सल्यपूर्वक वह पुरुष भव्य है।

ज्ञानका अलौकिक सामर्थ्य—बतला रहे है भैया! यहाँ यह कि ज्ञानका सामर्थ्य अलौकिक है। उस निधिको सभाल लो। बाहर की निधि आपके काम न आयगी। अपनी असली निधिको सभालो और फिर जो इसमे छोटी मोटी गल्तियाँ होगी, याने पुण्यकर्म बंधेगे शुभ राग होगा तो वह तो शुद्धोपयोगके आगे एक गल्ती ही है। शुद्ध ज्ञान करनेके साथ-साथ जो हमारी थोडी मद कषाय, शुभ कषाय, अनुराग, भक्ति, दयाके परिणाम होते है उनका यह प्रताप है कि ऐसा पुण्यबन्ध होता कि ये अलौकिक निधिया बिना चाहे बरषती रहती है। देखो बहुत विशिष्ट पुण्यबन्ध जिस शुभ रागसे होता वह शुभ राग ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके ही मिलेगा। मिथ्यादृष्टिके शुभ रागका इतना तीव्र पुण्यबंध नही हो सकता। तो ऐसा जान करके हमे उस शुभ रागकी ओर आकर्षित होना है या शुद्ध तत्त्वकी ओर आकर्षित होना है, जिसका सम्बन्ध पाकर हमारे शुभरागमे भी ये करामाते मिली हुई है। खुद निर्णय कर लोगे यदि आत्मदया जगी हो तो। एक दृष्टिके बलसे हम अपने अन्दरको पडी हुई गुप्त निधिका दर्शन कर सकते है। जैसे कोई बहुत चतुर खिलाडी लडका फुटबाल अथवा बालीबाल खेलता है तो उसके लिए वह खेल बडा आसान है। वह बालीबालको दोनो हाथोसे मारे, सिरको टेढा करके मारे, आधा मुडकर मारे। उस चतुर खिलाडीके लिए सब आसान है। इसी तरह जो निष्पक्ष ज्ञानी पुरुष है, उसके लिए व्यवहार भी बाधा नही देता, निश्चय भी बाधा नही देता, घरमे रहता हुआ भी वह बाधित नही हो रहा। कितना वह विरक्त पुरुष है? सम्यक्त्वकी अपूर्व महिमा है। भीतरी निवृत्तिकी बात तो देखिये, साधुके पास पीछी कमण्डल आदिक जो कुछ भी पासमे है उससे भी वह विरक्त रहता है। उसे ये चीजें परिस्थितिवश रखनी पड रही हैं। उन सारे परिग्रहोसे वह श्रद्धामे विरक्त है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थको भी परिस्थितिवश इतने आडम्बर रखने पड रहे हैं। अन्तर यह आ जाता है कि गृहस्थके इन आडम्बर परिग्रहो मे रहते हुए ध्यानमे वह सफल नही हो पाता, अतः उसकी यह रटन रहती है कि कब मै इस जजालको छोडूं और निर्ग्रन्थ दिगम्बर होऊँ और आपो आपमे निरन्तर आत्मस्वरूपका ध्यान करू। पर श्रद्धाकी ओर से देखिये वह ज्ञानी गृहस्थ उन समस्त परिग्रहोंसे विरक्त है। यदि एक परमाणु मात्रके प्रति भी किसीको मोह है तो उसके सम्यक्त्व नही है।

मोह और रागमे अन्तरका प्रदर्शन—मोह और रागमे अन्तर है। उस अन्-

समझ लीजिए। कोई रईस पुरुष वीमार हो तो उसके लिए कोमल गद्दे बिछते हैं, दो नौकर और बढा दिए जाते है, कमरा भी खूब साफ सुगंधित रहता है, डाक्टर भी समय-समयपर आता है, दवा भी समय-समयपर दी जाती है। बताइये उस रईस रोगीको उन सब चीजोमे राग है कि नही ? है। अगर गद्दा कोमल न हो तो वह झुझला जायगा, पर उस गद्देसे उसे मोह है क्या ? अगर उसे उस गद्देसे मोह होता तो वह यह सोचता कि अहा ! मुझे तो ऐसा गद्दा जिन्दगीभर मिलता रहो। दवा अगर समयपर न मिले तो वह झुझला जाता है। तो देखिये—उसे उस दवामे राग है, पर उसे मोह नही है। अगर उसे उस दवामे मोह होता तो वह यही चाहता कि मुझे ऐसी दवा जीवनभर मिलती रहे, पर वह दवा जीवन भर लेना तो नही चाहता। अरे उसका वह दवा लेना तो दवा छोडनेके लिए है। उसके मनमे यह बात बसी रहा करती है कि कब यह दवा लेना बन्द हो, कब इस अस्पतालसे छुट्टी मिले, कब मै स्वस्थ होकर दो चार मील रोज पैदल चलूँ। तो उस रोगी सेठको वहाँ किसी चीजमे मोह नही रहता, हाँ राग रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको इन बाह्य पदार्थोमे राग तो रहता है, क्योकि उसके भीतरमे ज्ञानज्योति जगी है। पर उसको उन बाह्यपदार्थोमे मोह नही रहता और अधिक बात न सोचो, इतना सोच लो कि मरते समय मैं अच्छे भावोमे करूँ शान्तिसे मरूँ, समतासे मरूँ, ऐसा तो सोचना चाहिए ना। अब रह रहे हैं, विह्वल हो रहे हैं, सबकी यह रुचि है कि नही कि मरते समय मैं विह्वल न होऊँ, हाय-हाय न करू। अगर शान्ति समतासे मरण होगा तो अगला भव भी प्रायः शान्ति समतासे गुजर जायगा। जिस भवकी उत्पत्तिको आदि शान्ति समतामे गुजरी वह सब भव प्रायः शान्तिमे गुजरेगा। तो मरण समयके भावोका इतना अधिक महत्त्व है और यदि विह्वल होकर, घबडाकर गुजरे तो उस भवकी आदि घबडाहटसे शुरू हुई तो वह सारा अगला भव भी प्राय. घबडाहटमे जायगा। तो शान्ति समतासे यदि मरण करना है तो उसका इलाज यह है कि जीवनके जितने क्षण बाकी बचे हैं उनमे शान्ति समता बनायी जाय। इस विश्वासमे न रहना कि अरे मरण समयमे दो तीन पडित बुला लेंगे तब शान्ति समतासे रहना हो जायगा। अरे जिन्दगी भर यदि विसमतासे रहे, घबडाहटसे रहे तो अन्तमे कहाँसे एकदम वह शान्ति समताकी बात मिल पायगी ? हाँ आश्रय तो बन जायेंगे, मगर करना तो आपको ही पडेगा। तो उस बात को अभीसे क्यो न सीखा जाय ? रहा सहा जीवन हमारा ढगसे व्यतीत हो, मोह ममतामे न जाय, गृहस्थीमे रहकर कदाचित राग करना पडे तो उसका भी खेद माने। रागके बिना गृहस्थीमे गुजारा तो न चलेगा, पर मोहके बिना तो गृहस्थीमे गुजारा चल सकता है। लोगो को यह सोचना भूलभरी बात है कि गृहस्थीमे रहे और मोह न करें, यह हो नही सकता। अरे हो सकता है। गृहस्थीमे आप रहे और मोह न करें यह बात हो सकती है। हाँ यह

बात नही हो सकती कि गृहस्थीमे आप रहे और राग न करें। अन्यथा आप वहाँ रह नही सकते।

ज्ञानमे निर्मोहताका व अज्ञानसे मुग्धताका अविनाभाव—जिसको अन्यत्वका ज्ञान है, जैसे कि अन्यत्वभावनामे बताया है कि सब जीव जुदे-जुदे हैं, सभी अपने-अपने कर्म लिए हुए है, सभी अपने-अपने उदयसे सुख दुःख भोगते है। कोई किसीका सुख दुःख बाँट नही सकता, यह सब उसके कर्मके निमित्तसे चल रहा है और फिर मेरा किसीसे वास्ता क्या ? सभी जीव मेरेसे बिल्कुल भिन्न है। कोई जीव किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे आया। ऐसा अगर बोध है तो देख लीजिए, अगर आपके ठीक ऐसा बोध बना हुआ है तो मोह नही है। जो कुछ करना पड रहा है वह सब रागमे करना पड रहा है। रागमे भी इतनी-इतनी बडी बाते कर ली जाती है कि दुनियाको यह लगेगा कि यह तो तीव्र मोही है। रागका भी बहुत बडा पसारा है, और कहो बाहरसे राग न दिखे। एक दूसरेकी उपेक्षा किए हुए रहते हो, पर क्या वहाँ कह सकते कि इनको राग नही है। कोई लोग ऐसे है कि आपसमे भाई-भाईमे बडी अनबन रहती है, यहाँ तक कि एक भाईको अगर कुछ तकलीफ हो तो दूसरे भाईको कुछ भी दर्द नही होता, पर क्या वहाँ यह कह सकते कि वह भाई निर्मोही है ? नही कह सकते। अरे मोहका होना अज्ञानसे अविनाभावी है, और निर्मोहका होना ज्ञानके साथ है। अगर पदार्थोंका अन्य-पनेका बोध है, प्रत्येक पदार्थ जुदा-जुदा है, कुछ नही है, घरमे पुत्र बीमार है, इलाज करेगे, राग करेंगे, इतनेपर भी भीतरमे घबडायें नही। क्या होगा ? ज्यादासे ज्यादा उसका मरण हो जायगा। मरण हो जानेपर इतना तो वह पहिलेसे ही जान रहा कि जिन-जिन पदार्थोंका सयोग होता है उनका वियोग नियमसे होगा।

अब यहाँ हम आप अगर यह चाहे कि हमारा मोहका काम भी बराबर बना रहे और धर्मका काम भी बराबर बना रहे तो ये दो बाते कैसे हो सकती है ? मोह छोडना धर्मकी पहिला कदम है। धर्मकी बात आत्माके भावोसे सम्बधित है। अगर आत्मामे ज्ञानज्योति जगी है और यह बात समाई है कि मेरे आत्माके सिवाय अन्य कुछ नही है तो उसके मोह नही है। अब यह तो परिस्थिति है, मनुष्य हैं, पेट साथ लगा है, भूख लगती है, खाना पडेगा, उसके लिए धन कमाना होगा और ऐसी स्थितिमे कुछ लोगोसे व्यवहार भी रखना होगा। यह सब परिस्थितिवश करना पडता है उस ज्ञानीको। उस ज्ञानीका हृदय नही कहता कि मैं राग करूँ। वह तो उन सब कार्योंको करता हुआ भी उनसे विरक्त रहता है। उसमे ज्ञानी गृहस्थमे इतनी पात्रता है कि जब जितना भी वह प्रयास करता है वह अपने आत्मतत्त्वको एकदम नजरमे लिए रहता है, क्योकि व्यवहारमे इतना प्रतिकूल नही फस पाया। उसमे पात्रता है, कथनका प्रयोजन यही है कि मोह हटना चाहिए, अज्ञान हटना चाहिए। जो कुछ

मिला है वे सब पदार्थ मेरे लिए असार है। मेरा साथी मेरा ही ज्ञान है। मरण होनेपर यह ज्ञान ही मेरे साथ जायगा, यहाँकी अन्य कोई चीज साथ न जायगी। तो पहिली बात यह कीजिए कि अपना ऐसा ज्ञान बने, ऐसा विश्वास बने कि यहाँके समस्त समागम मेरे लिए सारहीन है, यह निर्णयमे आ जाना चाहिए, और मेरे आत्माके लिए कितनी बात सारभूत है इसका निर्णय करें। हम तो कहते कि एक बार आचार्यदेवकी बातपर ही विश्वास न करके अपने आपकी ही बुद्धिसे ऐसा निर्णय कर लीजिए कि यहाँके समस्त समागम सारहीन हैं और उन सबकी कुञ्जी इतनी है कि मरनेपर सब चीजे छूट जाती है तब प्रकट सारहीन इनकी दृष्टि मे आ जाता है। जब यह समझमे आ जायगा कि सब कुछ सारहीन है तो भीतरमे मेरा ज्ञान-विकास बनना सहज हो जायगा, सुगम हो जायगा।

परिणामदृष्टिकी दिशा—ससारमे जितने भी पदार्थ हैं वे सब प्रतिक्षण अपना उत्पाद व्यय ध्रौव्य करते ही है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके इस सूत्रसे प्रकट है कि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। जो भी पदार्थ है वह परिणमे बिना न रहेगा। उसका प्रति समय परिणमन होता रहता है। तो हम आप भी सत् हैं। हम आप भी प्रतिसमय अपने ज्ञानका परिणमन कर रहे हैं। अब देख लीजिए, ज्ञानके परिणमनकी विधिपर ही हमारा सारा भविष्य निर्भर है। अब खोटे भावोका परिणमन करें तो हमारा भविष्य खोटा होगा और हम शुद्ध भावोसे परिण-मन करेंगे तो हमारा भविष्य अच्छा होगा। तो हम अपना परिणमन कर पाते हैं, निरन्तर कर रहे हैं, तो हमे अपने आपको समझना चाहिए और अपनेको निरखना चाहिए। ऐसा हमारा ज्ञानपरिणमन होगा तो हमारा मोक्षमार्ग मिल जायगा और हम घर गृहस्थी मोह जजाल इनमे ही दृष्टि बनाये रहेगे तो हमारा परिणमन भला नही है, यह निश्चित बात है। अब यहाँ कर्तव्य यह है कि हम अपने आत्माकी उपासना करें, प्रभुकी उपासना करें। प्रभुकी उपासनामे भी आत्माकी उपासना है, क्योकि वहाँ और क्या विचारते है आप ? यह अनन्त-ज्ञान अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, आनन्दशक्तिसे युक्त है। यही तो सोचना है। वह आत्माका ही स्वरूप है। तो अपने आपका स्वरूप विचारकर प्रभुस्वरूप भी विचारना, यह सब आत्म-स्वरूपका ही ज्ञान है। जब इस तरह चिन्तन किया जाय कि मैं इस आत्माको जानता हू, आत्माको मानता हू, आत्मामे अनुचरण करता हू, इस तरह भेद उपासना करके जब निरखा जाय तो इसे कहते है भेदोपासना दृष्टिसे आत्माको निरखना।

अभेदोपासनादृष्टिमे भावगति—जहाँ आत्मा इस तरह निरखा जाय कि साध्यसाधन का भेद न करे, किन्तु उसकी उपासनाका आनन्द लूटते रहे, ऐसी दृष्टिको कहते हैं अभेदोपा-सना दृष्टि। जैसे जब आप भोजन करते है, मानो हलुवा खा रहे है और जब उसकी चर्चा करते हुए स्वाद लिया जा रहा है—इसमे घी अच्छा पडा, इसमे आटा अच्छा रहा, इसमे

मीठा भी उचित पडा, खूब पक गया, इस प्रकारकी चर्चा करते हुए जब उस हलुवेको खा रहे तो आप वहाँ भेद डालकर उसका आनन्द ले रहे, यह उसकी भेदोपासना हुई। और जब आप किन्ही बातोपर ध्यान न देते हुए एकचित्त होकर खा रहे हो और उसका आनन्द ले रहे हो तो यह उसकी अभेदोपासना हुई। ऐसे ही आत्माका यह ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, गुण है, इस प्रकारकी जब दृष्टि रखते हैं तो यह भेदोपासना है और एक दृष्टिमे समग्र चैतन्यस्वभाव दृष्टिमे लिया तो वह अभेदोपासना कहलाती है।

स्वभावविवरणदृष्टिका व परमशुद्धनिश्चयदृष्टिका प्रभाव—स्वभावविवरणदृष्टिमे जब आत्मा है तो आत्माके स्वभावका व्योरा लिया जाता है। मेरा स्वभाव ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है और मेरा जो कुछ सहज परिणमन है बिना दूसरे पदार्थकी अपेक्षा लिए, बिना अपने आप जो मेरेमे परिणमन हो वह मेरा स्वभावपरिणमन है। स्वभावको निरख करके जब यह ज्ञानी अपनेमे आत्मीय आनन्द लेता है तो वह स्वभावका आलम्बन करके उस माध्यमसे वह अनुभव कर रहा है। इस चीजका विवरण करके निरखना स्वभावविवरणदृष्टि है। एक प्रकृत बातमे थोडासा ३-४ मिनट समय लगेगा। कठिन पडे तो रहने दे, पर जानना आवश्यक है, फिर सरल हो जायगा। आत्माके परखनेकी ४ दृष्टियाँ होती है—१–व्यवहारनय, २–अशुद्ध निश्चयनय, ३–शुद्धनिश्चयनय, ४–परमशुद्ध निश्चयनय। व्यवहारमे परखा जाता है कि जीव कर्मसहित है, कर्मबद्ध है, कषायें लगी है, यह सब निमित्तनैमित्तिक कथन व्यवहारदृष्टि है। यह कथन असत्य नही है, मगर उसमे दूसरेका सम्बंध लगा, इसलिए व्यवहार कहते हैं। जैसे आगपर कोई पानी भरी बटलोही रख दी और वह पानी गर्म हो गया, तो पानी कैसे गर्म हुआ? आपका निमित्त पाकर गर्म हुआ, यह कथन व्यवहारकथन है। क्या यह कथन असत्य है? अरे सत्य है। यह सब देखते ही है, पर जहाँ दूसरेकी अपेक्षा ली जाय उस कथनका नाम व्यवहारकथन है। अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमे आत्माको अशुद्ध देखा जाता है। यह रागी है, द्वेषी है, मोही है, पर जहाँ कर्मके निमित्तकी बात लगाई गई तो वह व्यवहार है और कर्मके निमित्तकी बात नही निरख रहे तो वह अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि है। उस आत्माको जब शुद्ध पर्यायमे देख रहे—भगवानकेवली अनन्तज्ञानी, अनन्तदृष्टा हैं तो वह शुद्ध निश्चयनय है। जब यह बात साथमे लगा रहे है कि कर्मके क्षयसे भगवान सिद्ध हुए हैं तो यह व्यवहारदर्शनका कथन होगा। यह असत्य कथन नही है। लेकिन दूसरेका नाम सम्बंध लेकर कथन किया गया है। अब आप परमशुद्ध निश्चयका कथन देखें, आत्माके ऐसे निरपेक्ष स्वभावको देखना कि जहाँ पर्यायका, भेदका कोई दर्शन नही किया जा रहा है। एक दृष्टिमे परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव लिया जा रहा है उसे कहते है परमशुद्धनिश्चयदृष्टि। इसमे जो विषय आता है उसका आलम्बन योगी जन करके जंगलमे रहकर भी अहर्निश तृप्त रहा करते है। तो दृष्टियोंके

आत्माका किस तरह दर्शन होता है यह प्रकरण चल रहा है।

नित्यभावनादृष्टिका प्रभाव—अब चलो— हम आप लोग अनित्य अशरण आदिक भावनाओंसे अपने वैराग्य और ज्ञानकी पूर्ति करें। अनित्यभावनामें क्या कहते है ? राजा राणा छत्रपति, चेतन अचेतन आदि समस्त पर्यायें वे सब विनाशीक है। यह मैं भी मरूँगा, इस भवका भी अन्त होगा, इस तरह अनित्यभावनामें देखते है, पर एक बडे विचारकी बात है कि जब अनित्यभावनाका चिन्तन करें तब यह बात कभी न भूले कि पर्यायदृष्टिसे ही आत्मा अनित्य है, द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें बताया है कि पर्यायदृष्टिसे यह आत्मा मरता है, पर द्रव्यदृष्टिसे यह आत्मा वहीका वही है। तो जब अनित्यभावनाका विचार करें तो जहाँ यह सोच लेते है कि ये सब मरने वाले है, यह मैं भी मरूँगा, उसके साथ यह भी विचार करें कि इसमे रहने वाला जो आत्मद्रव्य है वह नष्ट नही होता। वह अमर है, सदा रहने वाला है, इसे कहते है नित्यभावनादृष्टि। यदि किसीको यह ज्ञान न हो कि मैं आत्मा द्रव्यरूपसे सदाकाल अवस्थित रहता हू तो वह तो अनित्यकी बातें सोच-सोचकर घबडायेगा। वह सन्तोष नही पा सकता, यह मरेगा, वह मरेगा, ये सब मरेंगे, मैं मरूँगा, सभी लोग नष्ट होगे, इस प्रकार सबका मरण ही मरण देखें तो वहाँ घबडाहटके सिवाय और क्या पायगा ? बात सत्य है। ये सब विनाशीक है, लेकिन ये सब पर्यायरूपसे ही विनाशीक हैं, द्रव्यरूपसे तो अविनाशी है। इस भावनाके साथ अन्तर्दृष्टिका जोडा लगाना चाहिए। जहाँ अनित्यकी बात दिख रही है वहाँ नित्यकी भी श्रद्धा कर लें। मैं आत्मा नित्य हू, सदाकाल रहता हू। यदि ऐसा हो जाता कि पर्यायके मरनेसे मैं भी मर जाता, मैं भी अनित्य हो जाता तब तो सारा झगडा छूट जाता। काहेका जन्म होता, आगे क्यो जाता ? फिर तो मोक्षमार्ग की जरूरत ही क्या थी ? ऐसा तो लौकिक जन मानते हैं कि यह शरीर है, यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे मिलकर बना। चार्वाक सिद्धान्त है यह। वे कहते है कि जीव अलगसे कोई चीज नही है, बस चार चीजें मिल गईं कि जीव बन गया, ये ही चारो चीजें बिखर गईं तो जीव मर गया। यो जीवका अस्तित्व वे नही मानते। तो यों ही वे अनित्यभावना इन दोनो नयोंसे समझ बैठे। अरे मैं मर जाऊँगा तो बहुत अच्छी बात है, जीना तो दुःखकी चीज है। मेरा जीवन ही छूट जाय, जन्ममरण ही मेरा खतम हो जाय, यह तो मेरे लिए भली बात है। मेरा भविष्य आगे कैसा होगा, यह मेरे वर्तमान परिणामोंपर निर्भर है। द्रव्यदृष्टिसे मैं नित्य हू, सदाकाल रहता हू, और फिर भी गहरी दृष्टि बनायें, तो मेरा जो सत्त्व है अपने उस सत्त्वके कारण मेरेमे जो सहज भाव है वह सहज है, परिणमन बिना नही रहता, ऐसी उसकी परिस्थितियाँ बदल गई है। मगर वह मैं एक हू। देखो—जैसे आपसे कहा जाय कि आप हम को एक मनुष्य ले आवो। मानो आप किसी बच्चेको ले आये तो हम कहेंगे—अरे, तुम

तो बच्चेको ले आये, हम तो कहते कि मनुष्य लाना। बच्चेको अलग करो। आप जवानको लाये, अरे, तुम तो जवानको ले आये, हमने तो मनुष्यके लिए कहा था। आप बूढेको ले आये, अरे, तुम तो बूढा ले आये, हमने तो मनुष्यके लिए कहा था। तो बालक, जवान, बूढा आदिक अवस्थाओके अतिरिक्त मनुष्य आप कहाँसे लायेंगे? तो मनुष्य किसी न किसी पर्यायमे रहेगा, मगर ज्ञानके द्वारा यह समझना होगा कि मनुष्य वह एक है जो बचपनमे भी था, वही जवानीमे रहा, वही बुढापेमे रहेगा। तो मनुष्यपना एक है, वह नही बदला। बचपन बदल गया, जवानी बदल गई, मगर मनुष्यपना नही बदला। इसी तरह आत्माकी बात है। यह आत्मा कहाँ मरेगा? कभी नरकगतिमे गया, कभी तिर्यञ्च हुआ, कभी मनुष्य हुआ, कभी देव हुआ अथवा कभी सिद्ध हो जाय। मार्गणाओमे आप पढते ही है—गति ४ है, गतिमार्गणा ५ है अर्थात् जीव मरेगा तो इन ५ स्थितियोमे रहेगा। किसी भी स्थितिमे हो, वहाँ यह देखना है कि भले ही कोई जीव क्रमशः उन स्थितियोमे से गुजरकर सिद्ध हो गया, मगर जीवसामान्य उसमे वह एक है। द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो वह नही बदला। वह वही है, उसकी परिणतियाँ बदलती है। तो यहाँ उस स्वरूपको निगाहमे रखकर सोचता है कि यह मैं नित्य हू।

नित्यभावनादृष्टिके निर्णय—नित्य भावनाकी दृष्टिमे क्या निगाह आती है कि मैं नित्य हू, अमर हू, अविनाशी हू। अब शरीरपर दृष्टि रखे रहे और उसीको मानें कि यह मैं हू और कहे कि मैं नित्य हू तो यह उसकी झूठी बात है। शरीरसे निराला ज्ञानमात्र ज्ञानपुञ्ज जो आत्मा है वह नित्य है, वह अमर है, वह अविनाशी है। बाहरी सेठ, वीर, सुभट आदिक कोई भी हो, इनको मरण तो करना ही पडेगा। धन वैभव आदिकके भी स्कध है, ये तो सब छोड ही जाना है, नष्ट हो जाना है। इन अनित्य चीजोसे प्रीति न करिये क्योकि जो नित्य रहता है यह मैं, जो ज्ञानस्वभावी आत्मद्रव्य है वह ही प्रीतिके लायक है। अनुराग करें, मगर कहाँ करें? उसपर करें जो हमारे पास रह सके। जो आज है, कल न रहेगा, उसका अनुराग करनेका फल तो क्लेश ही कहा है। जो हमारे पास सदाकाल रहे, कभी बिछुडे नही उससे प्रीति लगावे, उसकी शरण गहो, उसका अनुराग बनाओ। ये जो बाहरी पदार्थोके समागम हैं, जो अध्रुव है, मिटने वाले है उनसे प्रीति न करें। जैसे कोई एक रास्तागीर सडकपरसे जा रहा है और बहुतसे पेडोकी छाया मिलती जाती है, मगर वह रास्तागीर क्या किसी छायादार पेडको पकडकर रह जाता है? वह यह थोडे ही सोचता कि यह पेड हमारा बडा उपकारी है, मैं इसे कभी छोडूंगा नही। ऐसा तो कोई रास्तागीर नही करता। भले ही उसको छाया मिलती जा रही है, मगर मिली और छोडा। छाया भी देखता जाता है, जानता जाता है, चलता जाता है। इसी तरह जितने ये सग सगम हैं ये छायाकी—

तरह है। तो इस छायामे चलना होगा। छायाको जान ले, छायाके समय तक कुछ अनुराग कर लें, पर छायाको पकडकर न रह जायें। नही तो यात्रा खराब हो जायगी। तो अनित्य भावना भाते है, उसका कुछ निष्कर्ष भी तो जानना चाहिए। ये सब अनित्य हैं, इनसे प्रीति न करना, अनुराग न करना, इनमे मुग्ध न होना। पहिले अपनी जिन्दगीमे देख लो—जिन-जिन का आपके प्रति प्यार बना था या जिन जिनके प्रति आपका प्यार था, क्या वे सब अब तक रहे ? अरे वे सब आपसे बिछुडते गए। यह तो ससार की रीति ही है। एक बार वृक्षसे टूटता हुआ पत्ता बोलता है कि ऐ वृक्षराज—सुनो—"पत्ता बोला वृक्षसे, कहो वृक्ष वनराय। अबके बिछुडे कब मिलें, दूर पडेंगे जाय ।।" अर्थात् हे वृक्षराज ! हम आपसे बिछुड रहे हैं, अब हमारा आपसे मिलन न जाने कब होगा, क्योकि अब तो हम तुमसे अलग होकर बहुत दूर जा रहे है। तो उसका उत्तर सुनो—"वृक्षराज तब यो कह्यो, सुन पत्ते मम बात। या घर याही रीत है इक आवत इक जात ।।" अर्थात् हे पत्ते, यह तो इस ससारकी रीति ही है कि एक आता है और एक जाता है। तुम जा रहे हो तो नवीन पत्ते आवेंगे, फिर वे भी जावेंगे, फिर नवीन पत्ते आवेंगे। तो ऐसे ही समझिये कि हम आप सभी रास्तागीर हैं। कोई किसी गतिसे आया है, कोई किसी गतिसे। एक दिन ये सब अपनी-अपनी करनीके अनुसार अपनी अपनी गतिमे चले जायेंगे। अरे इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे इतनासा परिचित हिस्सा कितना बडा है ? जिसमें असख्याते द्वीप समुद्र समाये हुए हैं, फिर भी पूरा नही है। और वे द्वीप समुद्र इतने बडे है कि बीचमे एक तरफ एक लाख योजनका जम्बूद्वीप है, उससे दूना समुद्र, उससे दूना द्वीप, उससे दूना समुद्र, यो दूने दूने बढते जा रहे है, यो असख्याते द्वीप समुद्र है, फिर भी वह सब एक राजू नही हो सकता। फिर एक घनराजू तो उससे भी कई गुना है। फिर ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे इस थोडेसे परिचित क्षेत्रमे थोडे दिनोंके लिए मिले हुए झमेलोसे क्या प्रीति करना ? यह तो उस तरहसे समझिये कि जैसे बहुत दूरसे यात्रा करने वाले मुसाफिर किसी एक स्थानपर आ जाते हैं और किसी चौहट्टेपर उनका मिलन हो जाता है, एक दूसरेसे राम राम कर लेते है या बीडी तम्बाकू आदि पी लेते है, बस चल देते है। कोई कहीं चला गया कोई कहो। ठीक इसी तरहसे यहांपर कुछ दिनोके लिए जो समागम हो गया है वह भी शीघ्र ही विघट जायगा, कोई किसी गतिमे चला जायगा, कोई किसी गतिमे।

भ्रम छोड़कर विवेकके प्रकाशमे आनेसे ही श्रेयोलाभकी सभवता—देखो भैया ! यह समागम भी कितने दिनोका ? कोई १००–५० वर्षका। अरे इतने बडे कालके सामने ये १००–५० वर्ष कुछ गिनती भी रखते है क्या ? तो यहांके, इन अनित्य समागमोसे प्रीति करनेमे लाभ कुछ न मिलेगा। इनसे प्रीति करनेकी हठ छोडें, नही तो उसके फलमे दुख

भोगने कोई दूसरा न आयगा। इस जगह एक कथानक है कि कोई एक किसान हल चला रहा था। उसे हल चलाते हुएमें किसी जहरीले सर्पने काट लिया। उसके विषके प्रभावसे वह अटपट क्रियायें करने लगा। उसने एक बैलको पीटना शुरू कर दिया और यह कहता जाय कि तूने मेरे पैर पर लात क्यों रखी ? उसका पीटना जारी था। इतनेमे कोई एक समझदार व्यक्ति निकला और बोला—भाई इस बैलको पीटनेसे तुम्हे क्या लाभ मिलेगा ? अगर यह बैल ही मर गया तो फिर तुम खेती कैसे कर सकोगे ? उसकी समझमे आ गया और वह निर्विष हो गया। तो मतलब यह है कि कैसी भी हठ कीजिए प्रीतिकी अथवा द्वेष की, उसमे खुदको परेशान ही होना पडेगा। दूसरे किसी को परेशान न होना पडेगा। देखिये चीज जहाँकी तहाँ है, पुत्र पुत्रकी जगह है, स्त्री स्त्रीकी जगह है, घर घरकी जगह है, आपका शरीर शरीरकी जगह है, आपका आत्मा आत्माके प्रदेशमे है, किसीसे कुछ मिलेगा नही आप को। केवल एक भाव बिगाडकर अपने आपको परेशान और कर्मबन्ध करना, बस यह ही मात्र बिगाड है। सो सर्वको अनित्य समझकर अपनेमें यह शिक्षा लेना कि अनित्य चीजोसे प्रीति करना केवल क्लेशके लिए ही है। मै यहाँ आया हू मनुष्य भवमे, उत्तम साधन मिले हैं, तो इन साधनोका उपयोग मैं इस रूपमे करूँ कि मेरे आत्माके स्वरूपका विकास हो। हम प्रभुभक्ति करते है तो यह भी ध्यान रखना है कि हमे ऐसा श्रद्धान करना है, कि जिस मार्गसे चलकर हम प्रभु हो। प्रभुता पानी है, आत्माका परमात्मत्व प्रकट करना है। यह बात इस जीवनमे करनेकी है। बाकी और बाते सब मेरे लिए नही पडी है। वे करनी पडती है। पर मेरे करने योग्य कार्य तो आत्मोद्धारका है। नीतिकारने कहा है कि—"कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार। एक जीवकी जीविका दूजी जीव उद्धार ॥" जीविका बिना काम न चलेगा यह बात तो झट समझमे आ जाती है, पर आत्मोद्धारके बिना काम न चलेगा यह बात देरमे समझमे आयगी। एक बात और सोच लो कि एक भवकी जीविका अगर बिगड जाय तो कुछ नही बिगडा, मगर आत्माको बात बिगड जाय तो सब बिगाड है। एक भवमे गरीबीमे रह लिए, दरिद्र बनकर रह लिए, कोई पूछताछ न करे, इस तरह रह लिए। पेट तो सभीका भरता है, क्या बिगाड ? ज्ञान रहा तो इसमे आत्माकी सेवा ही बनेगी और यदि सर्व कुछ सम्पदा भी मिली, चक्री भी बन जायें और आत्माके विरोधी रहे तो उसका सब बिगड गया। तो इन दो कलाओमे भी सरदार है आत्मोद्धारका काम। तो इन अनित्य पदार्थोको निरख कर इनसे प्रीति न करें और इन पाये हुए समागमोका उपयोग उद्धारके लिए करें। तो हमे अनित्यभावना सोचकर नित्यभावना की दृष्टि बनाकर अपनेमे कल्याणकी बात करना है।

शरणभावनादृष्टिका प्रभाव—जैसे नित्यभावनाके साथ अनित्यका बोध रखना चाहि

इसी तरह अशरणभावनाके साथ शरणका भी बोध रखना चाहिए। जब हम विचारते है कि दल, बल, देवी, देवता, माता-पिता परिवार, ये कोई मेरे लिए शरण नही हैं तो ठीक है। विचारते जावो ऐसा, मगर अशरण अशरण ही विचारते रहनेसे तो एक घबडाहट ही बढेगी। तो अशरणभावनाके साथ-साथ अपने शरणकी भी भावना करें। किसी भी वाह्य-पदार्थको अपना शरण न समझें, किन्तु अपने आपका जो परमात्मदेव आत्मतत्त्व है उसकी शरण समझें। मै अगर इस भावमे रहू कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व वैभव है, ज्ञानमे ही तृप्त रहू, ज्ञानस्वभावको ही निरखूँ और ऐसी दृष्टि रहते हुए यदि मरण हो जाय तो भी अपना शरण अपने साथ लिए जा रहे हैं। आगे भी शरण रहेगा। और मरते समय केवल यह देखें कि मेरे लिए कोई शरण नही हो रहे, कोई कुछ नही कर पा रहा, यह सब वेकार है। तो बात यद्यपि सत्य है लेकिन इतनी ही इतनी बात तक रहनेमे आत्माको भलाईकी बात नही मिल सकती। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि मेरा शरण मेरा आत्मदेव है। मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप इसकी दृष्टि जगे, वह जिस प्रकार भी जाग सके। प्रभुभक्ति करके जगाओ, आत्मभक्ति करके जगाओ, चिन्तन द्वारा जगाओ, जिस प्रकार जग सके उसे अपना आत्मा शरण है। इस प्रकारकी भावना बने उसे कहते है शरणभावना दृष्टि। तो शरणभावना दृष्टिमे यह सोचना चाहिए कि जितने क्षण मेरे विकल्पमे जा रहे है, मोह, रागद्वेष, चिन्ता, परपदार्थोंके ख्याल आदिमे जा रहे है वे सब व्यर्थ जा रहे हैं, और जितने क्षण प्रभुस्वरूपके चिन्तनमे याने ज्ञानस्वरूपके चिन्तनमे, निज आत्मतत्त्वके चिन्तनमे व्यतीत हो रहे है उतने क्षण हमारे सफल है। इस मनुष्यभवमे आकर एक बहुत बडी जिम्मे-दारी हमारी हो जाती है। सबसे श्रेष्ठ भव है मनुष्यभव। जैसे किसी देशकी जिम्मेदारी प्रधान-मत्री या राष्ट्रपतिपर है, ऐसे ही इस मनुष्यभवको पाकर हम आपकी भी बडी जिम्मेदारी है। अगर यहाँ अपनी कुछ जिम्मेदारी न समझी, स्वच्छन्दतासे रहे तो न जाने क्या हाल होगा? अगर यहाँ रहकर सम्यग्ज्ञानकी जागृति की तो आगे भी सारे समागम अच्छे मिलेंगे और यदि बाह्य पदार्थोंके लगावमे ही रहे, उनकी प्रीतिमे ही रहे, धार्मिकताका, स्वाध्यायका, पूजा पाठ आदिके धार्मिक वातावरणको न बनाया तो फिर जीवन तो एक फीकासा लगेगा। जैसे कोई धन खूब इकट्ठा करे और लडका लडकीकी शादीमे धन भी खूब खर्च करे, पर उन प्रसगोंमे कोई धार्मिक प्रोग्राम न रखे जायें—जैसे मन्दिरोमें जाना, दर्शन करना, कुछ नेगाचारके दस्तूर करना आदि, केवल शादी ही कर दो जाय, तो फिर वह शादीका प्रोग्राम भी बिल्कुल फीका सा लगेगा, ठीक इसी प्रकार यदि अपने इस जीवनमे केवल धनार्जन करने, स्त्री पुत्रादिकके पालन-पोषण करने या पञ्चेन्द्रियके विषयोका सेवन करनेमे ही अपना जीवन बिताया जाय, बीच-बीचमे सत्सगति, स्वाध्याय, धर्मध्यान, तत्त्वचिन्तन, मनन, पूजा पाठ आदिके प्रोग्राम न

रखे जायें तो वह जीवन तो बिल्कुल फीकासा लगेगा। अरे कितने ही कष्ट आ रहे हो, धर्मके प्रसंगमे रहने वालेको वे कष्ट एक बार भूल जाते है। जैसे जब आप बडे लयतानके साथ प्रभु के आगे गानतान नृत्य देख रहे है, बडे ध्यानसे उन गीतोको सुन रहे है उस समय कितनी उत्कृष्ट भक्ति उमडती है ? उस समय तो समवशरणका सारा नक्शा आपके सामने आ जाता है। मानो अरहत प्रभु गधकुटीमे विराजमान है, चारो ओरसे देव देवियाँ गान तान करते हुए प्रभुके चरणोमे चले आ रहे है। जब यह दृष्य मनमे आता है और उन गीतोकी लडियाँ जब कानोमे सुनाई देती है तो उस समयका आनन्द देख लीजिए और मानो किसी पार्टीमे हस खेलकर खाने पीने व मित्रोसे मिलनेका जो आनन्द है, उसे देख लीजिए। बताइये उन दोनो प्रकारके आनन्दोमे कुछ फर्क है कि नही ? अरे प्रभुभक्तिका आनन्द तो एक अद्भुत आनन्द है। प्रभुभक्तिका आनन्द आत्मोद्धारके लिए है और यहाँका यह लौकिक आनन्द (कल्पित मौज) तो एक रूखा सूखा आनन्द है। इन सासारिक सुखोंके बीच रहकर तो ऐसा लगता है कि मानो हमारा कुछ खोया सा जा रहा है और प्रभुभक्तिके आनन्दमे ऐसा लगता है कि मानो कोई अनुपम निधि मिली हो। तो इस दुर्लभ मानव जीवनको पाकर इसका सुन्दर उपयोग कर लें। इसका सुन्दर उपयोग यही है कि आत्माका ज्ञान करें, परमात्मस्वरूप का बोध करें, इस ओर ही अपनी भक्ति रखें, इसीसे अपने आत्माका निस्तारा है।

उपयोगके रमनेके दो धाम—बसनेके, रमनेके दो ही तो स्थान है—१–अन्दर, २–बाहर। अन्दरमे क्या रचना है और बाहरमे क्या रचना है ? इसका जो ज्ञान कर लेता है वह ससारके सकटोसे छूट जाता है। बाहरकी रचनाको अन्दरकी मानें, अन्दरकी रचनाका कुछ पता ही हो तो वह जीव मोही है और ससारमे जन्ममरणके चक्र उठाते है। बाहर क्या है ? यह सब दिखने वाला ससार। अनेक जीव दिखते हैं, अनेक पशु-पक्षी दिखते है, किन्तु आत्मा तो नही दिखता, पर यह अपना देह दिखता है तो यह सब दिखने वाला जो जगजाल है इसका नाम ससार है। तो बाहरमे लो यह सब जगजाल दिख रहा है, यह सब असार है। इसमे कही रचमात्र भी सार नही है, और इससे भिन्न अचेतन पदार्थ है धन वैभव आदिक, इनमे तो कुछ सार है ही नही। ये तो अचेतन है और जो अचेतन है घरमे रहने वाले पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक वे सब अपना-अपना परिणाम लिए हैं, अपने कर्म लिए है, अपना स्वार्थ लिए है, इसलिए वे मेरे लिए कोई सारभूत नही है। अब अपने देहको भी देखें तो यह भी असार है। इसमें हाड, माँस, चमडा, लहू आदिक अपवित्र पदार्थ हैं, मर मिटने वाले है, और सच पूछो तो समस्त दुःखोका कारण यह शरीर है। आत्मामें इतना महान ज्ञान है कि वह चारो ओरसे सब कुछ जान ले, इसपर शरीरका एक पर्दा ऐसा पड गया कि जिसकी वजहसे हम इन खिडकियोसे जान पाते है। आँखोंसे जाने, कानोसे जानें, नाकसे जाने, मुँहसे जानें

स्पर्शनसे जानें, तो यह भी पराधीनताकी स्थिति है, लेकिन उसकी ओर ध्यान न देकर यह ध्यानमे लाना चाहिए कि मेरेमे वह ज्ञानप्रकाश है जिस ज्ञानप्रकाशकी मैं उपासना करूँ तो सारे विश्वको जान जायें। बडे-बडे तीर्थंकर आदिक जितने जो कुछ हुए है उन्होंने जगलमे काम क्या किया ? कोई उनका मित्र न था, कोई उनके साथ बन्धु न था, कोई नौकर-चाकर भी न था, इतने बडे लोग और सब घर-बार छोडकर जगलमे रहे अकेले तो उन्होंने क्या किया ? आनन्द तो घरमे अनगिनते गुणा पाया ही होगा, अन्यथा वे घर छोडकर फिर घरमे आ जाते। घरके लोग तो सब स्वागत करनेको तैयार थे। घरके सभी लोग तो चाहते थे कि यह जगल न जाय, अगर वे घर लौट आते तो घरके लोग बुरा न मानते। यदि उनको जगल मे आनन्द न आया होता तो वे जगलको छोडकर अपने नगरमे आ जाते, तो मालूम होता है कि घर छोडनेके बाद जगलमे रहनेसे बडा ही विचित्र आनद उनको मिला था। जिस आनदके सामने ३ लोकके सारे इन्द्रोका आनद मिला लो, सभी राजाओ और चक्रवर्तियोका आनन्द मिला लो, ये उस आनदकी उपमाको जरा भी नही पा सकते। इतना विचित्र आनद किसका ? चलो अपने आप भीतर ही भीतर ज्ञानबलके द्वारा अपनेको निहार करके उत्तर दीजिए। वह आनन्द है ज्ञानस्वरूपको निहारनेका। इस जीवको बाहरकी बातें जाननेके लिए भीतरमे सयम नही बनाना पडता। स्वच्छन्द होकर बाहरकी बातें जान लिया करता है, लेकिन इस अन्दरके आत्मस्वरूपकी बात समझना हो तो साथमे सयम बनाना पडेगा तब भीतरकी बात ज्ञानमे आ सकती है। तो वह सयम क्या है ? फैले हुए ज्ञानको सकोचना। बाहरमे हमारा ज्ञान विकल्प न फैल सके और सब वाञ्छायें और मलीमसतायें समाप्त कर दें और ज्ञान द्वारा अपने आपमे निहारनेका प्रयत्न करें। यह काम मोहमे तो असम्भव है, कुछ ज्ञान होनेपर सभव है, मगर रागद्वेष, मोहमे बाधा न हो और अपने ज्ञानसे अपने आत्मामे ही परखा जाय तो अपने इस प्रभुके दर्शन हो सकते है।

बहिस्तत्त्वकी असारता व अन्तस्तत्त्वकी सारता—ससारमे सर्व कुछ असार है, किन्तु अपने आपके भीतर बसा हुआ जो परमात्मस्वरूप है वह सारभूत है। भावनामे कहते है कि 'दाम विना निर्धन दुःखी तृष्णावश धनवान। कहू न सुख ससारमे सब जग देखहु छान ॥' आप निर्धन है या धनी। निर्धन तो धन न होनेमे दुःखी है, पर धनिक तो धनकी तृष्णा करके दुःखी होते हैं। तो निर्धन अथवा धनिक दोनोको ही सुख कहाँ है ? यद्यपि धनिकोको थोडा वहुत आराम मिला है। खाने-पीने, पहिनने-ओढने आदिके अच्छे साधन मिले हैं, इससे अधिक और चाहिए क्या ? सर्व सुविधायें हैं। उनके तो वाकी जितना समय है वह सव धर्मध्यानमे लगा लें और अधिक न वने धर्मध्यान तो गद्दि मे बैठें, यह ही एक धर्मध्यानका अग है। वाहर बैठोसे, दूकानमे रहनेसे या गप-शपके स्थानमे वैठनेसे तो परिणामोमे सक्लेश होगा, आर्तध्यान

होगा, मगर उस प्रभुके पासके बैठ जायें, उनके चरणोके निकट बैठ जायें तो बहुतसे विकल्प स्वत ही शान्त हो जाते है, और बादमे सत्सग मिले, जो कुछ पढ़े-लिखे भाई हो उनसे शास्त्र बचवायें और ऐसे शास्त्र बचवायें जो कि समझमे आयें तो उससे बहुत धर्मकी बात मिलती है। जितने साधन मिले हुए है उनका सदुपयोग यही है कि धर्मका काम बना लें, अन्यथा ये साधन भी न रहेगे, और यहाँसे मरकर न जाने किस योनिमें, किन गतिमें उत्पन्न होना पडेगा ? तो बाहर जब देखते है तो सब ससार दु.खरूप है, अब अन्दर देखें। अदरमें क्या मिलेगा ? अपने अन्दरकी ओर अपना उपयोग लगाओ। कोई विकल्प उठा हो तो उसे दूर कर दीजिए। हम तैयारी कर रहे है अपने आपके अन्दरमें विराजमान परमात्मस्वरूपके निरखनेकी। मै जब अन्दरमे देखता हूँ तो यहाँ इस तरह देखिये कि मैं केवलज्ञान ज्योतिस्वरूप हू। एक ऐसा विचित्र प्रकाश कि प्रकाश ही प्रकाश है, जानन ही जानन है, वहाँ कोई रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक नही, कोई ढेला पत्थर नही, कोई पकडनेकी चीज नही, आकाशकी तरह अमूर्त है। मगर ज्ञानप्रकाशसे लबालब भरा हुआ है ऐसा अपना स्वरूप देखें। जब ध्यानमे आप इस तरह बैठेंगे कि मैं ज्ञानज्योतिके सिवाय और कुछ नही हू, मात्र ज्ञान ही ज्ञान हूं, तो आप ज्ञान ज्ञानमे डूब जायेंगे। और वहाँ आपका ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभवमे आयगा। इस अनुभव को कहते है स्वानुभव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव। पूजामे भक्तिमे हम जिस सम्यक्त्वकी, सम्यग्दृष्टि की बडी-बडी स्तुतियाँ करते है वह कोई ऐसी अनोखी चीज नही है कि जैसा मैं न हो सकूँ। वह कोई ऐसा विचित्र जादूगर नही है कि जो मेरे ज्ञानसे अगम्य हो। जब मैं अपने ज्ञानको ज्ञानस्वरूपमे रमाने बैठू तो मैं अपना अनुभव पा सकता हूँ। बडे निर्णय और जिम्मेदारीके साथ आपको समझना होगा कि जगतमे बाहर सब कुछ सारहीन है। किसी ओर राग करने से द्वेष करनेसे मेरे आत्माकी सिद्धि नहीं है। मेरा तो यह आत्माराम जो प्रभुके समान स्वरूप रख रहा है, किन्तु मैं अभी भूला भटका हूँ इसलिए दुःखी होता हू, उस तत्त्वको जानूं। भीतर अन्दरके क्षेत्रमे विराजमान जो यह परमात्मज्योति है उस आनन्दसागर ज्ञानानन्दरससे परि-पूर्ण है। मूल बात कह रहे थे कि दो ही तो स्थान है—अन्दर और बाहर। बाहरमे देखो तो समस्त दु खरूप है, अन्दर देखो तो ज्ञानानन्दरससे भरपूर है।

अन्तर्धाममें बसने पर हैरानीकी विदाई—लोग कभी यह सोचकर हैरान हो जाते कि हम बडे बूढे हो जायेंगे, अग न काम करेंगे, कानोसे सुनाई न देगा, आँखोंसे दिखाई न देगा, मुखसे बोल भी न सकेंगे, हाथ पैर भी न चल सकेंगे। तो ऐसी स्थितिमे मेरेको बड़ा क्लेश होगा। लेकिन यदि ज्ञानज्योतिके दर्शन करने वाला वह पुरुष है तो वह तो वहाँ भी आनन्द ही पा रहा है। आपने सुना होगा कि एक उत्कृष्ट सन्यासमरण होता है जिसका नाम है प्रायोग्यगमन। उसमे वह सीधा लक्कडकी तरह पडा रहता है, हिलता-डुलता नही।

कष्ट नही मानता और भीतर ही भीतर ज्ञानके द्वारा ज्ञानरसका स्वाद लेता हुआ तृप्त रहता है। यदि अपने जीवनमे इस ज्ञानज्योतिके अनुभवका अभ्यास कर लिया, इन्द्रिय शिथिल हो जायें तो उससे इसको बेचैनी नही होती। मै सुनू तो सही कि क्या कह रहे ? अरे सुननेसे क्या प्रयोजन ? न सुना तो भला है। आप अपनी बातको तो अधिक सुन सकेंगे। जिसकी उत्सुकता बाहर-बाहरकी चीजोकी जानकारी की बनी रहती है उन्हे तो क्लेश ही मिलेगा। और जिन्हे बाहरमे देखनेकी, जाननेकी कोई उत्सुकता नही, देख लिया सब असार है, बस उन्हे कोई क्लेश नही। जब बाहरमे न देखेंगे, न जानेंगे तो कोई विकल्प तो न होगे, कोई आकुलता तो न होगी। मैं अपने ज्ञानचक्षु द्वारा अपने भीतर ज्ञानमय आत्माके दर्शन तो करने लगू। इसी तरह कोई भी इन्द्रिय खराब हो गई हो, हिलते-डुलते न बने, मगर अन्दरके क्षेत्रका दर्शन करने वाला पुरुष वहाँ अधीर नही होता। दो ही क्षेत्र है—बाहर और अन्दर। बाहर जब निरखते हैं तो वहाँ क्लेश ही क्लेश है, अन्दर जब देखते है तो वहाँ आनन्द ही आनन्द है। इतना फेर हो गया जरासी दृष्टिमे। दृष्टि बाहर हुई कि सारा क्लेश, दृष्टि अन्दर हुई कि सारा आनन्द। तो अब जो लोग आनन्दके लिए भारी उद्यम करते, शरीरका श्रम करते, अनेक कष्ट उठाते, बहुत धन जोडते और और उपाय करते, उनके ये सब उद्यम भूलभरे हैं। अगर शान्ति और आनन्द चाहिए तो अपने आपको जो ज्ञानज्योतिस्वरूप है, उसके ज्ञान ध्यान चिन्तन और उपासनामे लगना चाहिए। इसको छोडकर दूसरा कोई उपाय नही है जिससे आत्माको सकटोसे मुक्ति मिल सकती हो।

निःसंसार भावनादृष्टिका परिचय—लोग कहते है ससार। वह ससार क्या चीज है ? एक तो इन दिखने वाली चीजोको ससार कहते है पर वास्तवमे ससार है अपने अन्दर जो कल्पना विकल्पजाल उत्पन्न होते है वह ससार है। और हम इस ससार-जालमे फसे हुए है। बाहर कहाँ ससार देखते ? जरा और अन्दर प्रवेश करके देखें तो यह आत्मा नि ससार है। इस आतमस्वरूपमे ससार नही फसा हुआ है, इसकी आज यह गति हो रही है। जैसे किसी बडे घरका कुलीन सज्जन सभ्य बालक दो-चार दिनमे किसी खोटे बालककी सगतिमे पडकर व्यसनी बन जाय तो उसपर लोग बडा अचरज करते है और कहते हैं कि वह लडका तो ऐसा नही है। वह तो सब दूसरे लडकेकी सगतिका फल है कि उसका रग चढा हुआ है। पर वास्तवमे वह लडका तो कुलीन हैं। लडका खोटा नही हो सकता। वह तो किसी दूसरे लडकेके फदमे पड गया। ऐसे ही जरा यहाँ भी तो देखें—अपना आत्माराम सुशील है, ज्ञानमय है। ज्ञानरूप ही रहे ऐसा उसका सहज प्रवर्तन है, लेकिन यह कर्मोंके सगसे इसपर कर्मका रग चढ गया है, विकल हो गया, व्यसनी हो गया, विकार समा गया। अरे यह तो परमार्थत विकाररहित स्वरूप वाला है। पर इसपर कर्मके सगका रग चढ गया है। पर

उस सगके रगकी उपेक्षा करनी होगी और अपने आपके स्वरूपमे अपनेको रमना होगा तो वह बात अनायास प्राप्त होगी। देखो ना सब कुजी यह दृष्टि मरोड रही है। कोई अपनेको दु खी बना ले तो इस दृष्टिसे दु.खी बना लें, अपनेको कोई सुखी बना ले तो इस दृष्टिसे अपनेको सुखी बना ले। तो हमारा भविष्य हमारी दृष्टिरूपी कुञ्जीके साथ पडा हुआ है। तो किसका सुधार करना है ? मैं परमार्थ अविकार ज्ञानस्वभाव हू, बस मेरे ज्ञानमे यह ज्ञान स्वभाव ही बना रहे तो मेरेको इसमे अद्‌भुत आनन्द आता है। लोग अनित्य भावना भाते है। संसारमे जो दिख रहा है वह सब मिटने वाला है, पर भाई उस अनित्यके सोचनेके साथ यह सोचें कि मेरा जो सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है वह कभी मिटने वाला नही है। बाहरकी सभी चीजें मिटने वाली है। यो मिटने-मिटनेपर ही दृष्टि बनाये रहे तो इससे मिला क्या ? अरे अनित्यको छोडकर जो अपने आपमे विराजमान ज्ञानानदस्वरूप है उसमे उपयोग लगावें। अशरण भावनामे लोग भाते है कि ससारमे सब असार है। बाहरमे कोई शरण नही है। माता-पिता, पुत्र, बन्धु, राजा आदिक कोई इस जीवके लिए शरण नही है। बात ठीक है। पर यही-यही सोचकर क्या फायदा निकाल लिया जायगा ? कोई शरण नही, कोई शरण नही, इसमे तो झु झलाहट ही बढेगी। हाय ! मेरे लिए कोई शरण नही है, यह भी बडा धोखा देने वाली बात है, पर शरण जब बाहर देख रहे हो तो उसके साथ यह भी देख लो कि मेरा जो अनादि अनन्त ज्ञानघन आत्मतत्त्व है वह शरणभूत है। बाहरमे कुछ शरण नही है, पर मेरे अन्तरङ्गमे विराजमान यह ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्व यह शरण है। सच पूछो तो यदि ध्यान चिन्तन मनन द्वारा विकारोको हटा हटाकर कोई विकारोसे पूर्ण छुट्टी पा ले, निर्विकार हो जाय तो इससे बढकर कोई भी विभूति नही है।

अलौकिक आत्मप्रकाशकी ही श्रेयस्करता—ससारका ऐसा बडा बननेसे क्या लाभ है कि जिसके बाद छोटा बनना पडे। कोई यहा राजा बन गया, खूब मौजमे रहा, विषयकषायो मे रहा, और मरकर कीडा-मकोडा बन गया तो बताइये उसे राजा बननेसे क्या लाभ पाया ? और कोई अपने अन्दर विराजमान अतस्तत्त्वको देखे तो वह एक बार भी शुद्ध हो जायगा तो फिर उसे ससारमे अवतार न लेना पडेगा। वह तो ससारके जन्ममरणके चक्रसे छूट जायगा। ऐसा महान बननेकी बात रखो, बाकी महान पदोको मना कर दो। अपने भीतरमे ऐसा चिंतन मत करो कि मैं राजा होऊँ। अरे किसको देखना चाहते हो कि मैं बडा हू, यहाँ तो सब कर्म के प्रेरे, दुखिया, जन्ममरणके दुखिया सभी फिर रहे है। इनमे किनको दिखाना चाहते हो कि बडा हू। बडा दिखानेकी बात तो इस जगतमे सारहीन है, तो सर्व प्रकारके बडप्पनकी बात बुद्धिमे न लेकर भी सर्वोत्कृष्ट जो आत्मामे ज्ञानानन्दस्वरूप है, बस उसकी ही भक्ति बन जाय, उसकी उपासनामे ही लग जावें, उससे कर्म कट जायेंगे और सदाके लिए हम पवित्र

जायेंगे। कर्मबधन नटे, मोह रागद्वेप हटे, ऐसा उपाय बने तो इससे आत्माको शांति मिलेगी। बाहरमे देखा तो ये सब अशरण है और अन्दरमे देखा तो यह मैं आत्मा निश्चयत पूर्ण बलके साथ कैसा हू, वह मेरे लिए नियमसे शरण है। इसी प्रकार ससारभावनामे हम यह देखते हैं कि यह सब बाहरी ससार असार है, सब दुःखरूप है। मगर इतना ही इतना सोच करके हम कौन सी अपने आप शांति पा लेंगे ? परेशान होंगे, घबडाहट ही मिलेगी। वहाँ यह परख लें कि मैं आत्मा नि·ससार हू, मुझमे जन्म मरणके चक्र नही लगे हैं, मेरे स्वरूपमे जन्ममरण विकल्पके चक्र पडे हो तो कभी ये छोटे बडे भी नही हो सकते। कभी ये मिट भी नही सकते। पर मेरे स्वरूपमे न लगें। ये कर्मके सगके रग हैं, ये मेटे जा सकते हैं, पर मैं स्वय अपने आपमे एक ज्ञानानदमय परमात्मतत्त्व नि ससार हू, सारभूत हू, इस तरह अपने अन्दरके सद्भूत अतस्तत्त्व की भावना करना नि ससारभावना है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि नि·ससारभावनाकी दृष्टिमे कैसी दृष्टि बना करती है ? उसमे ध्यान भी आता जाता है। यह सारा ससार सारहीन है। और यह मैं आत्मतत्त्व सारभूत हू, यह ससार दु·खरूप है, और यह मैं अन्तः पडा हुआ ज्ञानस्वरूप स्वय शान्तस्वरूप हू, ऐसा स्वभावतः शुद्ध प्रतिभासमात्र हू। देखो जब किसी ५-७ सालके बालको कोई आँख दिखाकर जरा कडी नजरसे बोलता है तो वह क्या उपाय करता है कि झट माताकी गोदमे अपना मुख छिपाकर बडे आरामसे चिपक जाता है। वह जानता है कि मेरे लिए अब कोई सकट नही रहा, मैं सकटरहित जगहपर आ गया। ऐसे ही ये ससारी प्राणी कैसे सकटमे है ? बाहरके सभी लोग आँखें दिखा रहे है, सभीसे तकलीफ पा रहे हैं, व्यवहार करके कष्ट ही माना जा रहा है। तो ऐसे कष्टमे रहने वाला यह प्राणी क्या करेगा कि अनुभूति माँ की गोदमे पहुच जाय, अपने आपके ज्ञानानदस्वरूपके अनुभवमे आ जाय, वहाँ अपने उपयोगको समा दे तो यह सकटहीन हो गया, पर इसपर दुनियाका सकट है। दुनियाका सकट तो तब है जब दुनियामे हम कुछ दखल दें। जब बाहरमे कुछ दखल नही दे रहे तो मेरेको बाहरसे क्या सकट आयगा ?

बहिस्तत्त्वसे निवृत्ति व अन्तस्तत्त्वमे वृत्तिकी प्रेरणा—मैं अपने आपमे रहू, अपनेको देखू, अपनेमे तृप्त रहू, अपनेका ही अपनेसे आशीर्वाद ले और उसमे प्रभुभक्तिकी मदद लें, क्योकि प्रभुभक्तिमे भी यह आत्मस्वरूप निरखा जाता है। वह निरखा जा रहा है बाहरमें दृष्टि देकर कि देखो—यह आत्मा कैसे पवित्र होगा ? केवल इतना ही अन्तर है कि प्रभु पर हैं, लेकिन यह मैं निज हू। और परका अतर तो यह है कि वह परजीव है, भिन्न जीव है, पर वहाँ निहारा क्या जा रहा है प्रभुदर्शनके समयमें ? उस आत्माका विशुद्ध ज्ञान ज्योतिस्वरूप ही निरखा जा रहा है। तो वहाँ भी हमने आत्माकी निधि ही पायी। जब प्रभुभक्ति करते हैं तो अपने आत्मध्यानका कार्य करें और अपने आपमें उस ज्ञानस्वरूपको निहार-निहारकर

उसका आशीर्वाद लें। खूब जयवन्त हो। अपने भीतरी स्वरूपको देखकर उसे कह उठें कि खूब जयवन्त हो, प्रबल हो, प्रकट हो, और इन विकारोको परखकर इनसे तो बाहर हटो, जावो, नष्ट हो। हे विकार! तुम्हारी ही उपासनासे, तुम्हारे ही रागसे हमें अनादिसे लेकर अब तक यह ससारका जन्ममरणका दुःख मिला। देखो महावीर स्वामी आजसे करीब २५०० वर्ष पहिले ससारसकटोसे छूट गए, आदिनाथ भगवान आजसे करीब कुछ कम एक कोडाकोडी सागर पहिले वे जन्ममरणसे छूट गए और उससे पहिले और भी बहुतसे लोग जन्ममरणसे छूटे, लेकिन यह मैं इन विकारोंके प्रेमके ही कारण अब तक छूट नही सका शरीरसे। अब तक मैं ससारमें रुलता रहा। हे विकार! तुम हट जावो, नष्ट हो जावो, तुम तो मेरा पिण्ड छोडो, मैं अपने सहज ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करूँ, मेरे ज्ञानमें यह ज्ञानस्वभाव ही विराजा रहे। बस यही एक मात्र इस जीवनमें चाह है और कोई भी चाह नही है। किसे चाहू, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी स्थितियाँ है वे सब असार है, उन स्थितियोसे मेरा किसी भी प्रकार हित नही है, इसलिए मैं अन्य कुछ नही चाहता हू। केवल एक यही भावना है कि अब तो मेरे ज्ञानमें प्रभु परमात्मतत्त्व अरहत सिद्धका स्वरूप विराजे या मेरे आत्माका सहजस्वरूप विराजे। यही मेरे ज्ञानमे ज्ञेय रहा करे, और कुछ मेरे ज्ञानमे मत आये। यद्यपि हमारी बडी कमजोरीकी स्थिति है, विकल्प आ पडते है, फिर भी उत्साह बने। एक मिनट बाद भी अगर कुछ चेतमे आ गये, उस विकल्पसे हट सके तो वह लाभ ही है। मुझे तो मेरे ज्ञानमे ज्ञानस्वभाव चाहिए, वह परमात्मस्वरूप चाहिए। मेरा तो मेरे ज्ञानमे जो चीज आवे वह मुझे गदा मत बनावे। मै अब शुद्ध रहना चाहता हू, अशुद्ध रहकर मैने ससारमे अब तक बडी यातनायें सही। मूलमे बात यह बतला रहे है कि जगह दो ही है बाहर और अन्दर। बाहर देखो तो कष्ट है, आकुलता है, अपवित्रता है, झझट है, जाल है और अन्दर देखो तो सहज आनन्द है, पवित्रता है, धीरता है। हमे यहाँ कुछ प्राप्त हो बाहरमे तो मेरेको कुछ भी मिलनेका नही है, इसलिए बाहरसे दृष्टि हटाकर अपने अतस्तत्त्वकी ओर आयें और यहाँकी उपासनाका आनद लूटें, बस मानवजीवन पाना सफल हो जायगा।

अपने एकत्वकी भावनाका लाभ—जगतमे जो भी वस्तु होती है वह वहाँ अकेली होती है। दो वस्तु मिलकर एक सत्ता नही बना पाते। पृथक्-पृथक् ही समग्र वस्तुवें है। जैसे हम आप जितने जीव है वे सब पृथक्-पृथक् है, कैसे समझा जाय? तो उसका प्रमाण यह है कि मेरा अनुभवन मेरेमे ही हो पाता है, दूसरेमे नही हो पाता। इस शरीरमे कोई कीडे भी होगे, पर कीडोके दुःखका अनुभवन कीडोको ही हो रहा, मुझे नही हो रहा। मेरे दुखका सुखका अनुभवन उन कीडोके जीवोको नही हो रहा और बाहर जो जीव है उनमे तो यह प्रकट सिद्ध ही है, यह तो एक केवल ममतासे कहा करते है कि तुम्हारे सुखसे हम सुखी

और तुम्हारे दुःखसे हम दुःखी है। यह मोहकी आवाज है कि दूसरेके सुखसे हम सुखी होते। भले ही किसी एक कार्यमे दोनो लग रहे हैं, दोनो ही सुख मान रहे हैं, फिर भी वे अपने-अपनेमे ही तो काम कर रहे है और अपनेमे ही सुख भोग रहे है, अपने-अपने परिणमनका ही अनुभवन कर रहे है। कभी दो पुरुष मिलकर कहने लगें, दुःखी होने लगें, किसीका इष्ट वियोग होने पर या अन्य घटनामे तो कही ऐसा नही है कि एक दुःखको दोनो भोग रहे हैं, दोनो अपने अपने दुःखसे दुःखी है और सभी अपनी-अपनी चेष्टायें करते है। जब ऐसा वस्तुका स्वरूप है तब इसी तरहसे निहारो अपने आपको। मैं अकेला हूँ, अकेला ही जन्मता हू और अकेला ही जन्ममरणसे रहित हू। कोई भी क्रिया करूँ तो मैं अपने ही भावोसे करता हू, दूसरा कोई मेरे साथ मिलकर नही करता। जैसे भाद्रके माहमे दसलक्षणके दिन आये हो तो बूढे लोग अपने बच्चोसे कहते है बेटा जरा पूजा करो। अब यहाँ देखिये उस वृद्धने जिन भावो से प्रेरित होकर यह बात कही वह उसके अनुसार उतना फल पायगा और वह बालक जिस प्रकारके भाव बनायगा उसके अनुसार उसे वैसा फल मिलेगा। तो जो जैसे परिणाम करेगा उसको वैसा फल मिलेगा। सर्व जीव न्यारे-न्यारे है, अकेले अकेले है, सभी अपना-अपना परिणमन करते है और उसका फल स्वय ही भोगते है। अब यहाँ अपने बारेमे यह देखना है कि हे नाथ मेरा ऐसा परिणमन हो कि सदाके लिए मेरा सकट छूट जाय। ऐसा क्या परिणाम है? अगर इसे सक्षेपमे कहना चाहे तो यह कहेगे कि मेरे ज्ञानमे विकल्पोका आक्रमण न आये, किन्तु मेरा ज्ञानस्वरूप ही मेरेमे ज्ञेय रहा करे, बस एक इस ही भावनासे सब कुछ आ गया। वैसा ज्ञान है। इसमे नाना परिणमन हो रहे है। अब जो विकल्प बाह्य वस्तुओका आश्रय करें उन्हे विषय बनाकर जो विकल्प उत्पन्न होते है उन विकल्पोसे तो आत्माका समय व्यर्थ ही जा रहा है।

विषयकषायोसे निवृत्ति पाकर अपने एकत्वमें उपयुक्त होनेमे ही क्षणोकी सफलता— यह जीवन कितना दुर्लभ है, कितना श्रेष्ठ मन मिला है, कितना यहाँ साधन बना सकते है? अन्य जीवोपर दृष्टि देकर निरखें तो दुर्लभ और बडा महत्त्वपूर्ण साबित हो। इस मानव के क्षण विषयकपायके विकल्पोमे जायें या रागद्वेषोमे जाये तो वे सब व्यर्थ गए। उन खोटे परिणामोमे अपना उपयोग जानेसे तो इस जीवने अपनी बरबादी ही की। विकल्पोको अनर्थकारक और मिथ्या बताया गया है। क्यो मिथ्या है? अनर्थकारी होनेसे। विकल्प अर्थक्रियाकारी नही हैं। विकल्पोमे जो बात कल्पनामे आयी है वह बाहरमे हो जाय या मेरी कल्पना करनेसे बाहरमे हो जाय यह बात तो नही होती है। मनुष्य चाहता है अपने घर वालोको दृष्टिमे लेकर कि यह बच्चा खूब पढ जाय, सुखी हो जाय, खूब धनिक बन जाय? पर इन विकल्पोसे कुछ बनता है क्या? वहाँ बननेकी योग्यता हो, पात्रता हो तो वह बनता है। उनका

उनके साथ सम्बन्ध है, पर ये विकल्प करनेसे वहाँ बात नहीं बनी। इसलिए अर्थ क्रियाकारी नही है। और जो अर्थक्रियाकारी न हो वह मिथ्या है। तो यह भावना भाये कि अहो इस आत्माका अहित करने वाले तो ये विषय-कषाय है। इन विषयकषायोमे मेरी परिणति न जाय। मै अपने ज्ञानस्वभावके ज्ञानमे लगा रहू, वही मेरा ज्ञेय बने, ऐसी अन्तर्भावना हो और जहाँ तक बने ऐसा ही पौरुष कीजिए। बाह्यविकल्प न आयें, बाह्यवस्तुवें ज्ञानमे ही न आने दें। इसके लिए क्या करना ? पहिलेसे इस ज्ञानस्वभावका ज्ञान करे। जहाँ प्रकाशका ज्ञान किया जा रहा, वहाँ फिर अधेरा न बन पायगा। यह विषयकषायोका वातावरण बडा गहन है। इन विषयकषायोको भोगते समय यह जीव अपनेको बडा बुद्धिमान समझता है। मैं ठीक काम कर रहा हूँ, मैं सुखका काम कर रहा हू, इस तरह यह अपनेमे सुखका अनुभव करता है, मगर यह इस जीवकी बरबादी ही है। एक थोडा इस तरहसे यह अनुमान कर लो कि जब वृद्ध होगे या जो लोग जितनी बडी उम्रमे पहुच गए वे वर्तमानमे यह देखें कि मैने १०-२०-५० वर्ष खूब विषय भोगे, और और भी अनेक विषयकषायोसे सम्बधित बातें की, मगर उनसे कुछ पूरा भी पडा क्या ? अरे पूरा पडनेकी बात तो जाने दो, उनसे उल्टा टोटा ही टोटा मिला। अभी किसी गेहूके बोरेमे गेहूँ भरते जायें तो धीरे-धीरे भरते-भरते वह किसी समय पूरा भर जायगा, मगर यहाँ देखो तो जितना-जितना विषयोको सेवते गए, जितना-जितना इच्छाओकी पूर्ति करते गए उतना ही उतना रीतेके रीते ही बनते गए। तो अतीत बातपर दृष्टि देकर भी अनुमान कर लें कि विषयकषायोसे केवल बरबादी ही है या नही। जिस समय वे विषयकषाय भोगे गए, उस समय तो यह ज्ञान न था, उस समय उसीमे बह रहे थे, लेकिन आज उस अतीतका ठीक-ठीक ज्ञान तो किया जा सकता है कि जो क्षण विषय-कषायोमे गवाया वे सब मेरे लिए व्यर्थ रहे, अनर्थ रहे, मिथ्या रहे, उनसे मेरी हानि ही रही। तो अब ऐसी भावना जगे और एक ज्ञानमे ज्ञानस्वभावकी उपासना ही बने। यह बन सके और इस रीतिसे कुछ अध्ययन करके ज्ञानानुभव हो सके तो समझ लीजिए कि मैंने बहुत कुछ पा लिया। एक अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवना यही है स्वका अनुभव। अनुभवने वाला तो है यह ज्ञान और अनुभवा जाता है ज्ञानस्वरूप। तो वहाँ ज्ञाता ज्ञेयकी एकता होती है, उसी मे सारी आकुलताये दूर होती है। तो उस परिणतिकी हम आपको झलक होनी चाहिए, उसके लिए हमारी दृष्टि होनी चाहिए। रहा-सहा जो मेरा जीवन है, जो जीवनमे करने योग्य कार्य है तो बस एक यह ही है। मेरे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया रहे, आकुलताओकी जननी अन्य अनुभूति मेरी मत बने।

एकत्वभावनादृष्टिका प्रभाव—मैं एक अकेला ही हूँ। क्या लाभ है दूसरोसे स्नेह र मे, परद्रव्योसे मोह रखनेमे, परकी चितायें, ख्याल, विकल्प बनानेमे ? इस ज्ञानपर इन

विकल्पोंका जो आक्रमण कर रहे है, इसमे क्या तत्त्व मिलेगा ? मैं एक हू, मैं गुप्त ही गुप्त अपनेमे ही अपने कार्यको सम्हालू, अपने स्वरूपको सम्हालू, यह कार्य है। अब इस आत्माके हाथ, पैर आदि तो है नही कि इसे कुछ शारीरिक श्रम करना पडे। अरे यह तो ज्ञानभाव मात्र है। ज्ञानभावके द्वारा अपने ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमे लें, यही हमारा एक महान पौरुष है। इसकी सिद्धिके लिए ही हमको व्यवहारके धर्म करने होते है, वे क्यो करने होते कि अशुभ वासनायें, अशुभ सस्कार लगे है, इसका निराकरण शुभ भावनाओसे, शुभ क्रियाओमे, शुभ प्रसगोमे रहकर, हम अशुभ भावनाओका निवारण करते है। मानो हम अपनेको एक ऐसा पात्र बनाये रहे कि अशुभ व्यसनोमे, पापोमे रहकर मेरी पात्रता नष्ट न हो। तो यो समझिये कि हमारा धर्म कवचका काम करता है और शुद्ध चैतन्यभावकी दृष्टि शस्त्रका काम करती है। कोई योद्धा युद्धमे कूद जाय, उसके पास केवल कवच हो तो उसकी रक्षा नही है। और कोई योद्धा युद्धमे केवल शस्त्र ही लिए हो, पर कवच न हो तो भी उसकी रक्षा नही है। ऐसे ही हम अपने जीवनमे शुभोपयोगमे भी अपना उपयोग रखें, पर दृष्टि रखें, ध्यान रखें उस शुद्ध चैतन्यतत्त्वकी ओर। भगवानका स्वरूप ही और क्या है ? भगवान किसका नाम है ? आत्मा सहज अपने सत्त्वसे जैसा है वैसा ही बाहरमे पर्यायमे प्रकट हो जाय, उसीके मायने भगवान है। जब वह अकेला वही केवल प्रकट हो जाता है अपने सहज स्वभावमे तो अनन्तज्ञान होना, सर्वज्ञान हो जाना यह सब उसकी एक नियत कला है। वहाँ ऐसा होना ही पडता है, पर प्रभु नाम उसका है कि जो केवल हो गया, प्रकट हो गया। इसीको कहते है कैवल्यप्रभु। यदि ऐसे कैवल्यकी प्राप्ति करना हो तो प्रथम यह ही देह कर्मके बन्धनमे बँधी हुई हालतमे ही हमे स्वरूपदृष्टि करके यह तो परखना होगा कि यह है केवल, इसलिए यह केवल बन सके। एक उपाय सिद्ध हो सकता है। यदि यह स्वरूपमे केवल न हो तो अनेक उपाय करने पर भी यह एक बन नही पाता है। ऐसे केवल निज स्वरूपकी दृष्टि रखनेका नाम है एकत्व-भावनादृष्टि। इस एकत्वभावनादृष्टिमे कैसी दृष्टि बनती है ? मैं सब जगह अकेला ही हू। कोई पुरुष बडी उम्रका हो जाय और उसके पिता, भाई वगैरा बहुतसे लोग गुजर गए हो तब उन्हे यह याद आता कि ओह! उन समयोमे भी मैं अकेला ही था और मोहका उदय था, जब सबके बीच थे तब वहाँ यह अनुभव नही बन पाया था कि मैं अकेला हू। आजके अनुभवसे भी लाभ उठा लो। जिस किसी भी प्रकार थोडी बहुत ज्ञानकिरण प्रकट होती है उससे ही लाभ ले लीजिए। मैं सर्वत्र अकेला हू। यही दृष्टि अगर बन जाय तो बडी पात्रता बनती है। मैं अकेला अपने ही भावोको करने वाला हू। मैं दूसरेमे राग या विराग या सुख दु ख किन्ही भी भावोका कर सकने वाला नही हू। मैं हू और उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हू, मेरेमे ही मेरी पर्यायका उत्पादव्यय होता रहता है। मै सर्वत्र अपने ही भावोको करता हू। अकेला ही अपने

भावोको भोगता हू ।

सामान्य स्थितिकी पवित्रता—जब मै अज्ञानी था तब भी अपने ही भावोको करता था, भावोको ही भोगता था । पहिले तो मैं परपदार्थोंको ही यह मेरा है, इससे ही मेरा सुख है, इससे ही मेरा बडप्पन है—इस प्रकारका अनुभव किया करता था । उस अज्ञानदशामे भी जो कुछ किया, मैने अपने ही भावोसे किया । परमे मै क्या कर सकता ? और जब ज्ञानभावका अभ्युदय हुआ, प्रतिबुद्ध हुआ तो मै अकेला ही अपने भावोको करता हू, भोगता हू । धन्य है वे क्षण जिस क्षण इस ज्ञानप्रकाशका अनुभव होवे, ज्ञानस्वरूपपर ही ज्ञानका उपयोग बने । यहाँ बनती है सामान्यस्थिति । सामान्यस्थिति बननेके मुकाबले विशेषस्थिति अच्छी नही बताई जाती है लोकमे भी कहते है जैसे कही दगा-फसाद हो गया तो वहाँपर सरकार नियत्रण करती है । जब वह दगा-फसाद शान्त हो जाता है तो सरकार घोषणा करती है कि अब इस नगर मे सामान्यस्थिति बन गई । देखिये—यहाँ भी विशेषस्थितिका आदर नही दिया गया । अभी यहाँ किसी किसीको कह दिया जाय कि आप तो एक सामान्य पुरुष है तो इस बातको सुनकर वह खुश न होगा और अगर कह दिया जाय कि आप तो एक विशिष्ट (विशेष) पुरुष है तो वह सुनकर खुश हो जायगा तो लोकमे विशेषकी महत्ता है, पर अध्यात्ममे सामान्यकी महत्ता है । सामान्य स्थिति क्या है कि जहाँ सुख दु खमे समता हो और ज्ञानका ज्ञानप्रकाश ज्ञानके लिए मिल रहा हो । तो ऐसे उस सामान्यको किस कल्पनाका करे ? अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभव होना चाहिए । प्रतिबुद्ध होनेपर ही यह बात सम्भव है । जैसे स्वप्नमे ऐसा ही स्वप्न दिख जाय कि मैं तालाबके किनारे बैठा हू, एक मगर (पानीका जानवर) निकला और मेरा पैर मुखमे दाबकर मुझे पानीमे खीचे लिए जा रहा है, तो बताइये आप उस स्वप्नकी दशामे कितना भयभीत होगे ? आप तो बहुत ही विकल हो जायेंगे । परन्तु आप यदि जग जायें, आपकी वह निद्रा भग हो जाय तो आप तो देखेंगे कि कहाँ है यहाँ मगर, कहाँ है यहाँ तालाब ? हम तो अपने आरामके कमरेमे पडे है । लो वहाँ एक भी सकट नही । तो देखिये—उस सोते हुएकी हालतमे जो दुःख हो रहा था, वह भ्रमपूर्ण था । उसे यह नही मालूम था कि यह तो हम स्वप्न देख रहे है । स्वप्न तो झूठे होते है, यहाँ कोई सकट थोड़े ही है । अरे स्वप्न देखते हुएकी दशामे उसे तो सब कुछ सत्य ही प्रतीत हो रहा था । उसे जो भी बेचैनी हुई, घबडाहट हुई वह भ्रमसे भरी हुई थी । जब वहाँ जग गए तो कोई सकट नही, ठीक ऐसे ही यहाँपर ये सभी जीव मोहकी निद्रामे पडे हुए है । उन्हे यहा जो कुछ भी दिख रहा है वह सब सत्य प्रतीत हो रहा है, बाह्यपदार्थोके ही सग्रह-विग्रह एव भोगनेमे ही अपने जीवनकी सार्थकता समझ रहे है । उनके पीछे रात-दिन दु खी भी रहा करते है । तो उनके ये दु ख तो इस मोहविकल्पसे ही आ रहे हैं । अरे यह जीव जग जाय, इसकी मोहनिद्रा भग

हो जाय, ज्ञाननेत्र खुल जाय तो फिर यह देखेगा कि अरे यहाँ तो कुछ भी मेरा नही है, किसी से रच भी मेरा सम्बध नही है। मेरा सब कुछ परिणमन मेरा मेरेमे ही है। अन्य समस्त पदार्थोंका परिणमन उनका उनमे है। लो इस प्रकारका ज्ञान जग जानेपर फिर कहा गए वे सब सकट ? अरे वे तो स्वत ही टल जायेंगे। वास्तवमे यहा किसी भी परद्रव्यका मेरे स्वरूप मे प्रवेश नही है, मगर कल्पनायें करके मैने ही इन परद्रव्योको अपने स्वरूपमे प्रवेश करा दिया। इससे तो हमने अपना ही बिगाड कर लिया। यहाका यह सब विकल्पजाल तो इस जीवकी बरबादीके लिए है। हम आपके यदि शुद्ध ज्ञान जगे तो मालूम हो कि ओह! मैं तो केवल टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभाव हू, ज्ञानमात्र हू, ज्ञानघन हू। कहा देह, कहा फद, कहा कष्ट, सामान्यानुरूप स्थितिमे सकट नही है।

अपनी सम्हाल करनेमे ही वास्तविक चतुराई—सच तो यह है कि जिसने देहमे आत्मबुद्धि की, ऐसे अनेक पुरुष तो प्रकट मूर्ख दिखते ही हैं। अगर धर्मकी चर्चा करके भी, धर्मज्ञानकी बात करके भी भीतरसे देहात्मबुद्धि नहीं निकली है तो वहा भी मूर्खता बनी हुई है। हम धर्मचर्चा करते हैं, दूसरा कोई नही मानता है तो वहा कषाय जग जाती है। मेरी बात नही मानी गई, यह क्यो नही मानता ? अगर भीतरमे यो दोषमात्र जगता है, क्यो जगा ? इसने अभी देहात्मबुद्धि की। इसको "मैं" समझा रहा हू, मेरी बात इसने मानी नही, उस देह विशिष्टको मैं पर समझ रहा हू, इस देहको मै आपा समझ रहा हू तो मूलमे भूल अभी पडी हुई ही है। हम वचनोंसे या बाह्य क्रियावोसे कुछ भी सफाई करें, मगर कर्मनिर्जरा का जो रास्ता है उसकी उसी रास्तेसे कर्मनिर्जरा बनती है। शान्तिलाभका जो रास्ता है वह तो उस ही रास्तेसे मिलेगा। शान्ति कोई दे नही जाता। कोई यहा मेरा परिचय करने वाला भी नही, जो लोग है वे सब इस देहदृष्टि वाले है और मैं भी यदि ऐसा कुछ परिचय रखते हो तो मै भी वह देहदृष्टि वाला हू। तो देहात्मदृष्टि विषपान है। आत्महत्या करना, अपना विघात करना है, जन्म मरणके चक्रमे, इस ससारसकटकी आगमे अपनेको झुलसा दिया है, देहात्म-दृष्टि यह मिथ्यात्व है, महान विष है। अब तो आत्माके उन्मुख होनेका प्रयत्न करें। जैसे कभी १०-२० बूढिया मथुरा वृन्दाबनकी यात्राको जायें तो उन सभीके पास अपनी-अपनी पोटली होती है। वे हर जगह गाडियोपर चढने-उतरने वगैरामे अपनी पोटलीकी बडी सम्हाल रखती हैं। अपनी-अपनी पोटलीकी सम्हाल सभी यात्री रखते हैं तो उनके सामानकी रक्षा रहती है। अगर वे एक दूसरेके सामानकी सम्हालमे लग जायें तो फिर उनको अपनी पोटली सम्हालनी मुश्किल हो जाती है। जैसे अपनी-अपनी पोटलीकी सम्हालसे सबकी सम्हाल है, ऐसे ही यहा हम आप साधर्मी जन बैठते है, उठते है, प्रवर्तन करते है, चर्चा करते है, सभीके सभी यदि इसी भावके हो जायें कि हमे तो एक अपनी निधि सम्हालनी है, हमे अपने आपमे

गुप्त ही गुप्त अपना रस लूटना है, ऐसा भाव बन जाय, जिसे कहते हैं कृतार्थी हो गए। मेरा क्या हित है, ऐसी जिसकी दृष्टि हो गई है, अपनी ही बात, अपनी ही निधिको जो सम्हालनेका भाव रखता है वह सत्पथपर है और जो इन इन्द्रियो द्वारा दूर जान-जानकर बाहरमे ही कुछ प्रयोग करता रहता है और अनेक लोगोके सामने धार्मिक उपदेश, धार्मिक बात या और-और प्रकारके धार्मिक प्रोग्राम रखा करता है तो उससे परकी सम्हाल हो अथवा न हो, पर खुद तो बेसम्हाल ही रह गए।

एकत्वके परिचयमे सत्पथका लाभ—अपने जीवनमे यह कर्तव्य है कि अपनेको सर्व स्थितियोमे अकेला जाने। जो यह समझ लिया जाता कि मेरेको यह शरण है, मेरा तो यह साथी है, मेरा तो यह दु ख मिटावनहारा है, मेरेको यह सुखदायी है, वहाँ ही लगाव बनाना, स्नेह बनाना, कायरता बनाना, अपनेको बन्धनमे फासना यह तो इस जीवके लिए घोर सकट ही सहनेकी बात है। तो एक ऐसा ही निर्णय बने कि अनादिकालसे ससारमे जन्म-मरण करते हुए आज हमने एक सुन्दर भवतव्य पाया है, मनुष्य हुए है, विशिष्ट क्षयोपशम मिला है, हम बहुतसी बाते समझ सकते हैं, तो हम इन सब साधनोका ठीक-ठीक सदुपयोग करें। बाहरी विकल्पोमे हमारा उपयोग न बने। ऐसा निर्णय रखना और उसके अनुसार चलना यह हम आपका परमकर्तव्य है। एकत्वभाव प्राय सभी लोग कुछ कुछ बोल तो जाते है पर एकत्वभावनाका असली मर्म कहाँ है ? वह मिलेगा आत्माके सहजस्वरूपमे। ऐसा सभी लोग कहते है कि यह जीव अकेला ही करता है, अकेला ही मरता है, पर जो कोई अपने आपका ऐसा अकेलापन समझ पाया कि यह मै केवल विशुद्ध ज्ञानमात्र हू। स्वरूपत. देखिये उपाधि सम्बन्धमे जो बात बनी वह इसके सहजस्वरूपकी बात नही, किन्तु यह अपने सत्त्वसे स्वय ही जैसा जो कुछ स्वरूप रख रहा है, ऐसे एकत्वस्वरूपको जिसने देखा, समझा और उस एकत्वस्वरूपकी जिसने भावना की, वह है मौलिक एकत्वभावना। तो स्थूल एकत्वभावना भी उपयोगी है। "आप अकेला अवतरे मरण अकेले होय। यो कबहू इस जीवका साथी सगा न कोय ॥" देखिये—हम आपका धीरे धीरे मरणकाल निकट आ रहा है। अब ऐसा भी कुछ हिसाब लगा लो कि हम मरणके निकट है या अभी कुछ दूर है। कितनी आयु गुजर गई, अब रही सही जो थोडी बहुत आयु है, वृद्धावस्थाके निकट हैं, वृद्धावस्थामे है तो इसका और परिपाक क्या है ? यदि समतासे मरण बने, ज्ञानप्रकाशमे ज्ञान रहता रहे और मरण हो तो यह वासना अगले भवमे जाकर वहाँ भी शान्तिलाभ प्रदान करेगी और मरण समयमे यदि इसकी दृष्टि मोह ममतामे रहेगी, बाह्य कामोमे लगेगी तो इसका जीवन बिगड गया, यह अगले भवमे भी आकुलता पायगा। कुछ ऐसा भी देखा जाता है कि जिस तरहकी बात थी शुरूआत हो जाय वही बात घर कर जाती है। तो हमारेमे विषयकषाय विकारकी शुरूआत ही मत

हो और ऐसा होनेके लिए योग्य सत्सग भी चाहिए ? जहाँ बराबर ये प्रेरणायें मिलती रहे कि मेरा तो भला ज्ञानस्वभावके उपयोगमे है, विकल्पमे मेरी भलाई नही है । इसके लिए सत्सग और स्वाध्याय इन दोनोपर बहुत-बहुत बल दिया जाय तो बहुत ही लाभ होगा ।

भ्रमविनाशसे ही सत्य ज्ञान व आनन्दका लाभ—सभी जीवोकी अभिलापा है कि मेरेको अशान्ति न रहे, शान्ति हो, यही परमहित है । अपनी भलाई इसीमे है कि अपनेको शान्ति रहे, अशान्ति न रहे, न आगे अशान्ति होनेकी सम्भावना रहे । यद्यपि लोग प्रयत्न इसीलिए कर रहे है, लेकिन उनके प्रयत्न सफल नही हो रहे । सभी कोई शान्तिके लिए प्रयत्न करते, पर शान्ति नही हो पाती । इसका कारण यह है कि अशान्तिका काम करते और शान्तिकी आशा रखते तो शान्ति प्राप्त होना कैसे सम्भव हो सकता है ? अशान्ति कहाँ है और शान्ति कहाँ है ? उसका केवल एक ही नुक्ता है । जहाँ यह उपयोग अपने स्वभावको भूलकर, उस अपने सहजज्ञानस्वभावको दृष्टिमे न रखकर, अपनेसे चिगकर किसी वाह्यपदार्थ को आश्रय बनाकर विकल्प करता है तो वहाँ अशान्ति होना अवश्यभावी है और जहाँ यह उपयोग बाह्यपदार्थोका विकल्प नही करता, वहाँसे हटकर एक सहज ज्ञानस्वभावको दृष्टिमे लेता है और वहाँ यह ज्ञान ज्ञानस्वभावको ही ज्ञेय बनाकर रहता है तो वहाँ स्वय ही अशान्तिका अभाव रहता है । शान्तिका यह प्रयत्न अनादिसे लेकर अब तक किया, अनेक योनियोमे भ्रमण कर करके जन्ममरणके कष्ट उठाकर अपनेको हैरान ही करते रहे, पर कही शान्ति न प्राप्त कर सके । यह संसार दु खमय है, सो देख ही रहे हो । कैसे-कैसे दु खी जीव नजर आ रहे है । हम आप भी निरन्तर दु खी रहते है । इस ससारके दु खोसे बचनेमे ही अपनी भलाई है । यहाँ कुछ वैभव पाकर, कुछ विषयसाधन पाकर यदि उनमे ही मुग्ध हो गए तो उनसे पूरा क्या पडेगा ? अरे वे तो स्वप्नवत् हैं । प्रथम तो वहाँ न शान्ति है, न आनन्द है । सुखमे भी आकुलता है, दु खमे भी आकुलता है और उसका प्रमाण यह है कि यहाँ जो सुख भोगे जा रहे है उनको ही देख लो कि वे शान्तिपूर्वक भोगे जाते या अशान्ति-पूर्वक ? अरे उनके बीच अशान्ति ही भरी है । जैसे स्वप्नमे सभी चीजें सत्य दिखती हैं, ऐसे ही यहाँ भी ये दिखने वाली बाते सत्य लगती है, पर वे सत्य तो नही है । जैसे जब स्वप्न वाली निद्राका भग होता है तो पता पडता है कि अरे यहा तो कुछ भी बात नही है । वह तो सब झूठा था, ऐसे ही अज्ञाननिद्रा जब भग होती है तो विदित होता है कि अरे यह तो सब असत्य है, यहाँ कुछ भी तो मेरा नही है । इस प्रकार जब भ्रम नष्ट होता है और अपने आपके परिपूर्ण स्वतत्र ज्ञानस्वभावकी सुध होती है ,और उस ज्ञानस्वभावके स्पर्शसे जो एक विचित्र अलौकिक आनद प्राप्त होता है, ऐसा अनुभव करने वाला पुरुष ही भली-भाँति यह जान सकता है कि मेरा मेरे अतिरिक्त कुछ भी सार नही, कुछ भी शरण नही और कुछ भी

उपयोग लगाने योग्य नही। ये सब बेकार बाते है, एक थोडे क्षणकी स्वप्न जैसी बातें है, ये मिट जायेंगी।

विषयकषायोसे आत्मपदार्थकी दुर्गति—भैया ! विषयकषायोमे ही यदि रहे, वहाँ ही हम उपयोग लगाये रहे, अपने आत्माकी सुध भूले रहे तो इसका फल तो खुदको ही भोगना होगा। अपने उपयोगसे चिगकर यदि बाह्यपदार्थोंमे अपना उपयोग लगाया तो फिर इस गल्ती का परिणाम किसे भोगना पडेगा ? क्या इन कारणोको या इन आश्रयभूत पदार्थोंको भोगना पडेगा ? अरे वहा तो खुदको ही उसका फल भोगना होगा। इसी तरह जैसे कि ससारमे जीवोको देख रहे है, ऐसी ही गति बनेगी तो फिर खुदको भी वैसा ही कष्ट सहना पडेगा, और यदि अपने आपपर दया हुई हो तो यह निर्णय करो कि मेरा तो यह सहज ज्ञानस्वभाव ही मेरा परमशरण है, परमदेवता है, परमगुरु है, यह ही मेरा रक्षक है। मेरा उपयोग इस ओर रहे तो मुझे कोई कष्ट नही। मैं ज्ञानस्वभावी हू, और यदि इस ज्ञानवैभवसम्पन्न अतस्तत्त्वको त्यागकर, इसकी दृष्टि हटाकर किन्ही भी बाह्य विषयविकल्पोमे रहे तो वह मेरी बरबादी है, मेरी अज्ञानता है, मूढता है। मुझे न चाहिए पर सम्बध। मुझे तो एक इस ज्ञायकस्वभावका ही अनवरत दर्शन करना चाहिए। यद्यपि पूर्व वासनायें ऐसी बसी है कि इस अतस्तत्त्वके रहस्यको जानकर भी इस ओर दृढतासे नही रह पाते, ऐसी एक अशक्त दशा है, लेकिन इतना तो करते रहना चाहिए कि जब कभी विषय विकल्पमे फसना पडता हो, उस ओर कुछ उपयोग लगाना पड रहा हो तो तत्क्षण ही उसका एक खेद महसूस करें कि विकल्पमे उपयोग क्यो गया ? ये तो परभाव है, ये तो विपत्ति है, ये तो मेरी बात ही नही हैं। क्यो इस ओर उपयोग गया ? इसका विषाद मानते रहना चाहिए। इस ज्ञानस्वभावमे उपयोग लगानेके लिए पहिला कदम हमारा यही है एक तरहसे कि हम उन विकल्पोमे कभी लगें तो उसपर हमे विषाद होना चाहिए। मोही जीव तो ऐसे है कि विकल्पोमे लगे है और विषादकी बात तो दूर रही, पर हर्ष मानते है, उसे ही सर्वस्व समझते हैं। तो इतनी बात चित्तमे आनी ही चाहिए कि ये विकल्प विपदा है ? इन विकल्पोसे मेरा पूरा नही पडनेका। फिर इन बाह्य पदार्थोंका क्यो विकल्प किया जा रहा है। इन विकल्पोको मिथ्या बताया है। ये विकल्प सही तब कहलाते कि विकल्पोमे जो कुछ बात बसी है, विकल्पका जो कुछ अर्थ बन रहा है, विकल्पमे जो कुछ चाहा जा रहा है, इन सबके कारण वह बात बन जाय और उस बननेमे कोई बाधा न रहे। १०० घटनाओमे एक भी घटना ऐसी न रही कि विकल्प भी हो रहे और काम भी हो रहा, तब तो समझिये कि विकल्प सही चीज है, लेकिन १०० की १०० घटनायें ऐसी है कि जो विकल्प करनेसे नही होती, परपदार्थकी परिणति उसके विकल्प के करनेसे नही होती। विकल्पका तो आश्रय वर्तमान अशुद्ध उपादानमे यह खुद बन रहा

अपने उस विकल्पका जो कुछ प्रभाव बनेगा तो उसके आधारमे प्रभाव बनेगा या अनाधारमे ? जब मेरे विकल्पका अधिकरण बाह्य पदार्थ नही है तो वहाँ यह बात कैसे बन जायगी ? इस कारण जितने भी विकल्प है वे सब मिथ्या यहाँ हो रहे है। एक वर्तमान परिणमन है—यह बात तो सच है, लेकिन विकल्पोका जो विषय है, विकल्पोका जो अर्थ है वह वहाँ है नही, कर्ता नही, अर्थक्रियाकारी नहीं। किसीने सोचा कि मैं इसे सुखी कर दूं तो उसके सोचनेसे वह दूसरा सुखी हो जाय तब समझना चाहिए कि विकल्प अर्थक्रियाकारी है, और ऐसा कही भी विघ्न न आये, हर जगह विकल्प उस कामको कर ही डालें, वह काम बन ही जाय, ऐसा हो सकता हो तो विकल्प सही मान लें। पर ऐसा एक जगह भी नही है। जहाँ कही मिलान हो गया हो कि हमने विकल्प किया और देखो वह कार्य बन गया। जैसे पिताने पुत्रको हुक्म दिया कि एक गिलास पानी लावो तो वह दौडता हुआ ले आया। वहाँ भी यह बात नही है कि आपके विकल्पने अर्थक्रिया की। अरे उस लडकेको स्वय अपनेमे विकल्प है, उसे स्वय अपना स्वार्थ है, वह खुद अपनेमे अपनी बात सोचता है, उसको यह विश्वास है कि पिताकी अगर हम ये दो चार बातें मानते रहेगे तो यह पिता पागल बनकर बडा कष्ट सहकर मेरी सेवा करेगा, ऐसी उसकी आस्था बनी है, जिससे प्रेरित होकर वह पिताकी बात मानता है तो वास्तवमें वह पिताकी बात नही मानता, किन्तु अपनी बात मानता है। यदि उन्ही विकल्पोके अनुकूल कार्य भी हो जाय तब भी विकल्पके कारण कार्य हुआ, यह बात नही है।

निमित्त और आश्रयका विवेक—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे परिणमन नही पहुचता। यह तो परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बध है। तो निमित्तनैमित्तिक सम्बधकी भी बात सुनो। जिसकी यथार्थता जाने बिना बहुत विवाद उत्पन्न हो जाते है। लोग जिन-जिन चीजोको निमित्त कहते हैं उन सबके दो प्रकार हैं, केवल एक प्रकार नही है कि निमित्त ही निमित्त है। कोई होता है निमित्त और कोई आश्रयभूत। निमित्तभूत कारण और आश्रयभूत कारणमे बहुत अन्तर है। निमित्त कारणका नैमित्तिक भावसे सम्बध है, पर आश्रयभूतका नैमित्तिक भावसे सम्बध नही है। जैसे सम्यग्दर्शन होना है किसीको तो वहा निमित्त कारण ७ प्रकृतियो का उपशम, क्षय, और क्षयोपशम है, न कि समवशरण आदिक अन्य कारण। वे तो आश्रय-भूत है। यो समझिये कि जैसे किसी कामी पुरुषको स्त्रीविषयक राग उत्पन्न हुआ है तो उसके रागका निमित्त कारण स्त्री नही है। रागका निमित्त कारण रागप्रकृतिका विपाक है और वह स्त्री आश्रयभूत कारण है। इसी कारण आश्रयभूत कारणके होनेपर कार्य होनेका नियम नही है। मुनि भी उस स्त्रीको देखता है, पर उसे राग नही होता। इससे ज्ञात करना चाहिए कि स्त्री रागका निमित्त कारण नही है, किन्तु रागप्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर जिस जीवमे राग परिणति बन रही है, उसका विषयभूत है वह स्त्री और वह है आश्रयभूत कारण। जैसे एक

दृष्टान्त देते है कि एक वेश्या मरी और उसे लोग जलाने लिए जा रहे है तो उसे एक मुनिने देखा तो उसका यह विचार हुआ कि इसने कैसा तो दुर्लभ मानवजीवन पाया और उसे विषयो मे ही पडकर व्यर्थ खो दिया। यहाँ मनका यदि सदुपयोग करते जावे तो मोक्षमार्गका उपाय बन सकता है। मृत स्त्रीके देहको देखकर उससे परिचित कामी पुरुष यह सोचने लगा कि अगर यह कुछ दिन और जीवित रहती तो मैं इससे और मिलता। कुत्ते, स्याल वगैरा उसे देखकर यह सोचते कि ये लोग इसे जलाते नही, यो ही छोड जाते तो कुछ दिनोका हमारा भोजन बनता। मुनिराजने जब उसे देखा तो दया आयी, सोचा कि देखो इसने कैसा अज्ञानतावश अपना जीवन व्यर्थ ही विषयोमे पडकर खो दिया। अब देखिये—मृत स्त्रीका देह एक है, मगर कितने भिन्न-भिन्न विचार उसे देखने वाले अन्य जीवोको हुए ? यदि वह स्त्री रागभाव का निमित्त कारण होती तो फिर मुनिराजको भी रागका ही कारण बनती, न कि वैराग्य का। और निमित्त कारणकी ओरसे देखिये कि जिसके रागप्रकृतिका विपाक था उसके लिए वह राग आश्रयभूत बना और मुनिराजके चूँकि अनतानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय नही है तो उस प्रकारकी रागप्रकृतियोका उदय नही है तो उसके लिए वह रागका आश्रयभूत नहीं बन सकता। प्रयोजन कहनेका यहाँ इतना लेना कि हमे इन कारणोमे आश्रयभूत और निमित्तभूतका विवेक रखना है, अन्यथा विवादोमे समय बहुत जायगा। समवशरणमें यह जीव अनेक बार गया, पर उसे सम्यक्त्व नही हुआ। हा ठीक है, नही हुआ सम्यक्त्व, वह आश्रयभूत कारण था। आश्रयभूत कारण तब उपयोगी होता है जब जीवमे वैसी पात्रता हो और उस प्रकारका निमित्त कारण, अन्तरग कारण हो। कर्मोकी दशायें तो निमित्त कारण है। सम्यग्दर्शनमे ७ प्रकृतियोका उपशम आदिक है और आश्रयभूत कारण वदना अथवा समवशरणमे जाना और देवदर्शन करना आदिक है। तो इसी प्रकार हम अपने इस व्यवहारमे यह समझें कि ये आश्रयभूत जितने कारण है उनपर हम अपना उपयोग लगायें तो हम मुग्ध बनेंगे। हम इनमे उपयोग न लगायें, हम ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व मे उपयोग लगायें, ऐसी गुजाइश ही न रखें कि कोई भी बाह्य चीज मेरे आश्रयभूत बने।

अपने एकत्वकी सुधमें ज्ञानका प्रकाश—इस ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान ही हम आपको शरण है, दूसरी कोई वस्तु हम आपको शरण नही। तो वह यथार्थ ज्ञानस्वभाव मेरेको कैसे प्रकट हो ? उसके लिए एकत्वभावना बहुत बडी सहयोगी है। मैं सर्वत्र एक अकेला हू। प्रथम तो लोग घर, कुटुम्ब, परिवारमे यह बुद्धि रखते है कि मैं अकेला कहाँ हू, मेरे बच्चे है, मेरी स्त्री है, मै इन सबके बीचमे हू, कोई दु.ख आता है तो ये सब मेरी बात पूछते है , अरे यह भी बडा कष्ट है। जिन लोगोके बीच रहते हैं, जो लोग व्यवहार करते है उनमे जो यह आस्था बनी है कि मैं अकेला नही हू, मैं तो इतने लोगोके बीच रहता

हू, यह ही एक बडी विपदा पडा हुई है हम आपमे। जिसमे हम अधे होकर अपने एकत्वकी सुध नही ले पाते। अरे कहाँ भूल रहे हो? मै अनादिसे अकेला हू, अनन्तकाल तक अकेला हू, मेरे स्वरूपमे किसी अन्यका प्रवेश नही हो सकता। वे दो कैसे बन गए? हर स्थितियोमे अपनी ही कल्पनाओमे मैं दुःखी हो रहा हू, किसी दूसरे जीवने मुझे दु खी नही किया। कभी दूसरा जीव मेरे दु.खका कारण बना तो वह आश्रयभूत कारण बना, जो कि एक निबल बात है, जिसका कि कोई अविनाभावी सम्बन्ध नही। जब मैं सुखी हू तो मैं अपनी ही कल्पनाके आधारपर अपने आपमे ही कुछ विचार कर अपनेको सुखी मानता हू, किसी दूसरे ने मुझे सुखी नही किया। अगर एक घटना उपस्थित होनेपर दो चार आदमी मिलकर रोते है, एक दूसरेसे खूब चिपट-चिपटकर रोने लगते है तो कही वे सब मिलकर नही रो रहे, मिलकर एक दु ख नही पा रहे, प्रत्येक जीवमे अपने आप पृथक्-पृथक् दु ख अनुभूत हो रहे। कही ऐसा नही है कि एक दु'खसे सब दु खी हुए। प्रत्येक जीव परिपूर्ण है और उसकी प्रति-समयकी अवस्था भी पूर्ण है। जो कुछ होता है वह अधूरा कभी नही होता। कोई कहे कि जरा ठहरो मैं अभी अधूरा ही बन पाया हू, अभी मुझे आधा बनना बाकी है तो ऐसा नही है। यदि कोई ऐसा हो तो बतलाओ। यह तो हमारी कल्पना है जो हम यह सोचते है कि अभी तो हमारा यह काम अधूरा पडा है, पर कोई काम अधूरा नही होता। हाँ कल्पनामे जो बात समायी हुई है कि हमे यह काम इतना करना है तो उसके मुकाबलेमे वह काम अधूरा लगता है। लेकिन कोई भी परिणति हो चाहे भली अथवा बुरी, वह जिस क्षणमे है उस क्षणमे पूरी है, अधूरी नही। तो जब मेरा अस्तित्व है तो मैं परिपूर्ण हू, पर एक हू, अकेला मेरेमे किसी अन्यका प्रवेश नही। मैं अपनेमे अपना ही कर्ता हू, अपना ही भोक्ता हू। और एक दृष्टिसे देखें तो मैं अपनेमे ज्ञान ही ज्ञान तो पा रहा हू। जैसे अनेक चीजोका स्वरूप होता है, उसमे कुछ बात है। चौकी है उसमे तादात्म्य है, रूप, रस, गध है। ढेला पिण्ड है, वजन है, कुछ बात तो है तो ऐसे ही मेरेमे क्या स्वरूप है? जब इस ओर दृष्टि देते है तो यह विदित होता है कि मात्र ज्ञानपुञ्ज, ज्ञानघन यह आत्मा है। कैसा विलक्षण अलौकिक अमूर्त पदार्थ है कि आकाशकी भाँति अमूर्त है। लेकिन आकाशसे यहाँ अधिकता है, ज्ञानकी अधिकता है। यहाँ ज्ञान है। यो समझिये कि जो ज्ञानका पुञ्ज है सो आत्मा। यह भी एक दृष्टिसे कहा जा रहा है समझानेके लिए। ज्ञान और आत्मा कोई जुदी-जुदी चीज नही है, वह तो जो है सो है, पर भेददृष्टिका उपयोग किए बिना बात बन ही न सकेगी, समझा ही न सकेंगे, व्यवहार ही न चलेगा। तो समझना होगा कि मैं ज्ञानपुञ्ज हू। जो ज्ञान है वही मैं आत्मा हू, और जो है वह निरन्तर उत्पादव्यय करता रहता है। यह वस्तुका स्वभाव है। मै हू ज्ञानरूप तो मै उत्पाद-व्यय क्या करूँगा? बस ज्ञानके ही परिणमनरूप उत्पादव्यय करूँगा।

ज्ञानकलापर सुख दुःखकी निर्भरता—अब यहाँ निगाह करे कि जब मै दुःखी होता हूँ तब भी मैं क्या करता हू ? ज्ञानको ही करता हू और ज्ञानको ही भोगता हू । दुःख भोगने की स्थितिकी बात इस समय कह रहे है । दु ख भोग रहे है, इसके मायने क्या है कि इस प्रकारका ज्ञान कर रहे है, यही भोगना है, यही करना है । करना भोगना भी अलग-अलग चीजें नही है । होना और भोगना अलग-अलग चीजे नही है । होनेका ही नाम करना है, होनेका ही नाम भोगना है । मै ज्ञानरूप बन रहा हूँ, ऐसी कल्पनारूप मै अपने ज्ञानको चला रहा हू कि जिसमे इस प्रकारके क्लेशका अनुभव होता है । यह मेरा है, यह मेरा था, बडा अच्छा था, मर गया, क्या करूँ, इस प्रकारका जो भीतरमे ज्ञान चल रहा है, बस इसीका ही तो भोगना हो रहा है । दु ख अलगसे है क्या चीज ? यो समझ लो कि सब बातें हमारी ज्ञानकलापर निर्भर है । मै किस प्रकारका ज्ञान किया करूँ कि मेरेमे शान्ति हो ? मै किस प्रकारका ज्ञान करता हू कि मेरेको दुःख होता है ? कलकत्तामे आपकी फर्म है और झूठमूठ ही आपने जान लिया या तार गलत पढनेमे आ गया या किसीके मुखसे सुन लिया कि वहाँ फर्ममे १० लाखकी हानि हो गयी है तो आप झट दु खी हो जाते है, चाहे वहाँ हुआ हो लाभ, पर इस प्रकारका ज्ञान जो आपका बना कि वहाँ तो इतनेका नुक्सान हो गया, वह नुक्सान आपको इष्ट है नही, तो उस प्रकारका ज्ञान होनेसे आपको वहाँ क्लेश हुआ । और चाहे वहाँ फर्ममे बडा घाटा आ गया हो, पर किसी तरहसे झूठमूठमे ही खबर मिल जाय कि बडा लाभ हुआ तो आप बहुत खुश होते है, आप अपनेको सुखी मानते है । इस ज्ञानके परिणमनके आधारपर ही हम आपका सुख अथवा दुःख निर्भर है ।

विशुद्ध एकत्वकी ओर—अब आप समझ लीजिए कि ज्ञान ही मेरा एक सर्वस्व है, उसीका सारा आभार है । अच्छा, बुरा होनेमे ज्ञानकी कलाका ही सब कुछ प्रभाव है । ऐसा जब कोई अपने आपमे जानता है तो वह एकत्वकी ओर आया है, इससे भी और परम एकत्व की ओर आना ठीक है । अभी तो साधारणतया एकत्वकी ओर आया है कि मै ज्ञानरूप हूं । ज्ञानके ही परिणमनसे सब बात होती हैं । दु.ख हो, सुख हो, शान्ति हो, ये सब इस ज्ञानके उत्पाद व्ययपर निर्भर है, ऐसे एक साधारण एकत्वकी ओर आयें । अब जरा और आगे बढो परम एकत्वकी ओर आयें तो वहाँ सहज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि होगी, ज्ञानपरिणमनपर दृष्टि न होगी । सहज ज्ञानस्वभाव, जब यह आत्मा ज्ञानरूप है तो इसमे स्वभाव वही है ज्ञान, निरन्तर उसमे परिणमन होता है, पर जो भी परिणमन है वह मैं नही हू । परिणमन अध्रुव है, मै ध्रुव हू । अब इस निगाहसे चले कि ज्ञानके जितने जाननपरिणमन है उन परिणमनो को स्वीकार नहीं किया गया, किन्तु उन सब परिणमनोका स्रोत आधारभूत जिसमे ये ज्ञान परिणमन उछलते है, ऐसा जो कुछ एक सहजज्ञानमय द्रव्यपर दृष्टि दी जाय, ऐसा वह

शाश्वत ज्ञानस्वभाव है वह मैं हू, मै वह एक हू, सदा एक हू, वह नाना वनता ही नही, वह अनेक होता ही नही । देखिये—परिणतियाँ नाना हो गयी और परिणतियोका आधारभूत वह स्वभावमात्र पदार्थ क्या वह नाना मिलेगा ? वह एक है । यद्यपि उस एकको हम किसी व्यक्त रूपमे, पर्यायरूपमे नही निहार सकते, क्योकि वह एक भूतार्थ दृष्टिसे देखा गया तत्त्व है । वह हमारे उपयोग द्वारा गम्य है, उसे हम एकान्तत· यह नही कह सकते कि वह ऐसा ही एक है सर्वप्रकारसे, किन्तु एक द्रव्यदृष्टिसे हमने अपने उपयोगमे उसे परखा, जाना, वहाँ अनुभव किया कि यह मै एक सहज ज्ञानस्वभावमात्र हू, ऐसे अपने सहज ज्ञानस्वभावमात्र परमएकत्वकी ओर हमारी दृष्टि हो तो उसका चमत्कार स्वय ही यह अनुभव कर लेगा—विलक्षण आनन्द, भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंका निर्जरण, आकुलताओका नाम नही, एक अलौकिक अनन्त वैभव सम्पन्न आत्मतत्त्व कि आत्माके इस उपयोगका विहार हो रहा है ऐसे एकत्वभावनाकी दृष्टिसे जव आत्माका परम एकत्व दृष्ट होता है तो समझ लीजिए कि मेरा कल्याण हो गया, मेरा मोक्षमार्ग वना तथा निकटकालमे मोक्ष होने वाला है । तो भाई हमको आत्मदया करना है । आत्मदया जैसे हो वह काम करना है । निष्पक्ष दृष्टिसे केवल अपने आपमे गुप्त ही गुप्त जब यह ज्ञान वना लें कि इस जगतमे मैंने न कुछ किया, न कर सकता हूँ और न कुछ कर सकूंगा । उसपर हम क्या निगाह करें ? केवल एक अपनेको देखना है और जिस प्रकार इस अपने आपका हित होता हो वैसी दृष्टि वने, इसमे ही परमहित है । यह ही हम आप सवके लिए एक परमकल्याणकी वात है । एक निर्णयके साथ इस आत्मदयाके काममे हमे लगना चाहिए । इसके लिए दो वातें बनानी होगी ज्ञानोपयोगमे लगानेकी धुन और विकल्पोमे कदाचित उपयोग जाय तो उसमे विषाद । यही है इस आत्मदृष्टिको समझनेका एक चिह्न । उससे हम अपनेको समझें और अपने हितकी ओर आयें ।

विभक्तैकत्वदृष्टिका परिचय—अन्य सवसे निराला और अपने आपके स्वरूपमे तन्मय इस विधिसे देखा गया यह आत्मतत्त्व सर्वसकटोको हरनेका स्वयं स्वभाव रख रहा है । इसे कहते हैं एकत्वविभक्त आत्मा । परसे निराला यह तो है विभक्तका रूप और अपने स्वरूपमे तन्मय यह है एकत्वका रूप । विभक्तके रूपको स्पष्ट करनेके लिए अन्यत्वभावना आती है । मुझसे सब बाह्यपदार्थ निराले है, अन्य है । अन्य-अन्यकी बात सोचते-सोचते जव सहज चैतन्य स्वरूपमात्र दृष्टिमे रहा वहाँ तक भी अन्यत्वभावनाकी किरणें जाना चाहिए । ऐसा तो सभी लोग कह बैठते हैं कि मकान, धन, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक ये भिन्न चीजें हैं, अपनी नही हैं । पर इतने तक ही अन्यत्वकी बात माननेसे मूलतः भिन्नता प्रकट नही होती । ये तो प्रकट भिन्न हैं, पर डले हैं, देह भी अपना नही है, पर और अन्त देखिये कि रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय-कषाय, विकल्प-विचार ये भी मेरे नही हैं, ये भी मेरेसे अन्य है । यद्यपि

ये सब कर्म छाये है, जैसे अन्य पदार्थोंका हम ज्ञान करते है तो अन्य पदार्थ उन पदार्थोंकी जगह रहते हैं और विज्ञान बनाते है कि यह अपने भीतरमे एक झलक हुई है । झट बोलते है ज्ञेयाकार परिणमन । बाह्य वस्तु तो बाह्य जगहमे ही है, अब उसके बारेमे जो हमारी जानकारी बनी वह जानकारी क्या है ? जैसे कि बाह्य पदार्थ है उसके अनुरूप यहाँ बोध होता है, और मोटा दृष्टान्त लें तो दर्पण और दर्पणके सामने जैसे मयूर नाच रहा हो तो मयूर मयूर की जगह है, दर्पण दर्पणकी जगह है, पर मयूरका सन्निधान पाकर दर्पणमे मयूराकार प्रतिबिम्ब हुआ है तो मयूर तो प्रकट भिन्न पदार्थ है दर्पणसे, लेकिन मयूर उपाधिका निमित्त पाकर जो उस दर्पणमे मयूरकी छाया प्रतिबिम्बित हुई है वह भी दर्पणकी नही है, दर्पणसे निराली है । यद्यपि यह छाया दर्पणकी परिणति है, पर हम जब दर्पणके स्वभावकी ओर प्रवेश करते हैं तब यह विदित होता है कि यह तो एक स्वच्छता मात्र ही है, हाथका अन्वय-व्यतिरेक सम्बध भी उस मयूरके साथ है, इस कारण वह दर्पणकी चीज न रही । वह मयूर प्रतिबिम्ब और दर्पणमे दर्पणके ही कारण उपाधिके सन्निधान बिना दर्पणमे ही हो जाय सो नही होता, इस कारण भी वह छाया दर्पणकी नही है । इसी प्रकार यहाँ देखिये कि कर्म तो प्रकट जुदे है, चेतन है वह प्रकट जुदा है, किन्तु जब कर्मविपाक हुआ, कर्मविपाकका अर्थ क्या है कि जो कर्म सत्तामे थे उनका यह अतिम क्षण आया है । इसके बाद ये निकल ही जायेंगे । जहाँ कर्मके १० करण बताये है कर्मकाण्डमे वहाँ बध भी लिखा, पर उदयकी बात नही लिखी । क्यो नही लिखी कि उदय भी क्या ? निर्जराका ही नाम उदय है, अपना समय पाकर फल देकर झडनेका ही नाम निर्जरा है वही उदय है, निर्जराका ही नाम झरना है ।

कर्मविपाकसे अन्तस्तत्त्वकी भिन्नता—जब कर्मविपाक हुआ तो विपाकसहित स्थिति आयी । उस समय यो समझिये कि जैसे कोई कलई, चूनाका सूखा डला है वह पड़ा है, कुछ समय बाद उसमे उदयकाल जब आता है तो वह खिर जाता है । कुछ उसकी विलक्षण स्थिति बनती है । उसके कर्मविपाकके समयमे कर्मकी ही विलक्षण स्थिति बनती है और चूँकि आत्मा यही है तो वे सब आत्मामे झलके हुए है । जैसे कि ज्ञेय पदार्थोंको हम जानते है तो जो यह बात छा जाती है, इस तरहसे सर्वप्रथम कर्तव्यमे वही स्थित होता है कि वह कर्मविपाक छाता है, ज्ञेय बनता है तब बाकी वे कर्मविपाक तामस ये तो दर्पणके हुए, मगर अधेरेमे आये तो चाहे यह कहो कि दर्पणमें कुछ विदित नही होता या कहो कि दर्पणमे अधेरा छा गया । ऐसी स्थितिमे यह जीव ज्ञानस्वरूपसे च्युत होता है और जो बात इस उपयोगमे छा रही है उसे अपनाता है और अपनाकर फिर उसकी मुद्रा बनती है तो बाह्य पदार्थ विपयभूत होते हैं तब अध्यवसाय बनता है, और अध्यवसाय तीन भागोमे विभक्त है—(१) क्रियमाणैकध्यवसाय, (२) विपच्यमाणैकध्यवसाय और (३) ज्ञायमाणैकध्यवसाय । करनेसे सम्बध रखते हुए जितने

विकल्प रखते है वे क्रियमाणैकध्यवसाय है, मैं तिर्यञ्च हू, मनुष्य हू, इज्जतवान हू, अमुक बिरादरीका हू आदि किसी प्रकार मैं हू इसका सम्वध जिस विकल्पमे रहे वह विपच्यमाणैकध्यवसाय है, और जहाँ किसी चीजके जाननेमे ऐसा जुटे कि अपने आपकी सुध न रही वह है ज्ञायमाणैकध्यवसाय। तो इन तीन प्रकारके अध्यवसायोंके होनेपर उदयमे आये हुए कर्मोंमे ऐसा निमित्तपना आता है कि वे उदयागत कर्म नवीन कर्मवन्धके निमित्त हो जाते है। इस दशामे अब देखिये—वे कर्म भी मुझसे जुदे है और कर्म जो चिदाभास रूपसे आये है वे भी उससे जुदे हैं। तो ये रागादिक भाव भी मुझसे अन्य है, मैं तो सहज चैतन्यस्वरूप हू।

अन्यत्वभावनामे सब पदार्थोंकी स्वतन्त्रताकी स्वीकारता—अन्यत्वभावना प्राय सभी लोग भाते है—"जहाँ देह अपनी नही, तहाँ न दूजो कोय। घर सपत्ति पर प्रकट ये पर हैं परिजन लोय॥" पर इस भावनामे दृष्टि यहाँ तक ही डाली कि यह देह भी अपना नही तब फिर बाहरकी कौनसी चीज अपनी हो सकती है ? परिजन आदिक भी ये मेरे नही हैं। यहाँ तक दृष्टि रही, लेकिन जब अध्यात्म अन्यत्वभावना बने तो वहा यह दृष्टि जगती है कि ओह ! मेरा जो शुद्ध चैतन्वस्वभाव है, सहज ज्ञानानदस्वभाव है, उसके अतिरिक्त मेरा वास्तवमे अन्य कुछ नही है। रागादिक आते, दूसरे क्षण नहीं रहते, ये अशरण है, ये स्वय ही अपना अस्तित्व नही रख पाते है। तो ये रागादिक भाव जो स्वय अशरण है, विकार है, कलक है जिसे समझिये बीचकी दशा। जैसे कोई लोग कहते है कि आत्मा जीव और शरीर ये तीन चीजें है, उनको लोग ऐसी ३ बातें मानते हैं। उनसे पूछा जाय कि जीव क्या चीज है और आत्मा क्या चीज है तो उत्तर मिलेगा कि आत्मा तो वास्तवमे कोई चीज है, और शरीर भी कोई जीव है। जैसे उत्तर यह लो कि आत्मा भी उपादान वाला वस्तु है, शरीर भी उपादान वाला पदार्थ है, किन्तु जीव ? तब जीवके बारेमे कहने लगते कि यह आत्मा और शरीर के बीच वाली एक दशा है। अरे वह बीचकी दशा क्या ? उसे जैनसिद्धान्तसे समन्वयमे बैठा लो तो वह है चिदाभास। आत्मा एक अपने सहज ज्ञानानदस्वभाव वाला है। शरीर अनेक देहाणुवोका समूह है अथवा कर्म भी इसी प्रकार एक स्वतत्र पदार्थ है। अब कर्मका उदय यह तो निमित्त और प्रतिविशिष्ट आत्मा अशुद्ध उपादान। यहाँ कुछ अशुद्ध उपादानमे रागद्वेषादिक परिणति बनी, यह कहलाता है चिदाभास। चेतन नही, कर्म नही, किन्तु कर्म निमित्त हैं और आत्मामे ये प्रकट हुए है, ये चिदाभास है। इन चिदाभासोको किसका कहा जाय ? यदि चेतन का कहो तो चेतनमे सदा रहना चाहिए। अच्छा चेतनके नही तो कर्मके कह लो, क्योकि कर्म के साथ उनका अन्वयव्यतिरेक मिला ना। अरे कर्मके है तो कर्मके प्रदेशमे चिदाभास रहना चाहिए, ये तो आत्मप्रदेशमे चिदाभास है, कर्ममे नही। तब दोनोंके कह लो। दोनोमे हैं तो दोनोको फल भोगना चाहिए। दोनो फल भोगते नही, तब दोनोके न कहकर भी यह बात

आयी है, इसे कैसे मना किया जा सकता है ? जब जिस दृष्टिसे देखा उस तरहसे इसका दर्शन हुआ। हित चाहने वाला पुरुष वहा यह देख रहा है कि आत्मा एक सहज ज्ञानानदस्वभावी है और ये चिदाभास परिणमन उत्पन्न हुए है पर ये अन्य हैं, मेरे स्वरूप नही, ऐसी उन रागादिक भावोकी अनित्यता भी जिसे ज्ञात है उसकी अन्यत्वभावना अलौकिक तत्त्वको ग्रहण कर रही है।

वास्तविकी अन्यत्वभावनाका प्रभाव—अन्यत्वदृष्टिमे यह ध्यानमे आता है कि धन, मकान, परिवार, मित्र जन ये सब मेरेसे निराले है। प्रथम तो लोगोको यह ही विश्वास होना कठिन है, मोहमे वचनोसे कह डालेंगे, पर भीतरकी मिथ्या श्रद्धा न मिट सकेगी। ये मेरे नही हैं—यह श्रद्धा न बना सकेंगे। दिखते हैं, सामने है, प्रकट भिन्न है, कह देंगे, पर भीतर की पकड ऐसी है कि ये तन, मन, धन, वचन आदिक सर्वस्व न्यौछावर है तो मेरे इन परिजनोंके लिए। तभी तो अपने घरका कोई बच्चा बीमार होता है तो उसके पीछे सारा धन लगा दिया जाता है, पर पडौसका कोई बच्चा अगर बीमार हो गया तो उसके लिए दो रुपये भी खर्च करनेके लिए बहुत विचार करना पडता है। सोचते हैं कि कितना इसके पीछे खर्च कर दे। अरे बहुत दुःखी है, पडौसका है, आना-जाना भी रहता है, चलो दो-चार रुपये खर्च कर दें, ऐसा विचार करते हैं। तो आपका यह भेद बतला रहा है कि अभी आपको परिवारमे अत्यन्त व्यामोह है। यद्यपि गृहस्थी है और गृहस्थीके नाते एक जिम्मेदारी भी है व्यवहारतः कि घरके बच्चोका प्रबध करें, इतना होनेपर भी ज्ञानी जीवके ऐसी विषमता नही होती कि अपने परिवारके लोगोके लिए तो अपना सर्वस्व न्यौछावर करनेको तैयार रहे और दूसरे लोगोंके लिए कुछ भी दया न रखे। अपने परिवारके लोगोपर सारा धन खर्च कर दिया तो इससे कही आप दयावन्त नही बन गए। इस प्रकारकी दयाको तो प्रवचनसारमे मोह बताया है। जैसे अपने घरकी गायको कोई फोडा हो जाय तो आपको उसपर बडी दया उत्पन्न होती है, पर पड़ौसमे किसीकी गायको कुछ हो जाय तो आपको उसपर वैसी दया नही आती, तो बताइये क्या वह आपकी दया कहलायी ? अरे वह दया नही है। वह तो मोह है। कभी-कभी बहुतसे लोग यह कह बैठते है कि मेरा भाव तो है कि घर छोड दें। क्या प्रयोजन पडा है घरमे फसे रहनेका ? इस दुर्लभ मानव जीवनमे आत्मदयाका काम मुख्य है, लेकिन ये छोटे-छोटे बच्चे हैं, इनपर मुझे दया आती है। तो बताइये क्या वह उनकी दया है ? अरे वह तो व्यामोह है। उनमे अभी ऐसी बुद्धि लगी है कि ये मेरे हैं, अन्यथा सुकौशलकी कथा देखिये—उनकी स्त्रीके गर्भ था। मन्त्रियोने समझाया कि आप इस बच्चेको पैदा हो जाने दें, उसे राजतिलक करके आप विरक्त हो जाना, यही बात सभी लोगोंने समझाया, पर उन्होने क्या कहा कि जो भी संतान गर्भमे है उसे मैंने अभीसे राजतिलक क

दिया। लो जो कुछ दिनो बाद काम करना था उसे अभीसे कर दिया। तो यह सब बात अपने आपकी पात्रता, योग्यतापर निर्भर है।

अन्यत्वभावनाके फलमे एकत्वकी ओर उन्मुखता—यहाँ अन्यत्वभावनामे निरखा जा रहा है कि जब ये रागादिक भी हमारे बनकर नही रह पाते तो फिर ये बाह्य प्रकट भिन्न पदार्थ मेरे क्या होंगे ? इस तरह सहजस्वरूपसे अतिरिक्त अन्य सब भावोको अन्य निहारकर सहजस्वरूपमे अपने सहजस्वरूप रूप अनुभव बनाना, ऐसा ज्ञान बनाना कि मैं ज्ञानस्वभाव हू, ज्ञानरूप हू, ज्ञानमात्र हू। ज्ञानके द्वारा ज्ञानमात्र स्वरूपका ज्ञान करने लगें, ऐसी एक अपनी धुन बनायें तो वहाँ अपने ज्ञानस्वरूपका परिचय होता है। वहाँ अन्य विकल्प नही हो रहे और उन विकल्पोकी वासना बनी है, फिर भी उपयोग स्वकी ओर होनेसे वे विकल्प व्यक्त रूप नही धारण कर पाते हैं और कषाय पडी है उसके अनुसार वह भाँकी होकर चली जाती है। यह उपयोग उन्हे अपनाता नही है। इसीको कहते है निरास्रवभावना। ज्ञानी जीवके निरास्रवभावना है, इस कारणसे उसके भी कर्मबन्ध तो होता है मगर वह कर्मबन्ध ससारबर्द्धक न होनेके कारण उसे बन्धमे नही बताया गया है। वास्तविक बन्धन तो यह है कि जो यह आत्मा अपने आपमे होने वाली इन झलकोको अपनाता है, यह है इसका अज्ञानताका बन्धन। अन्यत्वभावनामे यह बताया कि ये रागादिक भाव औपाधिक हैं, परभाव है, अस्वभाव हैं, वे मेरे नही है, वे मेरेसे निराले है। मैं तो सहजज्ञानमात्र हू। एक यह भी विधि विचार करनेकी है कि मै तो वह हू जो बिना किसी सम्बन्धके स्वय अपने आप हू। किसी भी पदार्थकी सत्ता किसी दूसरे पदार्थकी सत्तासे मिलकर नही बनती। सभी स्वय सत् होते हैं। यद्यपि आज हमारी विकृत स्थिति है, मलिन है, कलक हैं, विकल्प हैं। इतना सब कुछ होनेपर भी हम वास्तविकताका ज्ञान करें तो कर सकते है। हम वास्तविकता का लक्ष्य करें तो ज्ञान कर सकते है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला एक्सरा यंत्र सीधे हड्डीकी फोटो ले लेता है, वह बीचमे रोम, चाम, मास आदिमे अडता नही है, इसी तरह यह ज्ञान यदि अपने सहजस्वभावका बोध करना चाहे तो जिसने स्वरूप समझा है वह इसका बोध कर सकता है। पर बीचमे पर्यायमे गुणभेदमे वह अकर्ता नही है, लक्षण बनाया है ऐसा तो बोलते सन्ते भी उपयोग उनकी अपेक्षा करता है और अपनेमे अव्यक्त अतःप्रकाशमान सहज ज्ञानानन्दस्वभावमे दृष्टि रखता है। उसकी यह आवाज है कि ये रागादिक विकार मेरे नही हैं, ये मेरेसे निराले हैं।

अन्यत्वभावनाके विकासमे एकत्वकी ओर उन्मुखता—अन्यत्वभावनामे पहिले यह बल आया कि धन, मकान, परिवार, मित्र, शरीर आदिक ये सब मेरेसे अत्यन्त निराले हैं। उस समयका एकत्व इसके इतना है कि मैं अपने कर्म व कर्मफलको अकेला ही भोगता हू,

जैसा अन्यत्व था उसके अनुरूप यह एकत्व बना। जैसे जो देहाती लोग कितनी ही बाह्य बातो को समझते है कि ये पुत्र, मित्र आदिक सब मेरेसे भिन्न हैं, तो उनके लिए एकत्व क्या बना कि यह जो दिखने वाला देह है उसे माना कि यह मै हू, और यह मै अकेला हू, उनके लिए यह ही एकत्व बना। उन्होने इस देहको भी अन्यत्वमे डाल दिया। ये भी भिन्न, ये भी भिन्न ऐसा माना तो उनके लिए यह चित्परिवार एकत्व बना तब भी उनकी यह आवाज हुई कि यह मैं अकेला हू, कर्मको भोगता हू, कर्मफलको भोगता हूँ, कर्म करता हू। जब आगे और बढकर अन्यत्वभावना किया कि ये कर्म और कर्मफल भी मुझसे अत्यत निराले है, तब उनकी यह अन्तर्ध्वनि बनी कि तब तो मै इन कर्म और कर्मफलसे विविक्त एक ज्ञानस्वभावी आत्मा हू। मै इस ज्ञानको ही अकेले करता हू, भोगता हू। जब और आगे चलकर अन्यत्व बढा दिया, जो क्षणिक परिणतियाँ है वे भी अन्य है, मै तो शाश्वत स्वभाव हू, तब वहाँ यह दृष्टि बनती है कि यह मै उन क्रियावोसे बध, मोक्ष, ससार सर्वकल्पनाजालोसे अतीत एक सहज ज्ञानस्वभावी हू, तब एक इस सहज ज्ञानानदस्वभावके अतिरिक्त मेरा कही कुछ नही है, इसका ही मुझे सहारा है। परभावोके प्रसगमे मेरा गुजारा नही है। यह तो वस्तुस्वरूप ही बतला रहा है। वस्तुस्वरूपमे ही नही है ऐसा कि परसे मेरेमे कुछ प्राप्त हो। यह विचारस्थिति बनती है स्वकी स्वमे ही। यह स्वके द्वारा प्राप्त किया गया। तो इस अपने आपके स्वरूपको जैसे अन्यत्वभावनाका रूप बढता जाता है वैसे ही एकत्व सकोचमे आता है और यो होता हुआ जो सहज एकत्व है वही इसकी दृष्टिमे रहता है। अब आप देखिये कि सभी दृष्टियोका प्रयोजन यह है कि स्वभावके दर्शन करना। एक बात निर्णयमे रख ले कि हमारा प्रयोजन है स्वभावको निरखना। यह स्वभाव निरखनेकी बात हम सर्वप्रकारकी विधियोसे बनाये, निश्चयदृष्टिसे भी निरख सकते है, निमित्तनैमित्तिक सम्बध जानकर निरख सकते है और स्व का उपादान उपादेय भाव करके भी निरख सकते है। जिसका प्रयोजन यह हो जाय कि मुझे तो स्वभावदर्शन करना है। वह करने लगेगा, उसके लिए कोई विवाद नही, लेकिन जिसका भीतरमे लक्ष्य बने, वह ऊपरी चर्चामे रह जाता है और वह एकान्तमे पड जाता है। उनके लिए तो जो कल्याणार्थी जन है, स्वभावदर्शनके इच्छुक पुरुष है वे हर विधियोसे स्वभावदर्शन मिले, इस प्रकारकी ही दृष्टि बनाते है। अन्यत्वभावनाके बलसे यह स्वभाददर्शन किया गया है। इस दृष्टिसे परपदार्थ और परभावकी ओर ग्रहण नही होता। जब शान्तिकी अभिव्यक्ति होती है, स्वभावका मिलन होता है और ऐसा मिलन यह ही धर्मपालन है और यही स्थिति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे आत्माका विकास बढता जाता है। वह अन्यत्वभावना की दृष्टिसे अतस्तत्त्वकी यहाँ उपासना की गई है।

अशुचिभावनादृष्टिका परिणाम—अशुचिभावनादृष्टिमे निजका विचार कीजिये—हाड

माँस, चाम ये सब अपवित्र हैं, शरीर भी अपवित्र है। दोहा भी बोलते है—"दिपै चाम चादर मढी, हाड पीजरा नेह। भीतर या सम जगतमे और नही घिन गेह ॥" इस देहमे ऊपर से चामकी चादर मढी है, भीतरसे देखो तो महाअपवित्र है। देखिये—अशुचिभावना भी काम कर रही है उससे हटानेका। अपवित्र है, गदा है, पर यह अपवित्रता, यह गदगी उसकी दृष्टि मे आ पाती है जिसको वैराग्य हो। ज्ञानभावसे जिसका लक्ष्य हुआ, अपनेको ज्ञानस्वभाव मानते हुए कल्याणकी जिसके तडफ हुई, कल्याणकी ओर जिसका चित्त चलता हो उसको ये चीजें अपवित्र लगती है, पर मोहियोको तो अपवित्र नही जचती। अपवित्र होते हुए भी मोहियोको सुहावना लगता है। कितना सुन्दर रूप है, अरे रूप वह क्या हैं ? सुन्दर कहते किसे है ? सु उन्द् अर, ये तीन शब्द इसमे भरे हैं। उन्दी क्लेदने धातु है। जिसका अर्थ है क्लेश देना। जो भली प्रकारसे इस जीवको क्लेश दे, कष्ट दे उसे कहते है सुन्दर। यह तो इस सुन्दर शब्दका अर्थ है। ऐसा तो सुन्दर है, लेकिन इस अर्थमे तो सुन्दर नही नजर आता। तो जब ज्ञानभावका उदय होता है तो यह अशुचिपना उसकी दृष्टिमे नही रह पाता। और जिसके रागभाव नही अथवा कहो कि अपने ज्ञानस्वरूपकी सुध है, कल्याणकी दिशाका जिसे ज्ञान है—कल्याण यही है कि ज्ञान ज्ञानभावमे रहे। ससारके सकट उसके टल जायेंगे, चारो गतियोके दु ख उसके न रहेगे, जन्ममरणकी परम्परा नष्ट हो जायगी। जिसको अपने आपके भीतर प्रकाशमान शुचि तत्त्वके दर्शन हुए उसकी ही अशुचिभावना कार्यकारी है, अन्यथा जैसे किसी रास्तेसे चलने वाला कोई पुरुष रास्तेमे दोनो तरफ विष्टा गोबर आदिका ढेर पाये तो उससे ग्लान होकर क्लेश मानता है, इसी प्रकार यह अशुचिभावना भाने वाला पुरुष भी सब चीजोको अशुचि देखकर क्लेश तो पायगा ही, लेकिन अपने आपके भीतर जो शुचितत्त्व पडा है उसके दर्शन हो जानेसे वह अशुचिभावना उसके लिए धार्मिक रूप बन गई। जिसको अपने भीतरकी पवित्रताका, शुचिभावका दर्शन नही हुआ उसकी अशुचिभावना भी कार्यकारी नही बन सकती है। तो इसको कहते है शुचिस्वभावभावनादृष्टि।

शुचिस्वभावभावनादृष्टिका बल—शुचिस्वभावी जो यह आत्मतत्त्व है अमूर्त ज्ञानमात्र इसमे कहाँ कालिमा लगी ? कहाँ इसमे किसी परका सम्बध है ? वह तो ज्ञानमात्र अमूर्त शुचि तत्त्व है। भले ही विधान कुछ हो, निमित्तनैमित्तिक भाव है, उपाधि है, किन्तु जब यह अपने ज्ञानपरिणमनको अज्ञानरूप बनाता है तब ही तो इसकी अपवित्रतायें चल रही है। बना कैसे ? वह यद्यपि विधानपूर्वक बना, लेकिन बना कौन ? यही एक अशुचिरूपमे परिणमता। तो यह जीव तब अशुचिरूपमे परिणम जाता है। इसकी अपवित्रता है विकाररूप तब इसका सम्पर्क पाकर यह मेरा फैला हुआ देह अणु किस तरहका रूप धर लेता है ? हड्डी, चाम आदिक रूप इस जीवके सम्पर्कसे। पहिले ये देह अणु अपवित्र न थे। जीवके सम्पर्कसे

शरीर बना, शरीरमे हाड-मास आदिक बने। तब इस शरीरके हाड-मास आदिक अशुचि पदार्थोंके बननेमे निमित्त अशुचि जीवको समझिये। तब मूलमे अशुचि कौन रहा ? अशुचि पदार्थके बननेमे निमित्त अशुचि जीवको समझिये। तब मूलमे अशुचि कौन रहा ? देह या जीव ? जीव। जीव भी क्या ? जीवका खुदका गदा भाव। अपवित्र क्या है दुनियामे ? अपवित्र है मोह। ये नाली, ये गदगी, ये कूडा, कचरा, गोबर, विष्टा आदि कुछ भी गदे नही हैं। लोग इन्हे गदा कहते है, इनको देखकर नाक भौह सिकोडते है, पर ये कुछ भी गदे नही हैं। और फिर ये गन्दे बने किस प्रकार ? इस मोही जीवके सम्पर्कसे यह देह बना और इस देहके सम्पर्कसे ये गदगी बनी। तब मूलमे गदा कौन रहा ? मूलमे गदा है इस जीवका मोह भाव। लोग बाहरी चीजोको गदा समझकर नाक भौह सिकोडते है, पर अपने आपमे जो एक भ्रम छाया है परको निज जाननेका, निजकी सुध भूलनेका, तो यह कितनी बडी अपवित्रता है ? इस अपवित्रतापर कुछ खेद नही करते। तो ऐसे इस अपवित्र व्यवहारसे हटना और शुचि ज्ञानस्वभावकी भावना करना—यह है शुचि ज्ञानभावना दृष्टि। ये मलमूत्र आदिक लोक मे जितने अपवित्र पदार्थ नजर आते है इनका कारण है शरीर, वह अशुचि पदार्थ है और शरीरग्रहणका कारण है रागद्वेष मोह। तब यह अशुचि भाव और इन रागद्वेषादिक अशुचि भावोका भी कारण है अज्ञान परिणाम। जिसे कहते है स्वपरमें एकत्वका अध्यवसाय। देखो कुछ अपराध-सा नही मालूम पडता जीवको। जीव यह कहेगा कि हम किसीका क्या करते हैं ? अपने आपमे ही परको 'यह मैं हू' ऐसा मान लेता हू। मैं दूसरेपर तो विपदा नही ढाता। मेरा अपराध क्या है ? कोई बडा कठिन अपराध तो नही है। मैंने अपने आपमे परमे स्वकी कल्पना कर ली है, कहने सुननेको तो कोई ज्यादा अपराध नही लौकिक जनोकी दृष्टिसे, मगर यह अपराध इतनी बडी विडबनाका कारण बन गया कि इस जीवको पेड पौधा, पशु तिर्यञ्च आदिक पर्यायोमे जन्म लेना पडा। इतनी विडम्बना बन गई। इसका कारण क्या है ? बस यही कि निजको पर जाना, परको निज जाना। यह अपराध कितना कठिन अपराध है, यह कितना अपवित्र भाव है ? इससे हटकर शुचिस्वभाव ज्ञानस्वरूपकी उपासना करना सो शुचि स्वभाव भावना है।

निरास्रवभावनादृष्टिका परिणाम—अपने कल्याणके लिए मुख्य काम यह है कि अपने आपको हम किस प्रकारसे समझें कि हमारे सकट न रहे ? बडे ध्यानसे सुननेकी बात है। यदि अपने आपके आत्माकी बात न समझ सके तो आप बाहरी विकल्प करके धर्म साधनाके लिए कितना ही कष्ट करें, मगर आपको कर्मनिर्जरा और शाति नही मिल सकती। यह व्यवहारधर्म हमारे निश्चय धर्मके लिए एक बाह्य साधन है। तो हम अपने लक्ष्यको तो समझे नही और बाहरी बाहरी परिश्रममे ही लगे रहे तो मोक्ष जैसे मिलता है वह बात नही

मिल सकती। इस कारण बडा समय लगाकर तन, मन, धन, वचन, सब कुछ न्योछावर करके भी अपने आपके अन्दरकी बातको स्पष्ट समझ लेना चाहिए। मैं क्या हू ? तो यह जीव अपनेको यो अनुभव करता कि मै यह ही तो हू जो प्रेम कर रहा हू, द्वेष कर रहा हू, मोह कर रहा हू, विचार कर रहा हू, मनुष्य हू, ऐसी इज्जत वाला हू आदिक, लेकिन ये सब अज्ञानभरी बातें है। मैं तो वह पवित्र पदार्थ हू कि जहाँ रागद्वेषादिक अपवित्रताओका सद्भाव नही। मैं देख रहा हू निश्चयदृष्टिसे अपने सहजस्वरूपको। उस सहजस्वरूपमे राग द्वेषादिक नही है। इसे कहते है आश्रय। मेरा निराश्रय स्वरूप है, विषय कषायादिक भाव होना मेरा स्वरूप नही है। ऐसे निराश्रय आत्मस्वरूपकी जो दृष्टि करता है वही अखण्डध्रुव आत्माको पाता है और जो अखण्ड निज ध्रुव आत्माको पा लेगा उसके सम्यग्दर्शन होगा। बहुत जगह पढते है आप कि सम्यक्त्वके बिना मुक्ति नही मिल सकती। सम्यक्त्व अवश्य चाहिए और उसके बाद सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये भी जब पूर्ण हो जाते हैं तो साक्षात् मुक्ति मिलती है। सम्यक्त्वकी कितनी महिमा है ? सम्यक्त्व बिना यह मनुष्यजीवन बेकार है। मै किसलिए मनुष्य हू ? खाना पीना तो पशु पक्षियोंके असज्ञी जीवोके भी होता है। निद्रा, भय, मैथुन आदिक पशुओमे भी होता है। मनुष्योने फिर कौनसी बडी बात कर ली ? कोई कहे कि पशु पक्षी धन नही जोड पाते, मनुष्य जोड लेते है तो इसमे तो मनुष्य बडे बन गए। अरे मनुष्यने कहाँ धन जोडा ? अपने आत्माके स्वरूपको देखो वहाँ कहाँ धन चिपटा हुआ है और जो जड है वह बाहरी चीज है, यो ही मिट जाने वाली बात है। उस धनसे नफा क्या मिलेगा सो बताओ ? थोडी देरको यह कह लो कि लोग कहेगे कि अच्छे सम्पन्न हैं, मगर वे कोई हमारे प्रभु हैं क्या, जिनसे हम कुछ कहलवानेके लिए सारा जीवन सकटमे डाल बैठते हैं ? उन्हे हम क्यो खुश करें ? क्यो हमे दुनियामे नाम करना कि कोई जाने कि मैं क्या हूँ ? अरे मैं आज यदि मनुष्य न होता, अन्य किसी पर्यायमे होता तो मेरेको फिर कौन जानने वाला था ? तो यशकी चाह, नामकी चाह, धनी बननेकी चाह—ये सब बेकार बातें हैं। ज्ञानको ज्ञानस्वरूपमे समवायें। बडे-बडे तीर्थंकरोंने छह खण्डके वैभवको त्यागा, चक्रवर्तियोंने सब कुछ त्यागा और अपने मात्र केवलज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको ही अपनाया तब उन्हे सिद्धि प्राप्त हुई। तो अखण्ड ध्रुव निज आत्माका ज्ञान, श्रद्धान और उस ही स्वरूपमे रमण यही हुआ रत्नत्रय। यह ही हमारा सच्चा वैभव है। बाहरी बातोको वैभव न समझिये, उन बाहरी चीजोसे मेरा कुछ भी हित होनेका नही है।

निरास्रव स्वरूपका दिग्दर्शन—मेरा स्वरूप है निरास्रव। अज्ञानमय जो रागद्वेष मोह भाव है, इसको आस्रव कहते है। "आस्रव दुःखकार घनेरे। कुछ वन्त तिन्हे निरवेरे।" आस्रव घोर दुःखदायी है उनका निवारण करो। यहाँ जरा-जरासी बातोको आपत्ति मान लेना और

उनको अलग करनेके लिए निरन्तर व्यग्र रहना यह कोई भली बात नही है। अरे ये तो पर-पदार्थ है, ये छिदे-भिदे, टूटे-फूटे कुछ भी हो, इन बातोसे इस मुझ आत्माका कुछ भी सुधार अथवा बिगाड नही है। अपने स्वरूपको देखो। यहाँ विषयकषायके भाव आयेंगे तो बिगाड है और रागद्वेष मोह आदिके भाव न आयेंगे तो सुधार है। भगवानकी भक्ति आप किसलिए करते ? इसीलिए तो करते कि भगवानके वीतराग सर्वज्ञ स्वरूपको निरखकर मैं भी अपने आपके स्वरूपको पहिचानूं और प्रसन्न हो जाऊँ। आत्मस्वरूपकी पहिचान बिना कोई प्रसन्न नही रह सकता। प्रसन्नके मायने निर्मल। मलरहित तब ही बनेगा जब वह आत्माके निर्मल स्वभावको पहिचानेगा। तो निरास्रवभावनाकी दृष्टिमे कैसी दृष्टि बनती है—यह चर्चा कर रहे है। मोटे रूपसे भी विचार लो, जब आप यह सोचते है कि मैं इनका पिता हू तो इस विकल्प का फल क्या मिलता है ? जैसे भी लडकोको सुख मिले, आप उस प्रकारका काम करते हैं। जब आपने अपनेको मनुष्यरूपमे माना तो आप मनुष्योके लायक जो काम है सो करते है। तो जैसी अपने आपकी श्रद्धा बन गई वैसा अपने द्वारा काम होगा। मै शुद्ध हू, अखण्ड हू, सहजस्वरूपसे हू, हू सो ही हू, ऐसे अखण्ड ध्रुव निज तत्त्वमे अपना कदम बढाना, उसका लक्ष्य रखना, उसका आश्रय करना, यह है सम्यक्त्वका कारण। यही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के समान जगतमे और कोई श्रेयस्कर पदार्थ नही है और मिथ्यात्वमे समान जगतमे कोई अश्रेयस पदार्थ नही। तब मिथ्यात्वको छोडो और सम्यक्त्वको ग्रहण करो। इस ही मे आत्मा का कल्याण है। इसके लिए क्या करना होगा ? पहिले तो यह श्रद्धा कर ली कि धन वैभव जड तुच्छ है। यदि यह धन वैभव मिला है तो इससे अपने और परके उपकार करनेका काम बना लें। वास्तविक उपकारका काम तो धनसे बनता नही, फिर भी दया, दान, धर्म आदिक मे लगाकर इसके पानेको सफल बना लें, इससे लाभ कुछ न मिलेगा। सब यही छोडकर जाना होगा। एक कविने बताया है कि हमे तो यह जचता है कि सबसे बडा दानी तो कजूस है। कोई प्रश्न करे कि कजूस किस तरह सबसे ऊँचा दानी बन गया ? तो यो बन गया कि उसने अपने ऊपर अपना पैसा नही खर्च किया और साराका सारा धन एकदमसे दूसरोंके लिए छोड गया। तो उसे तो सबसे बडा दानी समझना चाहिए। ऐसी एक अलंकारिक भाषामे कृपणकी निन्दा की है। हमे शरीर मिला है तो शरीरकी कजूसी क्यो करें ? दुखियोको देखें तो जहाँ तक अपनेमे बल है उनका उपयोग कर लें। मन मिला है तो मनमे कजूसी क्यो की जाय ? अच्छा सोचा जाय, सबको सुखी सोचा जाय, सबका भला सोचा जाय। वचन मिले है तो इनकी कजूसी क्यो की जाय ? अच्छे वचन बोले, कभी गुस्सा भी आया हो तो वचनो को सम्हालकर बोलें—गुस्सामे आकर खोटे वचन न बोले। इसी तरह धन प्राप्त हुआ है तो इसको भी परोपकारमे लगावें, धर्मसाधनामे लगावें। तो जो मिले है अध्रुव पदार्थ उनका

ऐसा उपयोग करें कि उनमे राग न रहे और वीतराग विज्ञानघन अखण्ड ध्रुव चैतन्यमात्र भगवान आत्माका लक्ष्य बना सकें, उस प्रकारसे अपनी प्रवृत्ति बनावें। तो यह मैं आत्मा निरास्रव हू, रागद्वेप मोह आदिक आस्रव मेरे आत्मामे नही है।

स्वरूपदर्शनकी प्रेरणा—यहाँ स्वरूपको देखा जा रहा है। यद्यपि आजकी स्थितिमे मुझमे रागद्वेप मोह आदि चल रहे है, लेकिन मेरे स्वरूपमे तो नही है। जैसे पानी गर्म हो गया अग्निका सयोग पाकर, लेकिन पानीमे गर्मीका स्वभाव तो नही है। स्वभाव तो ठडा ही कहा जायगा, ऐसे ही आत्माके स्वभावमे रागद्वेप मोहादिक नही है। तो यह मैं आत्मा निरास्रव हू। अब जो मुझमे रागद्वेप मोह आदि उत्पन्न होते है उसका कारण है द्रव्यकर्मका उदय। इस कारण निमित्तरूप बतला रहे है, कर्ता कर्मरूप नही। तो जब रागप्रकृतिका उदय हुआ, वह कर्मकी अवस्था हुई, लेकिन ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि यहाँ इस तरह की कर्म अवस्था होते सन्ते आत्मामे राग परिणमन होता है। हुआ क्या ? सबसे पहिले कि वह कर्मरूप ज्ञानमे आया। ज्ञानमे आते ही ज्ञेय न बन सका यह जीव। अपने ज्ञानसे च्युत होकर उसको अपनाने लगे तो यो जो रागपरिणति बनी उसमे कारण द्रव्यकर्मका उदय है, इसलिए यह नैमित्तिक भाव है। यह मेरा स्वरूप नही, मेरी वस्तु नही। और इसमे जो राग-द्वेष मोह उत्पन्न होता है वह नये कर्मबधका कारण बनता है। यद्यपि नवीन कर्मबधका कारण उदयगत कर्म है, फिर भी उदयगत कर्ममे ऐसा निमित्तपना आया कि वह नवीन बधका निमित्त बन जाय उसका कारण है रागद्वेप मोह। तब सीधे आस्रव रागद्वेप मोह आदि ही तो हुए। अब अपने बारेमे सोचो कि जितने क्षण हम रागद्वेप मोहभावमे रहते हैं उतने क्षण हम बेकार है, बेहोश है, बरबादीका काम कर रहे है और जब रागद्वेप मोह आत्मामे न छाये, उपयोगमें विज्ञानघन अतस्तत्त्व आया हुआ है। तो वह क्षण सफल है। तो आस्रवका मूल कारण है अज्ञान। रागादिक भावोसे निराला मेरे आत्माका स्वरूप है, ऐसे शुद्ध आत्माके स्वरूपकी भावना करे। जैसे किसी दुष्ट मित्रसे पाला पड गया हो तो उससे छुटकारा पानेका उपाय तो यह ही है कि उसकी दुष्टता, उसका बर्ताव जैसा कि खोटा है वह सही जाननेमें आये और उससे उपेक्षा बन जाय। तो सबसे पहिले उपेक्षा ही काम देती है। तो यो शरीरका, कर्मका कितना पाला पड गया है, अब इनमे हमारा छुटकारा हो तो उसके लिए पहिले उपेक्षा आवश्यक है। शरीर जड परमाणुओका सयोग है। उसमे मेरा स्वरूप नही है। इस शरीरकी क्रियाके कारण मेरे आत्मामे क्रिया नही होती। मेरे आत्माकी क्रियाके कारण शरीरमे क्रिया नही होती। जो कुछ देखा जा रहा, समझा जा रहा कि आत्माकी क्रियासे सोचनेसे ही तो शरीर चला सो, ऐसा इन दोनोमे परस्पर निमित्तनैमित्तिक योग है, पर कोई किसी दूसरेका करने वाला नही है। तो शरीर कर्म आदिक ये सब मेरेसे निराले है, भिन्न है, उनसे उपेक्षा

की ओर रागादिक भाव मेरे स्वरूपसे निराले है और मेरे स्वरूपसे ये उत्पन्न नही हुए। यो रागादिक भावोमे उपेक्षा की। तो यह उपेक्षा हमारे वैराग्यका कारण बनेगी। जब तक हम इनमे लगे है, कर्मके उदयमे प्रेम करते है, इनसे भिन्न अपनेको सोच नही पाते है तो ऐसा काम कैसे बन सकेगा जिससे कि कर्म कट जाये। एक ही निर्णय रखें अपने आपमे वर्तमान परिस्थितिमे कि मै यदि अपने रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपको अपनाऊँ, यह मै हू और कुछ नही हू और चेष्टाएँ जो होती हो, सो हो, इस तरह उन सब चेष्टाओसे पृथक् अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि दे तो यह सम्यक्त्वका कारण है।

सम्यक्त्वकी श्रेयस्करता—देखिये—सम्यक्त्व बिना इस जीवका तीन कालमे भी कल्याण सम्भव नही है। अत उद्यम करें ऐसे तत्त्वज्ञानका कि जिस तत्त्वज्ञानके बलसे सम्यक्त्व उत्पन्न हो। एक ही बात यदि जीवनमे कर सके तो आपने सब कुछ कर लिया। और बातोके लिए इतना महत्त्व न दें, जैसे कि जब मदिरमे स्वाध्याय करते है, सामायिक करते है, शास्त्र सुनते है और उस समय ख्याल आ जाय कि हम घरके बाहर अपना लोटा रख आये हैं तो आप यहाँका काम छोडकर उस लोटेको वहाँसे उठानेके लिए पहुच जायेंगे। अब देखिये आपने महत्त्व किसको दिया ? उस बाह्यपदार्थ लोटेको। अपने आत्मपदार्थको महत्त्व आपने नही। जब आत्माकी चर्चा चल रही हो, आत्मदृष्टि डालनेका कुछ वातावरण बन रहा हो, ऐसे समयमे दो-चार रुपयेकी चीजमे (बाह्य वस्तुमे), उपयोग जाय और उसे प्राथमिकता दे, और चाहे आत्माके सारे बिगड हो जायें, वह लोटा न गुमे, चाहे मै मरकर निगोद बनू, तो इस बरबादीकी फिक्र नही, और बाह्यवस्तुमे हेर-फेर हो, उसकी फिक्र बनती है तो ये आत्मा की प्रक्रियायें नही। आत्महित चाहते हो तो आत्माको और आत्मज्ञानको महत्त्व दो, बाहरी बातोको महत्त्व न दो। जब कभी ज्ञानी जन, पडित जन, त्यागी जन कोई आते हो तो घरके काम सब गौण हो जायें, ऐसी प्रकृति यदि बन जाय तब तो कहा जायगा कि आपको अपने आत्मज्ञानका महत्त्व ज्यादा है। और ज्ञानी जनोंसे तो उपेक्षा रहे और घरके दो-चार बच्चोसे अगाध प्रेम रहे, वह तो बेकार वाली जिन्दगी है। ससारचक्रमे घूमते रहनेकी प्रक्रिया है वह सब। तो अपने आपके आत्माका बोध कीजिए, मै आत्मा क्या हू ? देखिये जो पदार्थ होता है उसमे स्वभाव जरूर होता है। स्वभाव बिना वस्तु नही। आत्मा है, उसमे भी कोई स्वभाव तो है ही, क्योकि स्वभाव बिना वस्तु नही होती। तो आत्मामे क्या स्वभाव है ? चैतन्य, ज्ञान दर्शन जानना देखना मात्र। तो देखो यह चैतन्यस्वभाव, अब इस स्वभावको हम कुछ विवरणके साथ समझाना चाहे तो उसमे भेद करके समझाया जायगा कि इस आत्मामे जानना भी है, देखना भी है, आनद भी है। अनेक बातें बतायी जायेंगी। तो यह कहलाया गुण, और इन गुणोको समझनेके लिए परिणतिकी बात कही जायगी कि देखो जो जानन हो रहा है

यह ही तो ज्ञानका काम है। तो इस तरह फिर उन गुणोकी क्रिया बतायी जाती है, लेकिन ध्यानमे यह रखियेगा कि उन क्रियावोसे अतीत, गुणोसे अतीत यो गुणभेदसे परे अखण्ड एक ध्रुव चैतन्यमात्र भगवान आत्माका विश्वास बनाये। यह मैं हू जिसमे कोई खटपट नही, कोई रागद्वेष आदिक आस्रवभाव नही, ऐसा चैतन्यघन मैं आत्मतत्त्व हू। यो यदि आत्माका विश्वास बन गया तो इस दुर्लभ मानवजीवनकी सफलता है, अन्यथा मनुष्य होना न होना बराबर है। जैसे पशुपक्षियोने विषयसेवन करके जिन्दगी गुजारी, ऐसे ही मनुष्योने गुजारी तो उसमे भलाई कहाँ हुई ? आत्माका कल्याण करें, सम्यक्त्व पैदा करें, तत्त्वज्ञान बनावें, झूठी बाहरी विभूतियोमे ममता न करें। इस ममतासे कोई पूरा नहीं पडता। तो इस ममतासे रहित, रागद्वेष रहित, आस्रवरहित तो आत्मस्वरूप है उसकी दृष्टि बनावें, यह मैं हू, यो निरास्रवभावनादृष्टिसे यह ज्ञानी जीव अविकार अखण्ड चैतन्यमूर्ति भगवान आत्माके दर्शन कर लेता है।

संवरभावनादृष्टिका परिणाम—अब सोचिये—सम्वरभावनादृष्टिमे हमारी किस प्रकार की दृष्टि बनती है ? सम्वरस्वरूप जिस स्वरूपमें कर्म नही आते वह सम्वरस्वरूप क्या ? ज्ञान-मात्र भाव। अपने आपको यदि इस तरहसे निरखना रहेगा कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ मेरे स्वरूपमें नही है तो यो ज्ञानमात्र स्वरूपकी भावनामे आपका उपयोग बना तो वहाँ ज्ञातादृष्टापन ही तो रहा। ऐसा ज्ञातादृष्टामात्र रहनेकी स्थितिमे कर्मोंका आस्रव नही है, तो यह भगवान चैतन्यमूर्ति विज्ञानघन पवित्र आत्मा विकारोसें दूर, सकटोसे दूर, विकल्पोंसे दूर है। इस ज्ञानमे किसी भी सकटका प्रवेश नही है। मैं स्वय सम्वरस्वरूप हू, मेरे स्वरूपके कारण कर्म नही आते, इसलिए मैं सम्वरस्वरूप ही हू। ऐसी अपनी दृढ भावना बनाना, यह कहलाती है सम्वरभावनादृष्टि। मै ज्ञानमात्र हू तो मुझ ज्ञानमात्रमे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायोका प्रवेश ही नही है। ज्ञानमें ज्ञान है, ज्ञानमे क्रोध कहाँसे होगा ? मैं तो ज्ञान-मात्र हू, क्रोधरूप नही हू, फिर जो ये क्रोधादिक कषायें झलक रही हैं उस प्रकारकी प्रकृति का उदय है, वे झलक रही है, तो मैं उनका भी जाननहार रहू, पर मैं उनमे निबद्ध न होऊँ। यो आत्मस्वरूप ज्ञानमात्र अपने आपको चिन्तनमे रखना, यह कहलाती है सम्वरभावनादृष्टि। सम्वरभावनादृष्टि होनेपर सकट नही, कर्मबन्ध नही, आकुलता नही। तो आपका सुख दुख आनन्द सब कुछ आपकी दृष्टिसे मिलता है, बाहरी पदार्थोंसे नही मिलता। तो इतना सुगम उपाय है कि आप अपनी दृष्टिसे ही सब कुछ बना लें, तो ऐसी दृष्टि क्यो नही बनती कि जिसमे आत्मशान्ति हो जाय, आनदमग्न हो जाय, सकटोसे पार हो जाय ? एक दृष्टिकी ही तो बात है, लेकिन जो लोग इस मर्मको नही जानते कि मेरा सारा भविष्य मेरी दृष्टिपर निर्भर है, ऐसा पुरुष अपने स्वरूपसे च्युत होकर बाहरी व्यवहारमे उलझ जाता है। बाहरी व्यवहार

मे क्या उलझते है ? अपने आपमे मचाये गए विकल्पमे उलझ जाते है। उन विकल्पोसे निराला मेरा ज्ञानभावनास्वरूप है, इसकी इस पर्यायमोही जीवको सुध नही रहती। तो अपने आपको ऐसा अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हू। ज्ञानके सिवाय मेरेमे और कुछ स्वरूप नही। ऐसा पवित्र आत्मा है कि वह जानता ही रहे। जाननेके अतिरिक्त अन्य कुछ भी इसका कार्य नही है। तो ऐसा जब ज्ञानमात्र भाव इस ज्ञानके उपयोगमे आता है तो वहाँ कषायोका कहाँ अनुभव है ? क्रोधादिक भाव यदि आते है कर्मके तो वे यो झलक जाते है जैसे काँचमे जिसके पीछे लाल रोगन न लगा हो उसमे भी चीजे झलकती है, मगर पकडी नही जाती, कुछ पता नही पडता। यो ही कर्म अगर झलक जाते हैं, रागादिक कषाय भावोकी झाकी आती है तो वह अबुद्धिपूर्वक रहती है. वह उपयोगमे नही आती। तो यो अपनेको ज्ञानमात्र सम्वरस्वरूप निरखना, जिससे कि कर्मनिर्जरा अपने आप होती है। कर्मको पकडते है, उसके लक्ष्यमे जाते है तो कर्मकी सतान बनती है। अपने स्वरूपको देखेंगे तो कर्मकी सतान नष्ट हो जायेगी। अपने स्वरूपको देखे, मैं ज्ञानमात्र हू, स्वय स्वरक्षित हू, स्वय सम्वरस्वरूप हू तब मैं कोई अधूरापन नही, परिपूर्ण हू, कृतकृत्य हू, मुझे जगतमें कुछ करनेको नही है, एक निज अतस्तत्त्वका अनुभव ही मुझे होता रहे, इसके अतिरिक्त हमारा कोई कर्तव्य नही है।

वर्तमान समागमोकी असारताके परिचयकी महिमा—जीवनमे अपने वास्तविक हित के लिए कुछ चिन्तन करना चाहिए और कुछ कदम बढाना चाहिए। यहाँ जो कुछ समागम मिले है वे अनित्य है, मिटेंगे। इसमे तो किसीको शका नही है। भला आप बतलाओ कि जब आयु पूर्ण होगी, इस भवको छोडकर जाना होगा तब यहाँ जितने विकल्प मचाये जा रहे हैं जितने विकल्पोमे हम परेशान हो रहे है, कर्म बन्ध कर रहे है उसका नतीजा क्या होगा ? जन्म और मरणकी परम्परा। ससारमे कितने तरहके जीव है, उनपर दृष्टि करें और यह समझें कि ऐसे ही हम जीव है, हमारी भी ऐसी गति होती आयी है और अपनेको न सभालें तो ऐसी ही गति आगे होती रहेगी। तब इस समागममे आसक्त होनेसे लाभ क्या है ? जब तक वर्तमान समागमोमे आसक्त होनेका भाव बना है तब तक धर्मकी ओर रुचि नही हो सकती। कोई पूछे कि सर्वप्रथम हमे यह बतलाओ कि धर्मपालन करनेके लिए कहाँसे शुरुवात करें ? तो उसकी शुरुवात यही है कि कमसे कम स्थूलदृष्टिसे इन बाह्य परिकरोके प्रति यथार्थ चिन्तवन कर ले। कोई कहे कि यह तो बाहरी बात है, फिर वास्तविक बात बतलाओ। तो वास्तविक बात बतलानेके लिए, वास्तविक बात समझनेके लिए सबसे पहिले यहाँसे प्रारम्भ कर लीजिए। क्यो प्रारम्भ करना है यहाँ से कि हम जिन तत्त्वोमे लगे हुए हैं, जिन बेकार बातोमे लगे हुए है उनमे कुछ तत्त्व नही है, उनमें लगकर तो जीवनको कुछका व्यर्थ ही खोना

है। जब तक इतना भी न समझेंगे तब तक बुद्धि न उत्पन्न होगी जिससे सत्पथ पाया जाये। तब फिर हमें कहाँ बुद्धि लगाना चाहिए और कहाँ लक्ष्य लगाना चाहिए ? यह तो बडी आसान बात है, मान लीजिये वर्तमान समागम मेरे लिए बेकार हैं।

बाह्य समागमसे हटकर अन्तः आनेका अनुरोध—भैया ! कुछ लगता होगा ऐसा कि इस समय तो इन समागमोंसे हमारी बडी इज्जत होती है, हम लोकमे बहुत बडा अग्रिम स्थान पाते है। कैसे नही इन समागमोंसे मेरा बडप्पन है ? और भलाई है तो इसमे भी सोच लीजिए कि इन समागमोंके खातिर कितनी ही आधीनतायें स्वीकार करनी होती हैं, कितनोंका ही चित्त मनाना होता है, बीचमे कितनी परेशानी उत्पन्न होती है ? धनिक लोगोंको सो आप जानते ही है। धन अधिक होनेसे तो यह जीवन किरकिरा हो जाता है, कितनी चिन्तायें, कितने विकल्प, कितनी जगह फसाव और सुख कितना-सा ? थोडा लोगोंने अग्रिम स्थान दे दिया या भला कह दिया, सुख कितना ? क्षणभरका, और दुःख कितना कि सारे दिन-रात उसी कल्पनामे लग रहे है। ये समागम सारभूत चीज नही हैं। दूसरी बात यह समझ लीजिए कि मरना तो सबको ही पडता है, और जो चीज है उसका अभाव होता नही, यह वैज्ञानिकोसे पूछ लो, किसी भी विद्वानसे पूछ लो। जो चीज है उसका समूल नाश कभी नही होता। तो मैं भी कुछ हू, नही हू, यह बात तो नही है, नहीं हूं तो बडा भला है। सुख दुःख फिर कैसे होगा ? सुख दुःख होते है, ऐसा कोई बीजभूत तत्त्व तो है। जब वह मैं हू तो मेरा कभी नाश न होगा। लेकिन यहाँ यह देखना है कि शरीर तो अलग हो ही जाता है। तो शरीरसे अलग हुआ यह आत्मा आगे किस स्थितिमे रहेगा, उसका भी ध्यान रखना चाहिए। इन दो बातोंके द्वारा पहिले तो आत्मकल्याणके लिए रुचि पैदा कीजिए। मुझे आत्महित करना है, जब आत्महितकी भावना हो जाती है तब यह तत्त्वज्ञानके लिए अपनी बुद्धि लगाता है। क्या वस्तुका स्वरूप है, मेरा क्या स्वरूप है, इन बाह्य पदार्थोंका क्या स्वरूप है, इस अभ्यासमें वह सीखता है, जानता है, कुछ डूबता है भीतरमे। जगतमे ६ प्रकारके द्रव्य है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव अनन्तानन्त है, पुद्गल अनन्तानत है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है, कालद्रव्य असख्यात है, इससे प्रत्येक व्यक्तिगत सभी पदार्थ अन्य सब पदार्थोंसे निराले है। मै जीव जगतके अन्य सब जीवोंसे जुदा हू तथा पुद्गल आदिकसे जुदा तो स्पष्ट ही हू। ऐसा निराला यह मैं जीवतत्त्व हू। जो कुछ मैं करता हू वह अपनेमे करता हू, जो कुछ मैं भोगता हू वह अपनेमे भोगता हू, मेरा सत्त्व मुझमे है। मैं किसी अन्य पदार्थमे न कुछ करता हू, न भोगता हू। मै स्वतत्र एक जीव आत्मतत्त्व हू, ऐसे सर्व पदार्थोंसे निराले अपने आपको निरखना धर्ममार्गमे पहिला कदम है।

अन्तस्तत्त्वके स्वाद लेनेकी भावना—अब यहाँ अपनेमे निरखना है कि वास्तवमे मेरा

स्वरूप क्या है ? मै एक सबसे निराला हू, पर यहाँ जो रागद्वेप आते है, जो विकल्प विचार उठते हैं क्या इन रूप मै हूँ ? नही हूँ, क्योकि मे वह हूँ जो ध्रुव रहा करता हूँ, सदा रहता हूँ। पर ये विचार विकल्प ये सदा नही रहा करते। ये मै नही हूँ। मै इन विचार विकल्पो से निराला केवल एक ज्ञानस्वरूप तत्त्व हूँ। जहाँ अपने आपको ज्ञानमात्र रूपमे निरखा वहाँ आनद भी साथ आ गया, दर्शन भी साथ आ गया और ऐसा ही अपने आपको निरखते रहना कि धीरतारूप चारित्र भी अपने साथ आ गया। अब समझा कि मैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनदका पिण्ड हूँ, लेकिन जब तक मै इस तरह अलग-अलग गुणोको निरखकर देखता हूँ तब तक मुझमे अलौकिक आनद नही प्रकट होता। निर्विकल्प स्थिति बने तो मालूम हो कि ऐसे गुणोकी एक बुद्धि की है समझनेके लिए। वस्तुत तो मै एक अभेद ज्ञानानद पिण्ड हूँ, ऐसे इस अतस्तत्त्वको निरखनेमें जो स्वाद आता है, जो अनुभव होता है, बस वह अनुभव आत्म-हित है। अब अपनी जिन्दगीमे जो कुछ हम किया करते है उनपर निगाह करके सोचिये कि मैं अपनी ऐसी स्थितिमे कितने क्षण आता हू और इस स्थितिसे अलग रहकर मैं कितने क्षण बाहरी विकल्पोमे लगा रहता हू ? बडा अन्तर ज्ञात होता है, और कभी तो यह विदित होगा कि मै अपने अतस्तत्त्वमे लग कहाँ पाता हू। तो ऐसी भावना भावो कि मेरेको इस अन्तस्तत्त्व का ही स्वाद रहे, विकल्पोका स्वाद मुझे न चाहिए। जितने भी परपदार्थोंका विषय करके विचार चलते है वे सब विकल्प है, मुझे परपदार्थोका ज्ञान, विषय, दृष्टि, लक्ष्य ये कुछ न चाहिएँ। मेरेको तो अतस्तत्त्वका स्वाद ही चाहिए। यह धुन जिसके बनती है, यह निर्णय जिसके बनता है धर्ममार्गमे वह आया, यो समझिये—यहाँ किसीका कोई शरण नही है। कितना ही किसीसे राग बढाओ, मोह बढाओ उससे अपनेको कोई सुधार होनेका नही है, बल्कि राग करते है तो यह विकल्प हमे तत्काल मथित कर रहा है। इन रागादिक विकल्पो मे कुछ सार नही है। एक अतस्तत्त्वकी भावनामे ही सार है। यह स्वय विरागस्वरूप है। जब हम अपने सहज ज्ञानस्वभावको देखते है तो वहाँ रागविकार दृष्टिगत नही होता। इसका स्वभाव ही स्वय रागसे अलग है, ऐसे विराग परिणामस्वरूप अतस्तत्त्वकी भावनासे कर्मनिर्जरा होती है, शान्ति मिलती है, जन्म मरणके संकट दूर होते है तो ऐसा कोई जो बडा अलौकिक उपाय है उसके करनेमे लगें।

शान्तिका सत्य उपाय आत्मदर्शन—शान्ति तो सभी लोग चाहते है, मगर शान्तिका जो सत्य उपाय है उसमे लगे बिना शान्ति नही हो सकती। बाहरी पदार्थोंमे चित्त गया तो तत्काल अशान्ति है, खूब अनुभव कर लीजिए। किसी समय आप सब भूल जायें— मेरा कही कुछ नही, देह भी मेरा नही है। मेरा तो ज्ञानानदस्वरूप है। जो स्वरूप है, जिसमे यह मैं रचा-पचा हू। जिसमे मेरा स्वभाव बसा हुआ है, ऐसे अलौकिक चैतन्यमूर्ति भगवान अ ८.

ही दृष्टि हो और सब विकल्प भूल जायें तो उस समय यह स्वय ऐसे आनदका अनुभव कर लेता है। इसे ऐसा दृढ निर्णय होता कि मेरे आत्मस्वभावकी उपासनाके अतिरिक्त मेरे लिए कोई शरण नही, सहाय नही। अत जीवनमे इस बातका अभ्यास करना चाहिए कि मेरे लिए शरण कुछ नही है। मै किसीमे राग और मोह न करूँगा। मेरी प्रीतिके योग्य मेरा भगवान आत्मतत्त्व है, मेरी प्रीतिके योग्य ससारमे मेरे आत्माको छोडकर अन्य कोई पदार्थ नही है। यदि इतनी श्रद्धा न हो, इतना भाव, धुन न बन सके तब धर्म कैसे कहा जा सकता है ? धर्म मे लगनेके लिए कुछ भी शुभोपयोगके उपाय किये तो जहाँ जिसमे शुभ राग है, फिर भी धर्म होगा विराग ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमे, और एतदर्थ शुभोपयोग किया जाता है। शुभोपयोगको ही कोई सीधा धर्म मान ले तो उसका आगेका ध्यान रुक गया। यह तो एक कवचका रूप है। अशुभोपयोग, खोटे विषयकषाय इनकी चिन्ता न आ पाये तो इसके लिए शुभोपयोग कवचका काम करता है। मेरे ऊपर व्यसनोका, दुर्भावनाओका आक्रमण न हो जाय, इसकी रक्षाके लिए हमारा शुभोपयोग समर्थ है। सो आप जानते ही होंगे कि जब आप पूजनमे, सामायिकमे, भक्ति मे, साधर्मी जनोके मिलनमे उपयुक्त होते हैं तो ये खोटे विषयकषाय आपके चित्तमे नही आ पाते, ये कवच है। यह पात्रता बनी है, मगर पात्र बनकर हम आगे बढेंगे तो एक ज्ञानस्वभाव के आलम्बनसे ही बढ सकते है। धर्म वास्तवमे स्वाश्रित है, पराश्रित नही, लेकिन ऐसा शुभ राग जो हमे पात्र बनाये रखे, विषयकषायमे न पटक दे, वह भी उपचारसे धर्म कहा जाता है और वह करने योग्य है, उन्हे छोडकर हम आगे बढ न सकेंगे, लेकिन दृष्टि इतनी समीचीन होनी चाहिए कि मेरा अत प्रकाशमान कारणसमयसार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्माका आलबन ही वास्तवमे धर्म है। जिसने यह समझ लिया वह पार हो जायगा। मै रागादिक विभावोंसे परे ही रहने वाला हू, और रागादिक आते है, ये नैमित्तिक भाव है, कर्मविपाकके सन्निधानमे आते है और आते ही तत्काल दूर हो जाते हैं। कोई भी रागभाव दूसरे क्षण नही ठहरता, लेकिन ये मोही जीव प्रतिक्षण होने वाले रागादिक परिणामोमे अपनी एकता बाँधे हुए हैं। इस कारण उन्हे ऐसा लगता है कि यह ही तो मै हू, जो रागादिक कर रहा हू, जो बोल रहा हू, जो व्यवहार कर रहा हू, यह ही तो मैं हूँ। यद्यपि इनकी गति हो रही है व्यवहारमे, लेकिन मैं तो वह हूँ जो सदाकाल वही रह सकता होऊँ, ऐसा यह मैं सहज ज्ञानानदस्वभावी हूँ।

अध्रुवसे उपयोगको हटाकर ध्रुवमे उपयुक्त होनेमे श्रेयोलाभ—ये रागादिक आये है मिटनेके लिए। इनमे हमे अपने विकल्प नही बनाना है। जैसे कोई मिट रहा हो, नष्ट होता हो तो उसकी प्रीति करनेसे लाभ क्या ? इसी प्रकार ये रागादिक भाव आते हैं प्रतिक्षण मिटनेके लिए, उन मिटने वाले रागोके प्रति हम विकल्प बनायें तो बस यह हमारी अज्ञानता है। राग आता है तो उसके भी जानकार रहे। कैसे विपदा आयी है मुझे, कैसे विपाक आया

है मुझे, इस विकल्पमें बरबाद होना पड रहा, यह विकल्प उपादेय नही है, यह हेय है। यह तो जिस किसी भी प्रकार छूटे छोड देना चाहिए। उपादेय तत्त्व तो अन्तःप्रकाशमान यह चैतन्य मूर्ति भगवान आत्मा है और ये विकल्प भीतर उठने वाले विचार, दूसरोका विषय करके होने वाली मुझमे तरगें, ये सब मेरेको मथनेके लिए उत्पन्न होते है। इनमे विश्वास न करे। भीतर ही एक छटनी पैदा करना है कि मेरा अन्तस्तत्त्व यह तो अहितके लिए है, विश्वास्य है। और जितने विकल्प उठते है मुझमे उठते है, परका विषय करके जितने भी विकल्प उठ रहे है वे सब हेय है, उनमे लगनेसे मेरी बरवादी है, ऐसा निर्णय हो तब धर्ममे हमारी प्रगति कहलायी समझिये—ऐसा ज्ञान करने वाले जानते हैं कि रागादिक आये है, मेरी बरबादी करनेके लिए, ये मिटेंगे। तो जो कर्म मेरेमे बसे हुए थे वे तो झड रहे है। अब इस समयमे हम एक कौशल करके एक अपनी चतुराई बनायें कि नवीन कर्म न बधें। ये राग आये है मिटनेके लिए। राग आनेसे कर्म झड ही रहे है, क्योकि कर्मोका उदय आये बिना राग होता नही अर्थात् कर्म झडे बिना राग होता नही। जिस जिसकी प्रकृतिसे झडना होता है उस कालमे उस प्रकारका यह राग होता है। तो राग हो रहा है यही तो यह सूचना दे रहा है कि कर्म झड रहे हैं। अब चतुराई यह करनी चाहिए कि नवीन कर्म मुझमे न आ सकें, यह चतुराई होगी उस रागको न पकडनेमे, उसको ज्ञेय बनानेमे। मैं चैतन्यस्वरूप हू मुझमे कर्म विपाककी झलक आ ही जायगी, मगर वह ज्ञेय है, वह उपादेय नही है, मेरे परिणमनके योग्य नही है, ऐसी बुद्धि जिसके भीतर बनी उसके लिए फिर यहाँ प्रकटरूपसे सारा मायाजाल समझमे आ जायगा।

मायाका शृङ्गार न करके आत्मशृङ्गारके अन्तस्तत्त्वका स्वाद लेनेकी प्रेरणा— देखिये—मायाजाल ही तो यह सब है। जो कुछ यहाँ दिख रहा है, यह शरीर दिख रहा है तो यह शरीर वास्तविक चीज नही है। इसमे वास्तविक चीज है एक-एक परमाणु। जो कभी भी मिट नही सकता उन परमाणुओका समूह बनकर एक शरीररूप मायाजाल बना है, इसमे कुछ सार तो नही। और भी जगतमे जितने पदार्थ दिखते है ये सब मायाजाल है। ये पदार्थ भी अनेक परमाणुओके पिण्डसे, पुञ्जसे, सघातसे बने, यह भी मायाजाल है और जो यह मै समझमे आ रहा हूँ—मै इस गाँवका रहने वाला हूँ, मै व्यापारका धनी हूँ, मै इतने सबका स्वामी हूँ, मै चतुर हूँ, मै बुद्धिमान हूँ आदिक रूपसे जो कुछ समझमे आ रहा, यह भी मायाजाल है। यह कैसे मायाजाल है? अकेले पदार्थको माया नही कहा। जहाँ अनेक पदार्थ मिलते हैं उसे माया कहते है। तो यहाँ जो विचार उत्पन्न हो रहे है ये मुझ एकसे उत्पन्न नही हो रहे है। ये हो रहे है जीवमें, लेकिन कर्मनिमित्त और सहकारी कारण जब प्राप्त होता है तो इन विचारोका निर्माण होता है। सो ये विचार विश्वासके योग्य नही है,

ये सब मायाजाल है । तो देखिये—जगतमें क्या हो रहा है ? माया मायासे भिडकर, मायामें विश्वास करके मायारूप कार्य हो रहे है । ये परमार्थभूत कुछ नही है । एक दृष्टि तो यह मिटा दें और अन्य कर्मोंपर दृष्टि रखकर यह सोचा जाता है कि मैं इनमे कुछ ठीक कहलाऊँ, मै इनमें कुछ हू, अरे मै मै ही हूँ, मै आकाश तकमें भी नही हूँ, फिर इनमे मै कुछ रहनेका क्यो ख्याल बनाऊँ ? देखिये आकाशमें मै हूँ, यह है व्यवहारदृष्टिसे । निश्चयत. आकाशके प्रदेशमें ही आकाश है, मेरे स्वरूपमें ही मैं हूँ, अन्यके स्वरूपमें ही वे अन्य हैं । तो मेरा कोई किसीमें नही है, तो किसीमें दृष्टि रखकर एक आकर्षण बनाना और उस व्यवहारके कारण अपने कर्तव्यकी बात बनाना—ये सब विकल्प है । विकल्पोका स्वाद मत लें, स्वाद लें अपने अत-स्तत्त्वका । मायाका स्वाद न चाहो, स्वाद लो परमार्थ अन्नस्तत्त्वका ।

ज्ञानमात्रभावनाके अतिरिक्त अन्य विकल्पोकी अश्रेयस्करता—अब मोटे रूपमे इतना समझ लीजिए कि जब घरमे रहते है, शरीरका शृङ्गार करते है, एक दूसरेमे राग व्यवहार करते हैं, धन सम्पदाका पक्ष लेते है—इस भाई को हमसे अधिक मिला, मेरेको इनसे कम धन मिला, तो यह सबका एक मोहमे स्वप्न है । इसमे सारभूत बात कुछ नही है । यहाँ झगडने की बात क्या, अगर कुछ धन कम हो गया या धन कम मिला तो धन पैदा करनेकी कुञ्जी जिसे मान बैठे है वह नही है अनेक लोग परिश्रम करते हैं तो शरीरसे, मनसे, धन भी लगाते है फिर भी नुक्सान आता है, आय नही होती है, परेशान बने रहते है और किसीको एकदम अनायाससे कहीसे कुछ भी प्राप्त हो जाता है । तो धनकी वास्तविक कुञ्जी ये कुछ नही है । धनकी वास्तविक कुञ्जी तो पुण्य है । पुण्य है तो चाहे कुछ भी धन न मिला हो फिर भी ढेरो धन प्राप्त हो जाता है और फिर वह धन भी क्या है ? ढेला पत्थरोका समूह है, यह वैभव मेरेसे अत्यन्त पृथक् है, यह मेरे लिए आनन्दका कारण नही है । मेरा स्वभाव ही मेरे ज्ञानमे आये तो वह आनन्दका स्रोत है । आनन्दका उपाय सिवाय ज्ञानके और कुछ नही है । कोई यह ही तो कहेगा ज्ञानमे रत रहने वालेको कि इसको कोई पूछता ही नही है । अरे तो पुछवाने की क्या जरूरत है और कौन किसको पूछता है ? अरे खुद खुदका आनन्द लो, खुद खुदसे बात कर लो, खुद खुदमे रहकर तृप्त हो लो, यह है तेरी चतुराई । और बाहरके कोई विकल्प करना यह है तेरी बरबादी । तो अपने आपका यह निश्चय किए बिना कि मैं ज्ञानमात्र हू, मैं कुछ भी अशान्तिमे न बतूं । फिरसे ध्यान दीजिए । मैं इस ज्ञानके सिवाय और हू ही क्या ? भीतर दृष्टि लगाकर ज्ञान बनायें, ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है, देह मेरा स्वरूप नही । इस देहमे रहते हुए आप इन्द्रियके द्वार बन्द करके आँखोसे न देखकर, कानोसे न सुनकर, भीतर ही एक ज्ञानस्वरूपको निहारने चलें तो आपको देह न मालूम होगा । ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही आपको विदित होगा । ऐसा यह मैं मात्र ज्ञान ही ज्ञान हूं,

ज्ञानके सिवाय और कुछ नही हूं। जब मैं सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान हू तो मै ज्ञानको ही तो कर ज्ञान सिवाय और कुछ नही हू। जब मै सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान हू तो मै ज्ञानको ही तो कर सकता हू, ज्ञानको ही तो भोग सकता हू। एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी परिणति नही कर सकता। एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी परिणतिको नही भोग सकता। मैं ज्ञानमात्र हू। तब मै ज्ञानको ही करता हूँ ज्ञानको ही भोगता हूं। हर स्थितिमें जहाँ आप बहुत नाराज हो रहे हो, क्रोध कषायसे व्यग्र हो रहे हो उस समय भी आप जहाँ क्रोध परिणतिके करने वाले हो रहे, क्रोध परिणतिके भोगने वाले बन रहे वहाँ भी आप ज्ञानके सिवाय कुछ नही कर रहे। मानते हैं यह कि मैं इसे नष्ट कर दूंगा। देखो मैंने कैसा बरबाद कर दिया ? बस इस विकल्प के करने वाले है, उसकी बरबादी करने वाले नही है और उस समयमे भी आप अपने ज्ञान के उपयोगको ही भोग रहे है, किसी दूसरी वस्तुको नही भोग रहे है। तो जो यथार्थमे ऐसा भीतर अपनेको नग्न देख लेगा, मै ज्ञानमात्र हू, मै ज्ञान तो ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू, मेरा और कुछ करना भोगना नही है, जब यह विदित होगा कि अब हमे ज्ञानकी सम्हाल करना चाहिए, क्योकि ज्ञानपर ही मेरा सारा भविष्य निर्भर है।

ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वके आश्रयमे आनन्दमयी सृष्टि— मैं दुःखी होऊँ अथवा सुखी होऊँ, यह बात मेरे ज्ञानकी पद्धतिपर निर्भर है। मै सुख दुख विकल्पजालोसे परे होकर शुद्ध आनद मे मग्न रहू तो यह बात मेरी ज्ञानपद्धतिपर निर्भर है, इसीसे हमे सुख शान्ति प्राप्त होगी, बाह्य वस्तुओके सुधार अथवा विगाड करनेसे मेरेको सुख-शाति न प्राप्त होगी। यह निर्णय बनाना है और फिर डर किस बातका ? धन रहे तो रहे, जाय तो जाय, लोग पूछें तो पूछें, न पूछें तो न पूछें, डर किस बातका ? मेरा मैं ही स्वामी हूँ, मेरा भविष्य मेरेपर ही निर्भर है, इसलिए मुझे अपने आपमे ही कोई सुधारकी बात करनी है। निरखिये उस अतस्तत्त्वको और स्वाद लीजिए उस ही अन्तस्तत्त्वका। विकल्पोका स्वाद लेनेमे तो दुर्गति ही भोगनी होगी। मै नरक तिर्यंच आदिकी गतियोका ख्याल करूँ ? यहाँ ही दुर्गति हो रही है। विकल्प होनेका नाम दुर्गति है और अतस्तत्त्वकी दृष्टि होनेका ही नाम सद्गति है। ऐसे विश्वासमे आयें, अज्ञान अधकारसे हटकर ज्ञानज्योतिमे आयें, असद्गतिसे हटकर सद्गतिमे आयें। यह मै केवल ज्ञानस्वरूपमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ। जैसे लोग जलसे भरे हुए घडेको देखकर कहते है कि आज तो बडा सगुन हो गया, पर बताइये क्या वह मिट्टीका घडा सगुन है या जल ? अरे उस जलसे भरे घडेको देखकर आत्मदृष्टि बनी है। जैसे यह घडा पानीसे लबालब भरा हुआ है, इसी प्रकार यह मैं आत्मा भी ज्ञानसे लबालब भरा हुआ हूँ। मेरेमे कही बीचमे एक बिन्दुभर भी जगह ऐसी नही है जो ज्ञानसे खाली हो। ऐसे ज्ञानघन आत्माका ख्याल हो गया, इसलिए वह पानीसे भरा हुआ घडा सगुन है। मुर्दा दिख जाना भी लोकमे सगुन माना जाता है, उससे भी

आत्माका ख्याल होता है। जो-जो भी सगुन माना गया है लोकमे वह आत्मदृष्टिके सहायक होनेमे सगुन है। तो सगुनमे रमो, आत्मतत्त्वमे रमो, मेरेको अन्तस्तत्त्वका स्वाद रहे, विकल्प का नही, यह धुन बने और इस तरहसे अपनेमे गनि हो तो इससे अपना उद्धार है।

सत्य ज्ञान, सत्य आनन्द व सत्य शरण चाहनेकी प्रकृति—जिस वीतराग जिनेन्द्रदेव को नमस्कार कर रहे है मनसे, वचनसे, कायसे, जिसके नमस्कारके लिए हम प्रवृत्त हुए, उन जैसा स्वरूप मेरे स्वभावमे है, उसकी साथ ही साथ सुध हो तो उस नमस्कारमे बडी विशेषता आती है। वह जिनेन्द्र क्या? शुद्ध सत्य ज्ञानपुञ्ज, स्वय सहज आनन्दस्वरूप, स्वयके लिए शाश्वत शरणभूत। हम यहाँ देखते है कि सभी प्राणी सत्य ज्ञान चाहते है और सुख चाहते है एव किसी न किसीकी शरणमे रहनेकी वृत्ति भी रखते हैं। चाहे उन्होने शुद्ध सत्य ज्ञान नही पाया, पर उनके चित्तमे यह बात आ जाय कि यह तो असत्य बात है तो उसे न चाहेगे। असत्यको ही सत्य समझकर चाह रहे है, यह बात अलग है, मगर चाहते सभी हैं सच्चा ज्ञान, सच्चा सुख और सच्चा शरण। प्रायः सभी जीवोकी ऐसी आदत बनी है। सभी लोग अपने-अपने अनुभवसे विचार लो—क्या किसीका दिल ऐसा चाहता है कि मैं झूठ जानता रहूँ? भले ही झूठ जान रहे हैं, मगर चाहता कोई नही झूठ जानना। इसी प्रकार विनाशीक (झूठा) सुख भी कोई नहीं चाहता। सभीकी ऐसी भावना रहती है कि मैं सकटरहित, सदा शाश्वत रहने वाला सुख पाऊँ। इसी प्रकार जिसकी भी शरण लेता है यह जीव, अपने कुटुम्बकी, अचेतनकी, अन्यकी तो यह सोचकर नही लेता कि ये सब धोखाभरे शरण हैं और मैं इन धोखाभरे शरणोको लेता रहूँ। अरे सभी यही चाहते है कि मैं अच्छा ही शरण लूँ। तो मूलमे इस जीवकी ये तीनो बातें ठीक है, अगर सत्य ज्ञान, सत्य सुख और सत्य शरण इसे मिल जाय तब तो भला है, लेकिन कर रहे असत्य ज्ञान। भ्रमवश मिथ्या ज्ञानको ही सत्य ज्ञान मान रहे। असत्य सुख व शरणको सत्य समझ रहे तो इससे इस जीवको कुछ भी सिद्धि नही प्राप्त होती। तव इस समस्याका समाधान पानेके लिए एक अन्तर्दृष्टि करनी होगी। बाहर मे निरखना होगा कि कोई भी बाह्य तत्त्व या किसी विकल्पका, इस मायामयका जो कुछ हम उपयोग बना रहे है उस उपयोगमे तो हमारी भलाई नही है। बाहर हम जितना जो कुछ देखते है ये बहिस्तत्त्व है, सब मायारूप दिख रहे है, चेतन अचेतन जो कुछ भी आँखो दिखने वाली चीजें है पर्यायरूप वे सब मायामय है अर्थात् अपने शुद्ध द्रव्यके रूपमें नहीं है। मिलना है, विनाशीक है, बिछुडने वाले हैं, स्वरूपमे प्रत्येक द्रव्यके स्वय ऐसी बात नही पडी है कि जैसे ये सब दिख रहे है। तो इनमे उपयोग रखनेसे मेरेको कोई भलाई न मिल पायगी। पर्यायको पर्यायरूपसे मायामय रूपसे जान लेना चाहिए, पर मेरे लिए सत्य है, इसके उपयोग मे मेरेको ही आनन्द है, यह बात न आनी चाहिए। ये कुछ सत्य नही है, जो कुछ दिख रहे

है स्वयं सहज सत्में हो उसे सत्य कहेगे। ये सत्य नही, इनमें फंसना, इनमे उपयोगका लगाना यह हमारे लिए हितकारी बात नही है, और अंतस्तत्त्वकी बात निरखिये—मेरे लिए मेरा यह अतस्तत्त्व सत्य है। मै इन पर्यायोमे दृष्टि न दूं, गुणभेदकी दृष्टि न करूँ, यद्यपि जाना है इन सबके मार्फतसे ही अब तक, पर्यायोका विस्तार ही जाना। तो हम द्रव्यका पता कैसे लगाते? गुणका विस्तार न समझें तो द्रव्यका पता कैसे पाडते? सब कृपा है इन सब ज्ञानो की, लेकिन जब एक विशुद्ध ज्ञानानंदस्वभावके लिए कुछ धुन बनाया, कदम बढाया तो ऐसी स्थितिमे पर्याय गुणभेदको गौण करके अथवा यो समझिये कि इन सब विकल्पोका असहयोग करके जब कुछ विश्रामके साथ क्षणमात्रको स्थित होते है तो स्वय अपने आपमें वह ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है, अनुभवमें आता है। हम सत्य ज्ञान करें, उसका स्वाद लें। हमारी अन्तः यह धुन निकले कि मुझे अंतस्तत्त्वका स्वाद मिले, बहिस्तत्त्वका स्वाद मैं न लूं।

निज लोकभावनादृष्टिका प्रभाव—देखिये बाहरमे जब देखते है तो ये सब सकल्प-विकल्प धोखा सब कुछ है और अपने अन्दरमे जब निज लोकको निहारा, मै स्वय अपने प्रदेशमे हू, जो कुछ हूं, हू, इतना मात्र अपनेको निरखिये बाहरी सब बातें भुलायें तब फिर सकटोका कोई स्थान नही रहता। तो हमारा प्रयास होना चाहिए निजलोककी भावनाका। मेरा यह चैतन्यस्वरूप यह ही मेरा लोक है, यह ही मेरा सर्वस्व है, उसकी ओर हमारी दृष्टि होनी चाहिए। बाहर जब हम दृष्टि देते है तो यह पर्यायोका परिचय और सम्मान, अपमान, इज्जत, प्रशसा, निन्दा छोटा बडा और कितने ही प्रकारके विकल्प होते है? इन विकल्पोमे रहते हुए ये क्या सत्य बने हुए है? इन विकल्पोमे रहकर तो अपनी यह बरबादी कर रहा है। हम कुछ क्षण अपने उस अत प्रकाशमान एकत्वकी ओर आया करें, उसकी सुध लिया करें। न भी हम स्पर्श कर पायें तो सुध तो ले सकते है कि मेरे लिए तो मेरे अतरतत्वका अनुभव ही सार है। परपदार्थोंके विकल्पकी बात यह मेरे लिए सारभूत बात नही है। जो जन्मा है उसका मरण अवश्य होगा। हम आप भी इस मनुष्यजन्ममे आये और मरणके निकट ही तो प्रतिक्षण जा रहे है। कोई कहे कि मेरा ५० वर्षका जीवन हो गया तो उसका अर्थ है कि ५० वर्ष हमारे पूरे जीवनमे कम हो गए। तो यह मरण ही तो कहलाया। मान लो कि अचानक ही किसी दिन मरण हो गया तो फिर क्या होगा? यहांका सब कुछ यही छोडकर यह जीव यहांसे अन्य किसी पर्यायमे पहुच जायगा अथवा जहांसे मरे वहीपर मरकर कुछ बन गए तो पहिलेके सारे प्राप्त समागम तो छूट ही गए। मरण करने के बाद कदाचित् किसी दुर्गतिके स्थानमे पहुच गए, पशु-पक्षी कीट-पतगा आदि योनियोमे जन्म ले लिया तो फिर अब उस जीवके लिए यहाँका क्या रहा? यहाँके प्राप्त समागमोसे इस जीवको लाभ क्या मिला है? अरे यह मानवपर्याय प्राप्त हुआ है तो हमे इससे पूरा लाभ उठाना

हमारा जीवन तब सफल है जब हम अपने आपके सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त कर सकें। देखिये जो भी सत् होना है वह स्वय सत् होता है और स्वय अपने आपमे सहज निरपेक्ष कोई स्वरूप रखता है, अन्यथा सत् नही हो सकता। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी दयासे सत् नही है। जो सत् है वह स्वय है, अपने आप है। जब सत् है तो स्वय उसमे कोई स्वभाव है, कोई निरपेक्षस्वरूप है। यद्यपि आज वह स्वरूप व्यक्त नही है, मगर निरपेक्षस्वरूप हुआ तो करता है। निरपेक्ष हुए बिना सत्त्व ही कहाँ कायम रह सकता है ? तो हम अपने आपके निरपेक्ष स्वरूपकी भावना करें। मैं एक चैतन्यस्वरूप, चित्प्रकाश, ज्ञानमय हू, उपयोग स्वरूप हू, अब हम इस स्वभावकी ओरसे बढ-बढकर देखते है तो अपनेमे एक ऐसा निश्चय किया कि मैं उपयोगस्वरूप हू, ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानमात्र हू। अब हम जो कुछ यहाँ निरखें वह सब एक ज्ञानके माध्यमसे सब निर्णय कर रहे है। ज्ञानको ही मैं कर रहा हू, ज्ञानको ही मैं भोग रहा हू, ज्ञानको ही मैं बसा या करता हू। अब वह कैसा ही परिणम रहा हो ज्ञान, उसीको मैं करता हू, उसीको मै भोगता हू। सुखके समय सुखके अनुकूल ज्ञान बना करता है जिसमे सुखका स्वाद है। अभेदकी ओरसे देखें तो सब कुछ ज्ञान वाली बात मिलेगी। तो मैं अपने उस ज्ञानस्वरूपमात्रको सोचकर, कुछ सापेक्षतासे हटकर एक निरपेक्षकी ओर दृष्टि दें, वहाँ जो इसके अतस्तत्व की क्षणमात्रको जो भी दृष्टि बनेगी, जो भी उपयोग बनेगा इतना उत्कृष्ट सत्य ज्ञान भी बना। हम सत्यको जाने। हम अतस्त्तत्वको जाने। अतस्तत्वका स्वाद लेनेका ही हम प्रयास करें।

निजलोकभावना व बाह्यलोकभावनाके प्रभावका अन्तर—देखिये जो अन्तस्तत्वका स्वाद लेनेकी ओर अपना कदम बढाना चाह रहा है उसमे इतनी पात्रता होनी चाहिए कि बाह्य समागम उसे असार जँच रहे हो, तृणवत् जच रहे हो। ये सब समागम न कुछ चीज हैं, ये मेरा क्या सुधार करेंगे ? मुझे सुधार करना है अपने आपकी ही अर्न्तदृष्टि द्वारा। हम जितनी भी अपनी सृष्टि करते हैं उसका मूल आधार दृष्टि है। इसे भली प्रकार सोच लो। जैसे कि नावको चलाने वाला जो बराबर एक लकडी घुमाता रहता है वह लकडी तो उस नावको चलाती है पर वह नाव किस दिशाकी ओरको बहे, इसके लिए पीछे कर्णधार लगा होता है जिस कर्णको वह लिये है, उसका आकार सूपका जैसा होता है। उसे जिधरको मोड दिया उधर नाव बढ जाती है। इसी तरह हम आप इस ससारसमुद्रके बीच फसे हुए है। इसमे हम अपनी कैसी दृष्टि करें यह हमारी दृष्टिके ऊपर निर्भर है। जब हम इस देहको मान रहे कि यह देह ही मैं हू, यही मेरा सर्वस्व है। अज्ञानी जन इतना भी नही भेद कर पाते कि यह देह है सो मै हू। इसमे भी पार्थक्य आ गया। इसका तो अर्थ यह हो गया कि मैं कुछ और हूँ, देह कुछ और है। अरे वह तो इस देहमे ही आत्मीयताकी बुद्धि करता है। तो इस देहो

आत्मीयताकी दृष्टि करनेका फल क्या होगा कि इसे देह ही मिलते रहेंगे ? जन्म मरणकी परम्परा ही चलती रहेगी। जगतके समस्त क्लेश इस देहके सम्बन्धसे ही तो बन रहे है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, आधि-व्याधि, सम्मान-अपमान आदिके सभी क्लेश इस शरीरके ही कारण तो वन रहे है। यदि कोई सोचता हो कि मै तो शरीरसे निराला अनिर्वचनीय एक सहज चैतन्यस्वभावमात्र हू तो फिर उसे प्रशसा और निन्दा आदिके विकल्प कहाँसे उठ सकेंगे ? और-और भी क्लेश उसे कहाँसे प्रतीत हो सकेंगे ? समस्त प्रकारके क्लेशोका मूल कारण यह शरीर है। तो जो इस शरीरको सर्वस्व समझ रहा है, शरीरमे ही जिसकी आत्मीयताकी दृष्टि बनी हुई है उसकी तो सर्वत्र बरबादी ही बरबादी होती रहेगी। अब जरा दूसरी ओर आइये—जिसने अपनी ऐसी दृष्टि बनायी कि मै इस देहसे निराला, कर्मसे निराला हूँ और जितनी विचित्रतायें मुझमे होती है वे क्षणिक है, वे विभाव है, नैमित्तिक है, उनसे भी निराला मेरा स्वरूप है। मै स्वरूपमात्र ही रहना चाह रहा हू, ऐसे स्वरूपमात्रमे जिसकी प्रीति हुई है, और ऐसे अन्तः इस चित्स्वरूपको आत्मारूपसे स्वीकार कर रहा है, ऐसी जिसकी वृत्ति बन गई है, ऐसा पुरुष धन्य है। बताइये—ऐसी वृत्ति वाले पुरुषकी सृष्टि कैसे बनेगी ? उसका रहा-सहा जो कुछ ससार होगा उसमे जन्म होगे तो भी उसकी दृष्टि मोक्षमार्गमे बढनेकी ओर है। वह अपने आपमें समानेकी ओर ही बढ़ रहा है और निकट कालमे ही वह ससारके सारे सकटोसे छुटकारा पा लेगा। यह सब क्या है ? इसको अगर सक्षेपमे कहे तो बाह्य लोकभावना और निज लोकभावनाका अन्तर है। वाह्य पदार्थमे कुछ निरखना, वहाँ परिचय बढाना, वहाँ सम्बध रखना, उससे हर्ष-विषाद मानना, यह सब तो हमारे लिए बरबादीका ही कारण है।

कष्टसहिष्णु बनकर अन्तस्तत्त्वकी ओर प्रगति करनेकी सम्मति—हमे यह निर्णय करना चाहिए कि मेरे आत्माका इस मुझ आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी शरण नही है, कुछ भी मेरा सर्वस्व नही है। बाह्य तत्त्व ये सब मेरे लिए बाह्य है। इतनी मैं शरण गहू तो धोखा ही धोखा है। कुछ विवरणपूर्वक समझ लीजिए, जिन-जिन बाह्य चीजोकी लोग शरण लेते है उनसे वे अन्तमे धोखा ही पाते है अथवा नही ? और अन्तमे क्या ? जब भी शरण गहते तब भी कष्ट पा रहे। भले ही ऐसा विकल्प कर रहे कि मैं सुखी हू, लेकिन बाह्य तत्त्वकी शरण माननेमे इसको क्लेश ही क्लेश है। जैसे धन बहुत हो गया, उसके सहारेसे अपनेको मान रहे कि मैं सशरण हू, मेरे लिए सब कुछ शरण मिल गया है तो उनकी वृत्तियाँ देखिये—कितना उन्हे कष्ट है, चिन्ताएँ है, शल्य रहती है ? कही कोई टोटा पड गया, नुक्सान पड गया, और कदाचित् अच्छा धन मिल गया, घर-कुटुम्बके अच्छे लोग मिल गए, सुखसाधन भी अच्छे मिल गए, तो वहाँ क्या इसे चैन मिलती है ? अरे वहाँ भी इसे बहुत दुःखी होना पडता है। कल्पित मौज माननेसे अपने आपके अन्तस्तत्त्वकी सुध लेनेका अवकाश नही मिलता

फलस्वरूप इसका सारा नुक्सान ही नुक्सान रहता है। भले ही कुछ मौजके, आरामके वैषयिक सुख साधन मिले, पर विवेकपूर्वक देखो तो ऐसे कल्पित, वैपयिक सुखसे तो दु खकी स्थिति अच्छी है और अनुभवसे भी आप निर्णय कर लेंगे। जिनको कुछ विवेक है, जिन्हे अपने आपकी सुध है वे निर्णय कर लेंगे कि कदाचित् दु ख आता है तो उस समय हम धैर्य बाँधते है, कुछ अपने आत्माकी सुधमे आते है, तो बाहरमे दु खकी स्थिति है और भीतरमे वे अपना रसास्वाद भी लेते जाते है। मगर वैषयिक सुख जव मिलते हैं, जैसा चाहा वैसा मिलता जा रहा है, खूब धन आ रहा है, पार्टी बढती जा रही है, मित्र लोग भी बढते जा रहे हैं, सुख माना जा रहा है, उस सुखके अनुभवनमे उसकी वृत्ति देख लीजिए। कितनी आकुलता, विकल्प, शल्य, अपने आपकी सुध नही ले सकते है, तो ऐसा जानकर हमे दु खसे न घवडाना चाहिए, कष्टसहिष्णु बनना चाहिए, और एक बात यह समझ लेना चाहिए कि आखिर मरण तो होगा ही, और मरणसमयमे हम प्रायः देखते है कि दुःख आया करता है। अगर हम जीवनमे थोडे-थोडे दुःखोसे घबडाते रहे, अधीर होते रहे और उन दुःखके समागमोसे कुछ लाभ न ले सके तो ऐसे समयमे जो एकदम कष्ट आ पडेगा उस दु खको कैसे सहन करोगे? अरे उस मरण समयके दुःखमे अगर सहनशीलता बनानी है तो जीवनमे भी सहनशील बनिये। आप यह सोचिये कि मेरा तो प्रतिक्षण मरण चल रहा है। अरे यहीसे सहनशील बननेका अभ्यास करें, और विवेकसे देखो तो दुःख भी क्या है? बनाया गया (कल्पित) दु ख है। जैसे मेरा बेटा नही रहा, मेरी स्त्री नही रही, मेरा अमुक नही रहा। अरे इन बाह्य भिन्न जीवोके न रहनेसे तेरे आत्मामे कौनसी कमी पड गई? तू तो पूराका पूरा ही है। अरे वे तो बाहरी पदार्थ थे, तेरे पास न रहे तो न सही। जरा कुछ विवेक बनाओ। इस ससारमें कोई किसीके लिए शरण नही है। खुदका ज्ञान, खुदका विवेक, खुदका बल, खुदका आलम्बन, यही शरण है दूसरेको शरण माननेमे, पर शरणका विश्वास रखना, यह तो धोखा ही धोखा रहेगा। यहाके शरण तो यो है—जैसे कोई फुटबाल किसी बच्चेके पास गया तो क्या वह बच्चा उसे अपनी छातीसे लगाकर उसको चूमता है? अरे वह तो पैरसे ठोकर मारकर भगा देता है। दूसरी ओर जिस बच्चेके पास वह फुटबाल पहुचा वहाँसे वह दूसरा बच्चा पैरकी ठोकर मारकर उसे भगा देता है। यो फुटबालको जैसे कहीसे शरण नही मिलती, सब जगहसे ठोकर ही लगती है, इसी प्रकार यह जीव जिन बाह्य पदार्थोकी शरणमे जाता है वहासे उसे ठोकर ही मिलती है, धोखा ही मिलता है। तो खूब भली प्रकार विचार कर लो, अगर कोई आज्ञाकारी पुत्र भी मिल गया तो इसका आश्रय बनाकर आप अपना सुधार कर रहे हैं या विगाड? लोग तो सोचते हैं कि पुत्र कुपूत निकल आया तो उससे बडा क्लेश होता है, गाली देवे, सामने आ जाय, मुकाबलेमे आ जाय, पर विवेकसे विचारो कि सुपूतके आश्रयसे कम दु ख होता क्या?

कुपूतके आश्रयसे विपय करके जो दुःख होना उससे भी अधिक दु.ख सुपूतका आश्रय करके हो सकता है, क्योकि कुपूतसे तो आप एक बार दिल कडा कर देंगे और एकदम घोपणा कर देंगे कि यह मेरा पुत्र नही, मै इसका जिम्मेदार नही, जो इसे दे ले वह जाने, जो सम्बध रखे वह जाने, लो एक बारमे ही उससे छुट्टी पा लिया, मगर सुपूतके बारेमे कोई ऐमी घोषणा कर पा रहा क्या ? रात-दिन निरन्तर यही बात चित्तमे रहती है कि मेरा बच्चा राजा बनकर खूब सुख भोगे, आनद भोगे, और मैं लद-लदकर खूब धन कमा जाऊँ, खूब इसके आरामके साधन जोड जाऊँ ? बताइये उस सुपूतके आपने क्या सुख पाया ? तो समस्त बाह्य समागम इस जीव के लिए क्लेशके ही कारण है । उनका आश्रय करना, उनसे मोह ममत्व रखना, यह कोई बुद्धिमानी नही है ।

आत्महितार्थीको अन्तःसाहसकी आवश्यकता—जिसे अपने आपपर कुछ करुणा उत्पन्न हुई है उसे तो एक बडा साहस बनाना होगा । साहस भी क्या ? वह तो एक सुगम बात हो जाना चाहिए । अपनी बात है, अपने आपमे समा जानेकी बात है । बाहरी बातोमे तो कष्ट होता है । कोई कहे कि मैं ऐसा बना दूँ, कहो यो कर दूँ, तो वह वैसा नही कर सकता । क्योकि उसका किसी बाह्य पदार्थपर कुछ भी अधिकार नही । अगर कोई अपने आपके स्वरूपमे रमना चाहे, अपने अपने आपकी ओर प्रवेश करना चाहे, अपना कल्याण करना चाहे तो वह तो उसके लिए एक स्वाधीन बात है । जिसमे रमना है वह भी स्व, जो रमेगा वह भी स्व और जिस परिणतिके द्वारा रमेगा वह भी स्वाधीन । कही परसे कुछ नही लाना है, जिसके लिए रमेगा वह भी स्व, जिसमे रमेगा वह भी स्व । तो यह बात बड़ी सुगम है । पर एक दृष्टि चाहिए, उसकी ओरका साहस चाहिए, एक पक्का निर्णय चाहिए, एक सकल्प-सा होना चाहिए । जब तक किसी कार्यके प्रति हम पूर्णतया दृढ सकल्प न बनाये तब तक विडम्बना होती है और जब किसी कार्यके प्रति कृतसकल्प हो जाता है । एक लक्ष्य तो बना इसका । अब बाह्यमे कोई ऐसा कार्य नही है कि जिसके लिए हमे कृतसकल्प हो जाना चाहिए कि मुझे तो यह काम करके ही रहना है । अगर किसी बाह्य पदार्थमे कुछ भी करनेकी बात ठान ली और कुछ कर न सके, कर भी क्यो सकते ? उसपर कुछ अधिकार तो नही है, और उसके प्रति डट गए तो यो समझिये जैसे किसी कम्पनी या राज्यके छोटे अधिकारीको किसी बड़े कामका अधिकार तो नही है और वह साहस बनाये, कृतसकल्प हो जाय कि मुझे तो यह कार्य करके ही रहना है और वैसा कार्य होता नही तो उसे विडम्बना ही हासिल होती है । तो भाई जब यह बात निर्णयमे आ गई है कि किसी दूसरे बाह्य पदार्थ मे कुछ भी कर देनेका, कुछ भी कर्तृत्व करनेका मेरेमे अधिकार नही तब मैं उसके प्रति क्यो कृतसकल्प होऊँ ? और मेरा अधिकार मेरे अपनेमे प्रकाश बनानेकी बात है, स्वाधीन बात है ।

ज्ञान अन्य किसी पदार्थसे नही आता। ज्ञान तो स्वसे आता है, भले ही वह साधन है, मना नही किया जा रहा है, मगर हम यह वास्तविककी बात कह रहे हैं कि जब हम अपनेको जाननेके लिए चलेंगे तो हमे किसी कारणान्तरकी अपेक्षा तो नही करना है। मैं जानता हू, मैं जानूँगा, अपने द्वारा जानूगा, अपनेमे जानूगा, अपने लिए जानूगा और वह जो जानना होगा वह एक अविशिष्ट जानना होगा। जो हमारा ऐसे सहज सत्यकी ओर कदम होगा वह हमारा एक अविशिष्ट कदम होगा, विशेपमे क्लेश है अविशिष्टतामे क्लेश नही है। तो हम सत्य ज्ञान की ओर जाये और ऐसी अपनी धुन बनाये कि अतस्तत्त्वका स्वाद लें, विकल्पका स्वाद मत ले, भीतरमे बार-बार यह धुन बनायें, ऐसी प्रेरणा लायें कि अतस्तत्त्वका स्वाद लें, वहिस्तत्त्वका स्वाद मत लें।

बहिस्तत्वकी पकड़मे अलाभ ही अलाभ—वहिस्तत्त्वका स्वाद लेनेमे, मायामयी दिखने वाले इन पर्यायोके अनुभवमे सारा अनन्त काल तो व्यतीत किया, लाभ कुछ न पाया, रीतेके रीते ही रहे, कुछ नही मिला। और मिला भी तो वह एक मुफ्त-सा, जायगा भी वह मुफ्त मे ही। एक कथानक है कि एक वार किसी चोरने सोचा कि मैं छोटी-मोटी चोरी क्यो करूँ, राजाके यहाँसे कोई वढिया चीज चुराऊँ, सो वह राजमहलमे जाकर एक अच्छासा घोडा चुरा लाया। उसे वेचनेके लिए वह किसी वाजारमे ले गया। ग्राहक आये, पूछा—घोडा वेचोगे? कितनेमे दोगे? सो था तो कोई ३००) रु० का, पर यह सोचकर कि कोई यह न जान सके कि चोरीका है, सो शानमे बोला—६००) रु० का। अरे ६००) का कौन खरीदे? सभी ग्राहक लौटते गए। एक बार कोई पुराना बूढा चोर आया। उसने भी पूछा कि क्या घोडा वेचोगे? हाँ बेचेंगे। कितनेमे दोगे? ६००) मे। अरे ६००) की इसमें क्या बात? ··अजी इसकी चाल बहुत बढिया है। उसकी इस शानभरी बातको सुनकर वह बूढा चोर सब समझ गया कि यह घोडा तो चोरीका है, सो उस बूढे पुराने चोरने कहा—अच्छा हमारा यह हुक्का पकडो, हम इसपर बैठकर इसकी चाल देखेंगे। अगर इसकी चाल पसद आ जायगी तो हम ६००) ही देंगे। अच्छी बात। सो वह बूढा चोर उस घोडा बेचने वालेको मिट्टीका हुक्का पकडाकर घोडेपर बैठ गया और एडी मारकर उस घोडेको उडा ले गया। अब वे ही ग्राहक आये जो पहिले लौट गए थे। पूछा—भाई! घोडा बिक गया क्या? हाँ बिक गया। · कितनेमें? जितनेमें लाये थे उतनेमें बिक गया। मुनाफेमे क्या मिला? यह चार आनेका मिट्टीका हुक्का। तो ऐसे ही समझिये कि हम आप चले आ रहे है अनेक भवोंसे, और हम आपको यहाँ कुछ पुण्य सामग्रियाँ मिल रही है, पर ये मुफ्त ही मिल रही है और मुफ्त ही जायेंगी, लाभ कुछ न मिलेगा। बस जो पापसस्कार उनके पीछे बनाये जायेंगे वही मुनाफे में मिलेंगे, जन्ममरण करते रहनेके सस्कार बनेगे। तो वहाँ सब कुछ मुफ्त आया और मुफ्त

गया, पर मिला क्या ? बरबाद होते रहनेकी कुञ्जी ।

प्राप्त समागमकी आत्महितकी ओर उपयोगिताकी दिशा—हम आपने आज इतना ज्ञान पाया, क्षयोपशम पाया अनेक चीजोमे विवेक कर सकते, बडे-बडे हिसाब किताब रख सकते, बडी-बडी कम्पनियाँ चला सकते, बडे-बडे विज्ञान सम्बधी आविष्कार निकाल सकते, इतना बडा क्षयोपशम हम आपने पाया है, श्रेष्ठ मन पाया है । अब यदि हम आप अपने हित की ओर लगना चाहे तो क्या अपना हित कर नही सकते ? अरे कितना सुगम काम है, यह मै हू, अपने आपके चैतन्यस्वरूपकी ओर दृष्टि बनाना है, उसे निरखकर तृप्त रहना है, बाहरमे तृप्तिका कोई आधार नही । लोकमें कही कुछ मेरा शरण नही है । तो भाई जब एक बार घरके झगडोंसे कुछ उद्विग्न होकर आप कह बैठते है कि मेरा कही कुछ नही है । घरमें जब साता न मिली, अनेक प्रकारके जब कष्ट आये तो स्वय ही निर्णय बना लेते है कि किसीका कोई शरण नही, सब स्वार्थी है , यह तो एक उद्वेगके समयकी बात है, अगर ऐसी बात सच्चे दिलसे बिना रुपे समताके साथ विचार कर लिया स्वरूपज्ञानके माध्यमसे तो अनुभवरूप हमारा कल्याण है, सो भाई हम चाहते तो है सत्यज्ञान, मगर सत्यको सत्य समझकर उस सत्यकी ओर बढें । चाहते तो हम है भला सुख, अच्छा सुख, मगर एक सच्चा निर्णय करके उसकी ओर बढे । भला सुख क्या है? जहाँ कोई आकुलता नही है । आकुलता कहाँ नही है ? जहा स्व और स्व ही रह जाता हो । यो तो मोक्ष कहो और यहाके लिए यह कहो कि जब हम स्वका अनुभव करते है, जब हम निर्विकल्प भावसे रहते है तब वहा कोई आकुलता नही रहती । तो जो सत्य है उसकी ओर आयें तब वह आकुलता प्राप्त हो । शरण भी हम किसकी गहे ? बडा ही सुगम और बडा ही एक उत्तम उपाय है । जिसकी शरण गहना है, वह मैं स्वय हू, जिसे शरण गहना है वह मै स्वय हू, और जिस विधिसे कहना है, वह विधि भी हमे दूसरेसे नही लाना है । इतना तो सुगम उपाय है, पर इस ओर हम दृष्टि करें और चलें तो हमारे लिए वह बात प्राप्त हो सकती है । एक मुझे समझ लेना होगा कि मेरा यहा कुछ भी नही है, मेरे लिए घर कुछ नही है, मेरे लिए कुटुम्ब परिवार कुछ नही है । यद्यपि गृहस्थीमे रहते है, करना पडेगा, लेकिन ज्ञान अपना काम करेगा उसे मना न करो । उससे ही आप आनन्द पायेंगे । ज्ञानको सत्य सत्य समझने दें, उसे इन्कार न करें । इस तरह अगर हम बाह्य तत्त्वोंसे हटकर अतस्तत्त्वकी ओर आनेका प्रयास करते है तो वहा सत्य मार्ग मिलता है ।

पारमार्थिकी स्वार्थसाधनाका महत्त्व—लोग कहते है कि सबको अपनी-अपनी पडी है, यह बात अच्छी है या बुरी ? तो लोकदृष्टिसे देखते है तो लोग उसे बुरा कहते है । बहुत खुदगर्ज है, अपनी-अपनी ही सोचते है, इसे अपनी ही पडी है, दूसरेका कुछ ख्याल नही, प

अपना उत्पाद व्यय ध्रौव्य लिए है। किसी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमे नही आता, मेरा कुछ भी अश किसी दूसरेमे नही जाता। भले ही यह योग है कि कोई विभावपरिणाम बनता है तो निमित्तके सन्निधानमे यह आत्मा अपनी परिणतिसे उस तरह परिणम लेता है, मगर एक द्रव्यपर दृष्टि दें तो वह अपने आप उत्पादव्ययध्रौव्यशील है। क्या मेरे उत्पादव्यय-ध्रौव्यकी कला किसी दूसरे ने दी है ? दृष्टान्त दिया है दिव्यध्वनिके लिए। वहाँ यह बताया है कि तबला बजाने वाले ने अपने हाथकी ठोकर तबलेमे मारा। तबलेमे हाथका स्पर्श हुआ तो दिखता ऐसा है कि देखो बजाने वाले ने उसपर अपनी अगुलियाँ जिस-जिस तरहसे चलाया उस उस तरहकी आवाज निकलती है तो उस तबलेने (मृदगने) बजाने वालेकी अपेक्षा की तब उस तरहके शब्द निकले। मगर शब्दकी जगह शब्दकी ही बात देख करके देखें तो भले ही हाथका स्पर्श हुआ, पर शब्द करनेरूप परिणतिमे वह मृदग किसकी अपेक्षा करता है ? यही बात समझना है निमित्त और उपादानके सम्बन्धमे कि कोई पदार्थ किसी कार्तान्तरकी अपेक्षा नही करता है अपनी परिणतिके लिए। निमित्त योग होनेपर अपेक्षाकी बात नही है परिणमन होनेके लिए। परिणमता है प्रत्येक पदार्थ अकेले ही। वह मिल करके नही परिण-मता है। तो ऐसी जब यह बात दृष्टगत हो रही है तो इसका प्रयोग कुछ करें ना जीवनमे। प्रयोग क्या ? विलक्षण भावना। उस उस प्रकारसे तकना। जब ध्यानके प्रतापसे अपने आप को इतना महसूस कर लिया जाता कि मैं बडे सीग वाला भैसा हू या घोडा हू। जैसे दो बच्चे जब घोडा घोडा का खेल खेलते तो दोनो ही अपने दोनो पैरोके बीच एक एक लकडी लेकर चलते है, अपनेको घोडा बनाते है, घोडा जैसा ही हिनहिनाते हैं। अपने को घोडारूप अनुभव करते है और वे आपसमे एक दूसरेसे लडते है। उस समय वे अपने भाईचारेको भी भूल जाते है और इतना लडते हैं कि दोनो लडते-लडते मारपिटाई कर लेते हैं, रोने लगते है और खेल बन्द करके अपने-अपने घर चले जाते है। तो देखिये जैसे बच्चे लोग अपने उस खेलमे ऐसा ध्यान बना लेते कि अपनेको भूल जाते हैं। मैं बच्चा हू, घोडा नही हू, ऐसा ध्यान नही रख पाते, अपनेको घोडारूप अनुभव करके घोडा जैसी चेष्टायें करते, ठीक ऐसे ही क्या हम आप अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव करके तद्रूप चेष्टायें करना चाहे तो क्या कर नही सकते ? अरे मेरा कैसा निरपेक्ष स्वरूप है, हो रहा हो कुछ भी, पर अपने आपके सत्त्वमे सहज निरपेक्ष जो भाव है, जो मेरे लिए शरण्य है, उस रूपमे अगर हम ध्यान बनायें, ज्ञानमे अपने उस सहजस्वरूपको लें तो मेरे उपयोगमे उसकी ही प्रधानता होगी और यहाका सब कुछ भूल जायगा कि मै मनुष्य हू या अन्य कुछ हू आदि।

ज्ञानके सामर्थ्यका आदर—ज्ञानमे इतनी सामर्थ्य है कि गुजरी हुई बात, आयी हुई बात, बीचमे फसी हुई बात, ये कुछ भी दृष्टिमे न रहेगे और अन्त:प्रकाशमान आत्माका

सहजस्वभाव दृष्टिमे रहेगा। जिसे हम कुछ समयको कहते है कि हमारी तो यह कल्पना है, अरे वह ही कल्पना बढ करके कल्पनाका रूप न रखकर अनुभूतिमे पहुचा देगी। तो हम ऐसे ही पावन परमभावको शरण्य मानें, और उसका ही लक्ष्य बनायें, उसमें ही रमनेकी स्थिति है, वह ही मेरे लिए मात्र एक उत्कृष्ट स्थिति है, ऐसी अपनी वहाँ दृष्टि बनायें, उसके लिए चलें। देखिये—इस तरहकी दृष्टि भीतरमे बनेगी तो जिन कामोके लिए हम बडे उपदेश करते, सुनते, बहुत प्रयत्न करते, देखो सब जीवोमे समता रखना, किसीमे राग न बढाना, किसीमे द्वेष न करना, कहीं झगडा न मचाना, कहीं रूठ न जाना आदिक जितनी बातें कहते है वे सब बातें हममे अपने आप अनायास आने लगेगी। जब मूलमे हम अपने आपका कदम बहुत सत्य जगह चलायेंगे, उपयोगमे चलायेंगे तो वे सब बातें अपने आप अनायास बन बैठेंगी। किसीके राग न हो, द्वेष न हो, यद्यपि वात्सल्य रहेगा सबके साथ, मगर रागद्वेष न रहेगा। रागद्वेष अन्य बात है, वात्सल्य अन्य बात है। जैसे कभी-कभी अन्याय, अनीति, अत्याचार आदिके कार्य किए जाते है तो वे सब बातें अपने आप छूट जायेंगी, पर हमको अपने उपयोग बलसे उस ओर बढना है।

लौकिक आकांक्षाओके त्यागसे अपनेको पवित्र बननेका अनुरोध—अब बतलाइये दुर्लभ चीज क्या रही जो पाने योग्य हो? हर एकके चित्तमे यह बात रहती है कि जो सबसे ऊँची चीज हो उसे पाना चाहिए। अब उत्कृष्ट चीजका निर्णय कर लो क्या है? क्या देशका राष्ट्रपति बन जाना, यह ऊँची चीज है? अरे उन्हे तो अभीसे ५ वर्ष बादकी चिन्ता बनी बैठी है कि न जाने क्या होगा? न जाने हम मन्त्री रह सकेंगे या नही। ऐसी ही सभीकी स्थिति है, और फिर जितने कालके लिए बनें उतने कालके लिए ऐसा वातावरण बनाते कि हमारी मेजोरटी रहे, हमारे मानने वालोकी सख्या ज्यादा रहे। मानो वे १०० सदस्य है, अपनी पार्टीके ही है और एक वर्ष बाद उनके विचार बदल जायें और उनमेसे ६० लोगोके भाव विरुद्ध हो जायें तो उसका क्या रहा वहाँ? सब बातें एक कल्पनासे, माननेसे, बडप्पन माननेकी बात है। इस लोकमे कोई भी पद ऐसा नही है जिसे उत्कृष्ट कह सके। और मान लो कदाचित् कोई जिन्दगीभर बना रहे वही, जैसे कोई राष्ट्रपति अपनी जिन्दगीभर बना रहे, होता है ऐसा, प्रधान मंत्री बना रहे जिन्दगीभर, पर यह ता बताओ कि मरणकालके बाद भी उच्चपन बना रहे, इसकी कोई जिम्मेदारी लेता है क्या? अरे यहाँसे मरण करके उत्तर क्षणमे ही कीडा, मकोड़ा आदिक बन गए तो फिर अब क्या बड़प्पन रहा? तो एक थोडे समयके बडप्पनकी इच्छासे अपना सारा भविष्य बरबाद कर देना, यह विवेक नही है। यहाँ तो हम दुनियाके लोगोके लिए एक उल्लूसा बने रहे, याने अपरिचित बने रहे, उससे कुछ हानि नही। यह उल्लू शब्द यद्यपि सुननेमे कुछ खराबसा लगता है, पर इसकी व्युत्पत्ति की जा

तो पता पडता है कि यह बहुत ऊँचा शब्द है। उत्कर्षेण लुनाति कर्माणि····इति। अर्थात् जो कर्मोंका प्रकर्षतासे छेदन करे सो···समझिये। जहाँ किसी अन्यसे कुछ परिचय न रहे और अपने आपमे ही गुप्तसा बना रहे, कोई न जाने, कोई न पूछे, अपना चैतन्यमात्र भगवान आत्मा अपनी दृष्टिमे है तो वह तो अमीर है। दुनियासे क्या होता है ? कोई पूछे या न पूछे, कोई कुछ सोचता तो उससे क्या ? यहाँके लोग मेरे प्रभु तो नही हैं, जो मैं कुछ वाञ्छा रखू कि ये लोग इस तरह चलें, इस तरह पूछें, इस तरह मानें, इस ढगसे रहे। अरे वे हैं, स्वतन्त्र है, अपने कर्म लिए हुए है, अपने आपमें चल रहे है, उनकी व्यवस्था उनके साथ है। मेरे कोई ये प्रभु नही हैं, जिनकी मैं आकाक्षा रखूं, जिनसे मैं प्रीतिकी भावना रखूं। ये लोग मुझे ठीक समझें, अच्छे रहेगे तो नीतिके अनुसार जानना चाहिए, होना चाहिए, अपने आप ही होगा। हमें तैयारी करना है अपने आपके भीतर। बाहर हमें कुछ नही दिखाना है, बाहरकी किसी भी बातसे मेरा सुधार नहीं होता है। तो यह बात चित्तमें आनी चाहिए।

ज्ञानीका प्रतीक्ष्य मोक्षतत्त्व—देखिये—मोक्षतत्त्वके स्वरूपमें विपरीत श्रद्धानकी जहाँ बात बतायी है—छहढालामें क्या शब्द लिखे हैं—"शिवरूप निराकुलता न जोय।" निराकुलता मोक्षका स्वरूप है उसकी बाट नही जोहता। अहो ! कैसा यह मिथ्यात्व है कि अज्ञानी जीव मोक्षकी बाट नही जोहता। याने ज्ञानी पुरुषके मोक्षमें जानेके लिए इतनी उथल-पुथल हो जाती है कि बाट जोहता है सम्यग्दृष्टि जीव कि यह बात कब प्राप्त हो ? जैसे यहाँ किसीसे मिलनेकी वाञ्छा हो तो उसकी कैसी बाट जोहते रहते हैं ? जहाँ खडे है वही घटो खडे हैं, धूपमें खडे हैं, अब आता होगा···, कैसी बाट जोहते है ? तो जहाँ असार भिन्न बातोमें ऐसी बाट जोहनेकी बात चलती है तो अपना जो निःसकट स्वरूप है, कल्याणस्वरूप है, मोक्षस्वरूप है उसके लिए कितनी बाट जोहना चाहिए ? अगर मोक्षकी बाट जोह रहे हैं तो वह सम्यग्दृष्टि है। जैसे कोई बालक अपनी माँ की बाट जोहता है, देखता रहता है या कोई पुरुष जिसे जिस तत्त्वका प्रयोजन है वह उसकी बाट जोहता रहता है, घटोका समय हो गया, फिर भी टकटकी लगाकर देखता रहता है, इसी तरह इस मोक्षस्वरूपकी बाट जोहना होगा। तभी मोक्ष मिल सकेगा। कहते हैं ना एक कहावतमें कि "सामर दूर सिमरिया नीरे।" कोई एक सिमरिया गाँवका आदमी था। वह सामर नामक ग्राममे नमकका व्यापार करने गया हुआ था। जब व्यापार कर चुका तो अपने गाँव सिमरियाकी ओर चल पडा। एक दो मील ही जा पाया था कि उसका साथी पूछ बैठा कि भाई अभी आपका गाँव कितनी दूर है ? तो था तो कई मील दूरपर, वह बोला—अरे अब तो सामर दूर सिमरिया नीरे, याने अब तो हमारा मुख सिमरिया ग्रामकी ओर हो गया है, सामर ग्राम तो पीठ पीछे रह गया है, इसलिए सामर ग्राम तो दूर रह गया और सिमरिया ग्राम पासमे है। तो इसी तरह जब हमारे चित्तका परिवर्तन

हो जाता है, विषयकषायोंसे मुख मोड लिया जाता है और आत्मस्वरूपका कुछ बोध होता है, रत्नत्रयका बोध होता है, अपने आपको जानने, मानने और उसमें रमनेका कुछ बोध होता है तो फिर हम उस मोक्षस्वरूपके निकट है, और विषयकषायोसे दूर हो गए है। तो हमे अपने जीवनमे एक यह निर्णय बनाना है कि मेरे लिए कोई उत्कृष्ट चीज है, दुर्लभ चीज है किन्तु स्वाधीनतया मिल सकती है, ऐमा वह सर्वस्व मेरे लिए कुछ है तो वह यही है कि मैं अपने को जानूं, मानूं और अपने आपमें तृप्त हो जाऊँ। यह ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमें समा जाय अर्थात् ज्ञान जब ज्ञानस्वरूपको जान रहा है, ज्ञानस्वरूप क्या ? एक जानन ? कैसे जानन। जिसमें तरंग उठ रही, जिसके विकल्प बन रहे, जिसकी समझ बना रहे, उसको मैं नही कह रहा हूं। जहाँ मात्र जानन है, अरे ऐसा मात्र जानन क्या ? अब सामान्य जानन मेरी दृष्टिमें आये। ऐसा एक सामान्य जानना कि जहां व्यक्तित्वका विकल्प नही, तरंग नही उठ रही है—ऐसा जानन अगर इस ज्ञानमे आये, उसे यह जानने लगे तो उस समय यह स्थिति बन जायगी कि ज्ञानस्वरूपमे ज्ञान समा गया या ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समा गया। ऐसी स्थिति यह उसके लिए वाञ्छनीय है। यही मैं हूं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरे लिए इष्ट नही है, हितकारी नही है। ऐसा दृढ निर्णय इस अंतस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानी सतके हुआ करता है। तो हम लोगोंके लिए यही करना है। सभी लोग अपनी-अपनी पाडो, हम अपनी पाडें, आप अपनी पाडो। हम अपना कार्य न करें, दूसरोके ही पाडनेमें लगे रहे तो न हम खुद ही सभलें, न दूसरे ही। जैसे मथुरा वृन्दावन जाने वाली डोकरियाँ सभी अपनी-अपनी पोटली अपने पास रखती हैं। सभी जगह स्टेशनोपर उतरना, गाडियोपर चढना, इधरसे उधर आना जाना यही बना रहता है। तो उस यात्रामे वे सभी डोकरिया अपनी-अपनी पोटली सभाले रहती है तो सभीकी पोटली सभली रहती है। अगर कोई डोकरिया अपनी पोटली तो सभाले नही और दूसरोकी ही फिकर रखे तो उसकी खुदकी पोटलीकी भी सभाल नही हो सकती। ऐसे ही यहां हम आपको अपनी-अपनी खुदकी संभाल करनी है ? सभी अपनी-अपनी सभाल करें तो सब संभल जायेंगे और अगर खुद तो संभले नही और दूसरोकी सभालकी ही फिकर रखे तो उससे न खुदकी ही सभाल हो सकेगी और न दूसरोकी। तो भाई सभी लोग अपनी-अपनी पाड़ो। हम आपको बाट जोहना है मोक्ष की। अन्य समस्त परपदार्थोंको व परभावोको असार समझकर उन्हे छोडना है। इस मोक्षतत्त्वकी बाट जोहे किसके बलपर ? यहां ही अपनेमे स्वतः प्रकाशमान सहज ज्ञानस्वरूप (कैवल्यस्वरूप) को ज्ञानमे लें, जब यह खालिस हो तब ही खालिस बनेगा। तो यहां अपने को उस खालिस कैवल्यके स्वरूपमें अपने ज्ञानबलसे निरखें, उसकी शरण लें तो उसका यह प्रताप होगा कि हम कभी कैवल्य प्राप्त कर लेंगे। उस कैवल्यकी बाट जोहे। उसी स्थितिमे हम उत्कृष्टतामें आते हैं, उसीके लिए हम आ

यत्न रखें, उसमे ही हमारी भलाई है ।

धर्मकी ही शरण्यता—हम आप सब आत्माओंको केवल एक धर्म ही शरण है । धर्म क्या है ? जो मेरा स्वभाव है । मेरा स्वभाव क्या है ? जो मुझमे निरपेक्ष भाव है । वह निरपेक्ष भाव क्या है ? मेरा जो सत्त्वके ही कारण सहजस्वरूप है, मेरा भाव, वह है मेरा स्वरूप । उसे कहिये—सहज चैतन्यज्योति । मैं ज्ञानस्वरूप हू, सदा प्रतिभास करता रहता हू, ऐसी मैं एक स्वच्छ ज्योति हू, इस स्वच्छ ज्योतिका ऐसा ही सहज परिणमन बना रहे वही धर्म है । अपना मैं इस तरह ज्ञाताद्रष्टा रहू, कही विकल्प न करू, किसी विकल्पका अनुभव न करू, स्वाद न लू, केवल एक अतस्तत्त्वका ही स्वाद लू, यही है मेरा धर्मपालन । तो ऐसा धर्म तो यह मैं स्वय आत्मतत्त्व ही हू । यह बडी खुशीकी बात है । धर्म कही बाहर नही है जो कि कहीसे लाना पडे । मेरा धर्म यह मैं स्वय आत्मा ही हू । बात तो अच्छी है, लेकिन हो क्या रहा है कि इस मेरी बाह्य दृष्टिने इस धर्मका घात कर दिया । क्या है उपयोग और कितना है, कैसा है वह उपयोग ? अपनी ओर लगे और अपनी ओरसे हटकर बाह्यकी ओर लगे तो इस उपयोगको कितना घूमना पडा, कितना अन्तर आया ? क्या दो-चार अगुलका अन्तर आया ? अरे एक सूतका भी अन्तर नही आया । कैसी वृत्ति है उपयोगकी कि यह यहाँ ही रहता हुआ दूसरी ओरको मुड गया । बस इतनीसी वृत्ति हुई । होनेको तो कुछ नही, बस एक दृष्टिका परिवर्तन हुआ, मगर इस थोडेसे परिवर्तनसे अन्तर कितना आ गया ? तो यह बाह्यदृष्टि ही मेरा हनन करने वाली है । बाह्यदृष्टिसे हटकर अपने स्वरूपमे आयें, यही धर्म है, इसका ही शरण सत्य है ।

परतत्त्वको अन्तस्तत्त्व माननेका भयकर परिणाम—क्या किया हमने बाह्यदृष्टिमे ? किसीका कुछ बिगाड़ तो नही किया । मैंने तो केवल इतनाभर किया कि जो परतत्त्व है, बाह्य तत्त्व है उसे मान लिया कि यह मैं हू । हे प्रभो ! मैंने कसूर तो बस इतना ही किया । कोई बडा कसूर तो नही कर दिया जिससे कि कोई मेरे लिए क्रोधका पात्र बने । हे प्रभो ! मेरे इतनेसे कसूरका इतना बडा दड मुझे मिला कि मुझे कीट-पतिगा, पशु-पक्षी, नरक, निगोदकी जैसी कुयोनियोमे भटककर असह्य क्लेश सहना पडा । हे प्रभो ! जरासी मेरी गलतीपर मेरे लिए इतना बडा बतगड बन गया । तो यह बतगड क्यो बना नाथ ! इतना बडा दड दिया जाने लायक मैंने क्या कसूर किया था ? अरे भाई यह बात यो तो छोटीसी दिखती है कि किसी परतत्त्वको मान लिया कि यह मैं हू, पर यह अपराध एक बहुत बडा अपराध है । जैसे कहते है ना कहावतमे कि "बात थी कितनीसी जडमे, हो गया कितना बतगड ।" अरे कसूर तो किया था जरासा, पर बतगड इतना बढ गया कि सारे दद-फद, क्लेशजालमे ऐसा फसना पडा कि जिसका कोई आरोपार नही । तो यह सब एक बाह्यदृष्टिका प्रताप है । अगर यह बाह्य-

दृष्टि न की होती तो इतनी बड़ी विडम्बना इस जीवकी न होती। अभी यही आप देख लो— यहाँ आप सभी लोग बडी अच्छी तरहसे बैठे हुए है, कोई कष्ट नही दे रहा, यहाँसे घर जायेंगे तो बना बनाया भोजन भी मिल जायगा, आप सबका व्यापार धंधेका कार्य भी ठीक है, सब प्रकारके आरामके साधन है, इतनेपर भी क्या है कोई ऐसा माईका लाल जो अपनेको ऐसा अनुभव करता हो कि मेरेको तो कोई बातका कष्ट नही ? अरे प्राय. सभी लोग कोई न कोई कष्टकी बात चित्तमे लिए बैठे है। तो कष्ट वास्तवमे कुछ है नही, पर बनाये जा रहे है। किसी ने कुछ सोचकर कष्ट बना लिया, किसीने कुछ सोचकर। अरे कष्टकी कोई बात ही क्या थी ? बस इतनासा समझ लेते कि हम तो यहाँ फस गए है, विपत्तिमे है, हाँ हमारा काम है करने का सो कर लेंगे, दृष्टि ऐसी ही रखेंगे कि ये सब बाह्यप्रसग है, मेरे वास्तविक करने योग्य काम नही है। इस बाह्यदृष्टिने इस जीवको ऐसा बरबाद किया कि इसे जगह-जगह जन्ममरण करने पडते। हम आपपर सबसे बडा कष्ट है जन्ममरणका और कुछ नही। और कष्ट तो कल्पना करके बनाये जाते है, पर मूलमे कष्ट है जन्ममरणका। उस ओर ये जीव दृष्टि क्यो नही करते ? मुझे कष्ट मिटाना है तो इस जन्गमरणका कष्ट मिटाना है। इसके लिए हमे तैयार रहना है, बाहरी कष्टोके निग्रह-विग्रह करनेके लिए। बाहरी कल्पित कष्टोको मिटानेके लिए जो रात-दिन सोचते रहते तो यह कोई बुद्धिमानीका कार्य नही। कष्ट वास्तवमे मिटाना है इस जन्ममरणका। अरे भाई जन्ममरणका इतना बडा कष्ट मोल ले लिया, इतनी बडी विडम्बना बना ली तो वह भी कोई थोड़ी आफत नही है। बाह्यतत्त्वको यह मै हू, बस इतना मान लिया, इतनीसी जरासी गल्ती की। अभी बाहरमे किसी जज वगैरासे कहा जाय कि भाई हमने बस इतनीसी गल्ती की है कि किसी परतत्त्वको मान लिया कि यह मै हू, तो यह कोई बडी गल्ती तो नही है, इसमे मैने कोई देशमे नरसहार जैसी चीज तो नहीं करा दिया, कोई महान अपराध तो नही कर दिया, तो शायद जज भी यही निर्णय दे देगा कि हाँ यह कोई महान अपराध नही है। पर भाई इस जरासी गल्तीको कम अपराध न समझें। जगतकी समस्त विडम्बनाओको इस ही गल्तीने पसार दिया है।

धर्मस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका फल परमसिद्धि—अब समझे भैया ! पर-को निज माननेका अपराध कितना बडा अपराध हो गया ? इससे कितनी बडी विडम्बना बनी, लेकिन भाई इतनी बड़ी विडम्बनाओको मेटनेका एक सहज सुगम उपाय भी तो है। वह क्या उपाय है कि अपना जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है उसे मान लें कि बस यह ही मैं हू। इसके अतिरिक्त मै अन्य कुछ नही, बस सारी विडम्बनायें एक साथ समाप्त हो जायेंगी। यह मै आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप हूँ। लोग धर्मभावनामे कहते है ना कि भाई धर्म करो। धर्म एक ऐसा सुखदायी तत्त्व है कि जहाँ कल्पवृक्षसे कुछ मागो तो वह मिल जायगा। चिताम-

रत्नसे कुछ सोचो तो वह मिल जायगा। यह तो एक लौकिक दृष्टिका कथन है, पर वास्तव मे धर्मके फलमे तो बिना जाचे, बिना चिन्ते, सभी चीजे अपने आप प्राप्त होती हैं। ऐसा स्वय साक्षात् धर्मस्वरूप यह मै हू। ये सब बातें प्राप्त हुईं हमे आगमसे। यदि यह आगम न होता तो हम कैसे पदार्थके स्वरूपको समझ पाते ? हम आभारी है इस जिनवाणीके, इस आगमके। इतना आभारी है कि जिसका हम बदला कहा चुका सकते है ? व्यर्थ ही यहाँ थोडी बाहरी बातोमे ऐहसान या बदला या अन्य बात मान लेते है, मगर इस आगमका, इस शास्त्रका अथवा जिन गुरुवोके प्रतापसे यह ज्ञान प्राप्त होता है या मूलभूत सर्वज्ञदेवका हम किस तरहसे बदला चुका सकते हैं ? इसका बदला किसी बाहरी बातसे तो नही चुकाया जा सकता है। अगर हम अपना कल्याण कर जायें तो यह ही उनका बदला चुकाना कहलायगा और तरहसे हम उनका बदला नही चुका सकते है। यह मै आत्मा स्वय साक्षात् धर्मस्वरूप हू, देखो—एक ही दृष्टिमे एक ही झिटकेमे, एक ही बारमे सर्व बाह्य ओरसे हटकर बीचकी किसी भी बातोमें न अटककर एक स्वय आत्माके इस सहजस्वरूपकी ओर दृष्टि देना है, ऐसा अपनेको आलम्बन मिले, इसका अगर अपनेको शरण मिला है तो समझिये कि हमे शरण मिल गया, हम ठीक है। हमारा भविष्य ठीक होगा, हमने पूरी कमाई कर लिया, और यदि यही बात न पाया तो फिर यह जन्म व्यर्थ है। बाह्य वैभवकी ओर धनिकोको देखकर या किसी तरह बडी ऊँची इज्जत वालोको देखकर मनमे किसी प्रकारकी उत्सुकता जगना मूर्खता है। वे स्वय कर्मोदयसे परेशान है, वे स्वय व्याकुल है, वे स्वय दयाके पात्र है, न कि उनकी बात देखकर यहा कुछ उत्सुकता इच्छा या उनको स्याबासी देने जैसी बातके लायक नही है। वे स्वय दयाके पात्र है। अपने केन्द्रका, अपने आत्माका उन्हे पता ही नही है। वे चारो ओर न जाने कहा-कहा भागते फिरते हैं।

सकलसंकटोके विनाशका उपाय ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानकी मग्नता--देखिये—यमुना नदी के बीचमे रहने वाला कोई कछुवा अपनी चोच पानीसे बाहर निकालकर यत्र-तत्र डोलता रहता है। उसकी चोचको चोटनेके लिए सैंकडो पक्षी ऊपर मडराते रहते है। वह कछुवा अपनी रक्षाके लिए यत्र-तत्र भागता-फिरता हैं, परेशान होता फिरता है। उसे कोई समझा दे कि अरे कछुवे ! तू क्यो व्यर्थमे दुःखी होता फिरता है ? अरे तेरेमे तो एक ऐसी कला है कि तेरे ऊपर आने वाले उपद्रव क्षणभरमे ही टल सकते हैं, तेरेमे वह कला क्या है कि तू जरासा पानी मे अपनी चोचको डुबा ले, बस तेरे सारे सकट मिट जायेंगे। ये सारे मडराने वाले पक्षी फिर तेरा क्या कर सकेंगे ? इसी तरह हे आत्मन् ! तुम भी बाहरमे अपनी उपयोगरूपी चोचको निकालकर यत्र-तत्र भ्रमते फिरते हो, तेरे ऊपर सैंकडो प्रकारके उपद्रव आते रहते है। कही धन्धे लोग हैरान करते, कही नाते-रिश्तेदार सताते, कही राजा सताता, कही डाकू लोग

सताते। यो बाहरमे अपनी उपयोगरूपी चोचको निकालनेके कारण हैरान होते फिरते, दु खी होते फिरते। अरे क्यो दु खी होते फिरते ? देख तेरेमे तो वह कला है कि तेरे ऊपर आने वाले ये उपद्रव क्षणभरमे ही टल सकते है। तेरेमे वह कला क्या है कि तू अपने ज्ञानसमुद्रमें जरा डुबकी तो लगा दे, बस तेरे ऊपर आने वाले उपद्रव फिर कुछ न कर सकेंगे। हे आत्मन् ! तू ज्ञानस्वरूप ही तो है। तू इस ज्ञानस्वरूपमे अपने उपयोगको लगा दे। यह उपयोग क्या है ? ज्ञानकी वृत्ति ही तो उपयोग है। तेरेमे यह ज्ञानवृत्ति बनी हुई है तो इस वृत्तिको अपने ज्ञानमे निमग्न कर ले, फिर तेरे लिए कही कोई कष्ट नही। तो यह ही चीज धर्मकी है, यह साक्षात् धर्म, यह स्वय आत्मतत्व, इसको हमने ही बरबाद कर दिया और हम ही अपने आत्मज्ञानको इस दृष्टिसे दूर कर सकते है और अपने आपके स्वरूपको पा सकते है। जिसमे हमारा वास्तविक उद्धार है, उसके लिए हमे चाहिए कि तत्त्वका अभ्यास करें। हर जगह आत्मज्ञानको छोडकर और कोई कार्य अपने आत्मामे न धारण करे। यहाके कार्य तो बिना मनसे, वचनसे और कायसे कर डाले, मगर बाह्य कार्य मेरे करने योग्य नही है। मेरे लिए किए जाने योग्य कार्य है धर्मपालन। इसके लिए जो मेरा धर्मस्वरूप सहज शुद्ध आत्मतत्त्व है उसमे लगें, उसको ही निरन्तर जानते रहे, ऐसा प्रयास करें, इसके करते हुएमे कदाचित् विघ्न भी आयें तो भी करनेका यही काम है, इसके सिवाय और कुछ मेरे करने योग्य नही है, ऐसा निर्णय करें और वास्तविक धर्मपालनकी धुन बने तो इसमे हम आपका कल्याण है।

भूतार्थसारणी दृष्टिकी पद्धति—हम जानते तो रहते है निरन्तर, पर अपने जाननेकी एक पद्धति बनायी जाय, जिसे कहते हैं भूतार्थसारणीपद्धति अर्थात् कुछ भी जानकर यह कहाँसे प्रकट हुआ है, इसका कहाँ स्रोत है ? इस इस पद्धतिसे हम सभी कुछ जाना करें तो इस पद्धतिमे जाननेसे हमको आत्महितके लिए बडा लाभ मिलेगा। यह पद्धति होती है एकत्वकी ओर पहुचाने वाली पद्धति। जैसे आस्रव हुए, ये रागादिक आस्रव हुए, ये रागादिक भाव किससे प्रकट हुए अर्थात् किसका परिणमन आश्रय है ? तो भेदविवक्षा बतायगी कि राग चारित्रगुणका परिणमन है। तो इस चारित्रगुणका स्रोत क्या है, आधार क्या है ? आधार है आत्मद्रव्य। अब उस आत्मद्रव्यको भी जब हम अखण्ड एक अभेदरूपमे ही रखेंगे तो यह गुण पर्यायका पिण्ड है। यह चारित्रगुण है, यह भेद न हो पायगा। तब उस समय जो प्राप्त होगा वह होगा भूतार्थसारिणी पद्धतिसे जानकारीका फल। इसे कहेंगे कि भूतार्थ से हमने जाना आस्रव। तो इस तरह हम कुछ भी जानें, मगर जाननेकी पद्धति हम ऐसे एकत्वकी ओर ले जानेकी बनायें, इससे लाभ यह होगा कि हम एक उस मूल शरणभूत तत्त्व मे पहुच जायेंगे, हमारा उपयोग पहुच जायगा कि जिसका शरण माननेमे ये सर्व सकट तत्काल भी दूर रहते है और इस अन्तस्तत्त्वमे रहते है तो सभी संकट निकटकालमे अत्यन्त

दूर हो जाते हैं, हम ऐसे उस चैतन्यस्वभावरूप अखण्ड तत्त्वको निरखते है तो जो विदित होता है ऐसा यह चित्स्वरूप आत्मतत्त्व है ।

कर्मबन्धनविधि—अब हम अपनेको एक दूसरी दृष्टिसे देखे कि क्या हो रहा है और कौन यहा क्या है ? प्रथम स्थिति देखिये—हम तो हैं कोई चित्स्वरूप आत्मद्रव्य, जिसका कार्य ज्योतिर्मय है, जिसका स्वरूप ही ज्ञानज्योति है, वह अपने ज्ञानज्योतिस्वरूपमे रहता है, ऐसी स्वच्छतामात्र यह मै आत्मतत्त्व हूँ । अब बाह्यरूप देखिये—प्रसिद्ध बात है अनादिकालसे कि यह जीव कर्मोसे घिरा हुआ है, कर्मबद्ध है, वह कर्म क्या है ? कोई कार्माण पुद्गल द्रव्य है, बँध गया। अब वह पडा है सत्तामे, जिसे बताया है कि पृथ्वी पिण्डके समान है । जब तक विपाक नही होता, उनका फूटना नही होता तब तक वह पृथ्वी पिण्डके समान पडा रहता है, और जब विपाककाल आता है तो उस समय उन कार्माण स्कधोकी शकल, उनकी मुद्रा, उनकी वृत्ति, पूर्वमे जब वह पिण्ड समानमे पडी थी तबसे विलक्षण है, क्योकि यदि अविशेषता हो जैसे वह सत्त्व कालमे था उस ही तरह अब वह है विपाककालमे, तो उस अविशेषताके होनेपर फिर यहा कोई वैषम्य न हो पायगा, नैमित्तिक भाव न बन पायगा, क्योकि अब तो सत्त्व समान ही इस विपाककी मुद्रा मान लिया। तब मानना होगा कि जब कर्मका स्फोट हुआ, उदय हुआ, विपाक हुआ तो उसमे कार्माणवर्गणामे, उस द्रव्यमे, निषेकमे कोई एक विचित्र अपूर्व स्थिति हुई, जिसके लिए अदाज कर लीजिए कि जैसे कोई सूखी कलईका डेला रखा है, जब उसका विपाककाल हुआ, जिसे कहते है कुछ कालमे स्वय विपाक हुआ या उस पर पानी डाल दिया तो उस विपाक समयमे वह कलईका डेला फूटता है निखरता है, बिखरता है तो उसमे कितनी विचित्रता आती है, ऐसा वैचित्र्य लेता हुआ कर्म आया । चूंकि यह आत्मा स्वच्छतारूप है इसलिए जो आयगा उसकी झलक होगी । चूकि वह अधेरारूप है तो वह झलकमे आया तामस । जैसे दर्पणमे अधेरा आया हो तो वहाँ हम क्या बतायें कि क्या झलका ? इसी तरह यहाँ अधेरा पडा हुआ है तो मैं क्या बताऊँ कि मुझे क्या झलका ? जैसे हम इस ज्ञेय पदार्थकी झलक लेकर बता पाते है कि यह चौकी है । तो वहाँ ऐसी सुध न हो पायगी, मगर काम वही चल रहा है । उस कालसे यह ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा, यह ज्ञान अपने स्वरूपसे च्युत हुआ, एकदम छाया आयी, आक्रमण हुआ तो उस समय यह ज्ञान स्वरूपसे च्युत हुआ । च्युत होकर उसने उस ही छाया प्रतिभासको अपनाया—यह मैं हू । इसके बाद अब इसके उपयोगमे विकल्प बने, मुद्रा बनी । जो मुद्रा किसी बाह्य पदार्थका विषय बनाकर हुआ करती है अब इसकी इष्ट अनिष्ट ये सब कल्पनायें हुईं और बाह्यपदार्थ अब इसके विषयभूत हुए । जिसे कहते है—बाह्यवस्तुको आश्रय किए बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नही पाता । अब बाह्य वस्तुको विषय किया, अध्यवसानका स्वरूप बनाया तो

यह तीन रूपोमे फूटा। जिसे कहते है—क्रियमाणैकाध्यवसाय, विपच्यमानैकाध्यवसाय और ज्ञायमानैकाध्यवसाय। ऐसी इच्छा करना कि मै इसे मारूँ, दुःखी करूँ, मैने किया, ऐसा जो क्रियमाणैकाध्यवसाय है वह प्रथम अध्यवसाय है। और कुछ भाव ऐसे बनते है कि जहा करने की बात तो नही चलती है पर "मैं हू" इस प्रकारका आशय रहता है। जैसे मैं इज्जत वाला हू, परिवार वाला हू, पढा लिखा हू, मूर्ख हू, आदिक कुछ भी बात मनमे उठे वह है विपच्यमायनैकाध्यवसाय। जैसे नारकी हुए तब समझते है कि मैं नारकी हू, पशु आदि हुए तो पशु हूँ, मनुष्य हूं आदि। अब तीसरा अध्यवसाय ऐसा है कि जिसमे न मै का कोई ऊधम मचाया, न क्रिया की, किन्तु ऐसा जाहिर हो रहा है कि किसी चीजको जान रहे, बाह्य पदार्थको और उसे जाननेमे ऐसा लीन हो गए कि अपनी सुधबुध खो गए, ऐसा बहुतोको होता है, जिससें प्रयोजन भी नही है। जाननेमे आ रहा है, बस जाननेमे ऐसा मस्त हो गए कि अपनी सुध भी भूल गए। तो ऐसे तीन प्रकारके अध्यवसान होते है जिनसे इस जीवके कर्मबध होता है।

विभावजालकी मायारूपता व अपारमार्थिकता—कर्मबन्ध किस तरह होता ? वह होता अध्यवसानपूर्वक, अध्यवसान होता है बाह्याश्रमपूर्वक। तो आस्रवकी क्या स्थिति बना करती है—इस विषयमे समयसारमे आस्रवाधिकारके प्रथम दो श्लोकोमे एक बात स्पष्ट की है कि उदयमे आये हुए पुद्गलकर्म नवीन पुद्गलकर्मके आस्रवके कारण होते है। बात तो यह प्रसिद्ध है कि आत्मामे रागादिक भावकर्म आस्रवके निमित्त होते हैं। पर वहा स्पष्ट शब्दोमे लिखा है कि उदयगत कर्म नवीन कर्मके आस्रवके निमित्त है। फिर इसके बाद लिखा है कि हैं तो आस्रवके निमित्त उदयमे आये हुए वे पुद्गल कर्म, जिनका कि स्फोट चल रहा है और विपाक अवस्थामे आये हैं वे निमित्त है नवीन कर्मके आस्रवके, किन्तु उदयगत कर्मोमे नवीन कर्मके आस्रवणका निमित्तपना आये, इसमे निमित्त होते हैं रागद्वेष मोहभाव। तो यो नवीन कर्मके आस्रवके निमित्तके निमित्तत्वके निमित्त है ये रागादिक भाव। तो भले ही इतनी बात है लेकिन फलित अर्थ तो यह निकला कि जो कुछ चक्की चली, जो आस्रव हुआ, उसमे सब कुछ मेहरबानी इन रागद्वेष मोह भावोकी है। तब यह निर्णय लिया कि रागद्वेष मोहभाव ही आस्रव होता है और ये रागद्वेष मोह अज्ञानीके होते है, ज्ञानीके नही। यह भी एक बडे रहस्य की बात है कि रागद्वेष मोह ये ज्ञानीके नही होते। लिखा भी है—इससे अज्ञानीके ही आस्रव है, यह स्वय बात सिद्ध हो जाती है। ज्ञानी किसे कहते है ? जिसने विवेक किया है, जो यहाँ विवेक कर रहा है, यह उदयगत प्रत्यय है, यह इसका निमित्त है, कारण है और ये रागद्वेष मोहभाव जो कि उस विपाकके प्रतिभास है। दर्पणमे जैसे सामने अनेक पक्षी हो तो वैसा प्रतिभास है। इसी तरह विपाक आता है तो वह प्रतिभास है। यहाँ तक इसका बिगाड़ नही हो रहा, मगर उसे जहां अपनाया सो बिगाड हो रहा। ज्ञानी पुरुष उन बाह्य पदार्थोको अपनाता

नही, वह उन्हे आत्मस्वरूप नही मान रहा। इतनी कला प्रकट हो जानेके कारण रागद्वेष कुछ हो भी रहे है तब भी उस ज्ञानीमे नही हो रहे। जैसे कि सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमे बताया कि राग नही हो रहे, रागकी क्या खानी है ? तो बताया कि ये अज्ञान राग, द्वेष, मोह ये इनकी खानी है। तो ये ज्ञानीके नही होते, आत्मामे पैदा नही होते। जैसे किसी लावारिस बच्चेको जो कि सडक पर फिर रहा हो उसे तांगे वाले देखकर कहने लगते कि देखो यह बच्चा लावारिस है, ऐसे ही ये रागद्वेषादिक भाव लावारिस है, मगर इस अज्ञानी जीवने इनको गारटी दे रखी है कि तुम घबडाओ नही, हम तुम्हारे मालिक है, तुम मिटोगे नही, तुम मिटोगे तो हम नये राग हाजिर कर देंगे। इस तरह रागद्वेषादिक भावोको गारटी देनेके लिए यह अज्ञानी जीव है तो हो, मगर ये रागद्वेषादिक भाव लावारिस है, किसके कहे जायें ? जिसके विवेकबुद्धि है, जो भेदबुद्धि रखते हैं वे जानते हैं कि ये कर्म मेरे नही हैं। क्रोध, मान, माया लोभ विभावकी बात नही कह रहे हैं, वही नाम कषायोका है, वही विभावोका है। क्रोध प्रकृतिमे जो क्रोध है उसकी बात नहीं कह रहे, किन्तु उदयगत क्रोधप्रकृतिकी जो यह छाया है उस प्रतिभासकी बात कह रहे है कि वह प्रतिभास इन कर्मोसे तो आया नही, क्यो कि कर्ममे वह प्रतिभास नही हो रहा। यद्यपि विभावका अन्वयव्यतिरेक कर्मके साथ है तो भी कर्म प्रदेशमे नही है। ये कर्मके नही है।

ज्ञानानन्दधाम अन्तस्तत्त्वके प्रकाशसे सकल संकटान्धकारका प्रणाश—आत्मा ज्ञानस्वच्छतामात्र है, ज्ञानने ऐसा अपने आपका निर्णय रखा है कि मैं तो स्वच्छता मात्र हूँ। हो रहा है विभाव। जैसे सनीमाका पर्दा तो जैसा ही सीधा-सादा दर्जीके यहाँसे जैसा सिलकर आया वैसा रखा है। अब उसपर जब फिल्मका चित्रण होता है तो सब चित्र उस पर्देपर होते हैं। वे चित्र किसके है ? क्या उस फिल्मके है ? नही। अगर फिल्मके होते तो फिल्मपर ही रहना चाहिये था, पर्देपर न आना चाहिए। अगर कहो कि पर्देके है तो फिर पर्देमे ही रहना चाहिए था। पर ऐसा तो नही होता। तो कहते है कि वे चित्र लावारिस हैं, इसी तरह ये रागद्वेष भाव क्या हैं ? लावारिस। पर जो इनकी गारटी देते है वे दुःखी होते हैं, और जिन्होने सत्य जाना है वे भाररहित होते है। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। देखिये—उपयोगमे बहुत बडी सामर्थ्य होती है। अभी यही आप अपने उपयोगमे ज्ञानका बल लगाये, भेदविज्ञानकी बात बतलायें, अपने उपयोगमे इस एकत्वस्वरूपका अभेद करें, उसकी ही वासना बनायें तो आप बाहरकी सारी बातें भूल जायेंगे। जैसे आप लोग यहाँपर शास्त्र-प्रवचन सुन रहे हैं, आप सबका उपयोग इस तरफ लगा हुआ है तो इस समय भूखे होनेपर भी आपका ध्यान भोजनकी ओर तो नही है। और शास्त्र सुननेके बाद तो फिर आप लोग थोडी देर भी यहाँ न बैठ सकेंगे। झट भोजन करनेके लिए घर भागेंगे। अभी तो आप लोगोका उपयोग इधर शास्त्र सुननेकी ओर

लगा हुआ है, इसलिए कोई कष्ट नही मान रहे । तो उपयोगमे कला है कुछ कि नही ? तो यो ही समझिये कि हम अपने सारे सकटोको मेट सकेंगे तो उपयोगकी ही किसी शुद्ध कलाके बलपर ही मेट सकेंगे, और कोई उपाय नही है कि बाहरमे सुधार-बिगाड कर दे और उ से हम अपने सकटोमे फेर-फार कर ले, सो बात नही है । जैसे कि जिन्दा मेढकोको कोई तौल नही सकता । जरा ५ किलो मेढक तौलकर तो बताओ । आप एक मेढक रखेंगे तराजूपर और यदि दूसरा मेढक रखनेकी कोशिश करेंगे तो वह उछल जायगा, यो आप फिर एक मेढक रखेंगे तो दूसरा उछल जायगा । इस तरह आप जिन्दा मेढक तौल नही सकते । इसी तरह यहाँके सकटोको आप अपनी बुद्धिसे दूर करनेकी कोशिश जिस विधिसे कर रहे है उस विधिसे दूर हो सकेंगे क्या ? अरे एक सकट मिटा कि दूसरा हाजिर । तो उपाय वह करना चाहिए कि जिस उपायके बलसे समस्त संकट एक साथ विलीन हो जायें, सदाके लिए विलीन हो जायें । वह उपाय क्या है ? वह उपाय यही है कि भूतार्थसारणीपद्धतिसे जानकारी बनाकर अपने आपके एकत्वकी ओर आये ।

ज्ञानीके सावधान रहनेके अवसर—जिसने यहाँ भेदविज्ञान किया है उसको कितने बार कितने अवसर है उसके थमनेके ? प्रथम तो यह उद्यम करना चाहिए कि हम अपने उस कारणसमयसार कारणपरमात्मतत्त्व चैतन्यस्वभावको ज्ञानमे लें तो उस सकटके कालमे हम अधेरेसे ग्रस्त न होगे । पहला उद्यम हमारा यह हो और कही वे आक्रमण ऐसा कर देते है कि हम अपने उस ज्ञायकस्वरूपको ज्ञानमे लेकर नही रह पा रहे है । नही रह पा रहे न सही, पर उसका स्मरण तो रखें, उसकी धारणा तो रखें, अपने ज्ञानस्वरूपसे सर्वथा च्युत तो न हो जायें, हम इस कर्मविपाकके नाचको अपनायें तो नही । इस कर्मविपाकको अपनानेमे ही सारा अधेरा पडा हुआ है । इसको ही कहते है मोह । कोई लोग ऐसी शका करते है कि घरमे रहते हुए मोह कैसे छूट सकता है ? और यह शका उनकी बहुत दर्जे तक उचितसी भी जचती है । कैसे छूट सकता मोह ? दुकान जाना होगा, काम करना होगा, बच्चोकी फिक्र करनी होगी, सब कुछ क्रियायें करनी होगी, फिर मोह कैसे छूट सकता है ? तो देखिये मोह और रागमे अन्तर है । मोहकी बात तो अभी कह ही रहे थे । जो हमपर कषायोका आक्रमण है, अधेरा है, जो नाच हो रहा है, हुआ ना प्रकृतिका, उसे अपना मानना सो मोह है । देखो कैसी मैत्री है जीव और प्रकृतिमे ? जीवप्रकृतिके अर्थ उत्पन्न और नष्ट होता है और जीवके अर्थ यह प्रकृति उत्पन्न और नष्ट होती है । सर्वविशुद्ध अधिकारमे श्लोक आया है वहाँ यद्यपि सीधा अर्थ यह है कि प्रकृतिका निमित्त पाकर जीव उत्पन्न होता है विभावरूपमे और जीवके विभावका निमित्त पाकर कर्ममे परिणतियाँ बनाती है, मगर उसका अर्थ जरा सम्प्रदान रूपमे तो ले लो । जीव प्रकृतिके लिए मरा जा रहा है और प्रकृति जीवके लिए मरी जा रही है । जीव चाहता

कि कभी इस प्रकृतिका मेरेसे वियोग न हो और प्रकृति भी चाहती है कि कभी इस जीवका मेरेसे वियोग न हो। ऐसी एक दोस्ती अनादिकालसे जीव और प्रकृतिमे बनी चली आ रही है। जीव और प्रकृति दोनो ही एक दूसरेकी दोस्तीके लिए बरबाद हो रहे हैं। प्रकृतिने भी कैसी जीवके प्रति मित्रता बनायी है कि यह जीवके लिए ही उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। उदय आया, नष्ट हुआ तो वह भी जीवकी मित्रतासे। इसका ससरण चले, हमसे बिछुड न पाये, इसका सयोग बना रहे। हम इसके लिए है। जीव प्रकृतिके लिए उत्पन्न और नष्ट हो और प्रकृति जीवके लिए उत्पन्न और नष्ट हो। हुआ क्या ? कर्मका विपाक हुआ, उसे अपनाया। तो जो अपनाया उसी भावका नाम मोह है। यह मोह जिनके नही है उन्हे कहते हैं ज्ञानी, ऐसे ज्ञानी जनोंके रागद्वेष भी फिर कहांसे होंगे ? यह एक किसी स्थानपर सोचनेकी बात है। तो उस प्रकृतिका जो कुछ विपाक होता है उसमे व्यामोह होना अर्थात् अपनी सुध न रहना, पर्यायबुद्धि होना, इसका नाम मोह है। पर्यायबुद्धिको मोह कहते हैं। पर्यायके प्रति, रागद्वेष भावके प्रति जो कुछ विचार बन रहे हैं—यह मैं हू, इस प्रकारकी बुद्धि हो तो मोह है। जिसके ज्ञान जग गया है, ऐसे गृहस्थके भी तो ज्ञानमे बाधा नही आती, ज्ञान है, जग गया है। जिसके ज्ञान जागृत हो गया उस गृहस्थके मोह नही है।

राग होनेपर भी अन्तः सावधानीका ही कर्तव्य—भैया ! राग भी इतना विकट होता है कि राग मोह जैसी स्थितिको जना देता है, फिर भी अन्त मोह न हो तो रागका आक्रमण आखिर विफल हो ही जाता है। जैसे एक घटना आयी है कि श्री रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणके मृतक शरीरको अपने कधेपर लिए हुए ६ माह तक फिरते रहे, पागलो जैसी चेष्टायें करते रहे। उन्हे खिलाने-पिलाने, बुलाने आदिकी कोशिश करते। जब सवेरा होता तो कहते—भैया ! उठो, स्नान नही करोगे क्या, मन्दिर नही जाओगे क्या ? क्यो हमसे रूठ गए ? क्यो हमारी आज्ञाका उल्लघन कर रहे , इस प्रकारकी क्रियायें करते हुएमे वे पागल तो नही बन गए थे ? अरे पागल नही थे, उनपर रागका तीव्र आक्रमण था। लेकिन वह राग छह माससे अधिक तो नहीं रह सका। निर्मोह राग ६ माहसे अधिक नही रहता। कितना तीव्र आक्रमण होता है रागका, इसका अदाज श्रीरामकी इस घटनासे कर लो। लोग सोचते है कि घरमे रहकर मोह कैसे छोडा जा सकता है ? लेकिन ऐसी बात नही है। घरमे रहकर मोहको छोडा जा सकता है, हाँ राग करना पडता है। जैसे कभी कोई सेठ बीमार हो गया या मान लो आप ही तेज बीमार हो गए तो आप अस्पतालमे कोमल गद्देदार पलगपर पडे रहते है, बडे आरामके कमरेमें रहते है, कुछ नौकर भी आपकी सेवामे हाजिर रहते हैं। सभी लोग बडी पूछताछ रखते है। डाक्टर भी समयपर आकर औषधि देता है। जरा भी औषधि मिलनेमे देर हो गई तो आप झुझला जाते है। इन सब बातोके होते हुए भी क्या आपको उन

सब बातोमे मोह है ? नही । हाँ राग अवश्य है । अगर राग न हो तो फिर आप औषधि देर से मिलनेपर झुझलाते क्यो या अन्य किसी बातमे कमी देखी तो उसमे खेद मानते क्यो ? तो वहाँपर आपको राग है, पर मोह नही है । तो राग और मोहमे अन्तर है । कदाचित् परिस्थितिवश, अशक्यतासे आप घरमे रहते हुएमे राग नही छोड सकते तो मोहको तो छोड ही देना चाहिए । घरमे रहकर खाना-पीना भी पड़ता, बच्चोका पालन-पोषण भी करना पडता, रोजिगार भी करना पडता, सामाजिक कार्य भी करने पडते । सब कुछ करते हुए भी ज्ञानी पुरुपका कर्तव्य है कि वह ऐसा सोच ले कि यहाँ मेरा कुछ नही है, ये सब मेरेसे भिन्न चीजें है, ये सब करनेका मेरा कर्तव्य नही है । ऐसा ज्ञानी गृहस्थको गृहस्थीके बीच रहकर भी किसीसे मोह नही होता । हाँ उसे राग करना पडता है । उसपर भी उसकी यही दृष्टि रहती है कि यह राग करना भी मेरा कर्तव्य नही, यह तो करना पड रहा है । जो जैसा है उसे वह उस ही रूपमे समझता है । तो हम आप यहाँके सारे कार्य करें तो सही, पर अपना सच्चा ज्ञान बनाये अन्यथा तो यह मानव-जीवन पाना व्यर्थ ही जायगा । यहाँसे मरण करके इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे न जाने कहाँ किस गतिमे, किस पर्यायमे जन्म लेना होगा ? अभी तो हम आपको सब सुध है, सब सामर्थ्य है, सब प्रकारके अच्छे साधन मिले है तो एक इस मोक्षमार्गके लिए अपना उपयोग बनायें तो यह हमारे लिए कल्याणकी बात है ।

अन्तर्दृष्टिमें अपने अबद्धत्वका दर्शन—किसी भी पदार्थको दो दृष्टियोंसे देखा जा सकता है । एक तो बाहरी दृष्टिसे और एक उसके अन्तरङ्ग स्वरूपकी दृष्टिसे । तो जगतके जीवोने अब तक अपने आत्माको बाहरी दृष्टिसे तो देखा है, किन्तु अपने अन्त.स्वरूपकी दृष्टिसे नही देखा । इन प्राणियोने ऐसा तो विश्वास किया है कि मैं मनुष्य हू, मैं पशु हू, मै इज्जत वाला हू, मैं परिवार वाला हू, मै सुन्दर हू, मैं मूर्ख हू, मैं धनी हू, आदिक, पर अपने आपका स्वरूप अपनेमे अकेला कैसा है—उस तरहसे अनुभव नही किया और यही कारण है कि ससारी जीव अब तक जन्म मरणका चक्र लगा रहा है । तब क्या करना कर्तव्य है ? अपनेको शुद्ध दृष्टिसे देखें । स्वयको अपने आप अकेला 'मैं कैसा हूं' इस तरहकी बात देखो । देखियें—जगतमे किसीका कोई शरण नही है । कोई यह सोचता हो कि मेरे लिए मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा धन ये सब शरण है, तो यह सब एक धोखे वाली बुद्धि है । अरे जब तक आपका उदय अच्छा है, पुण्यका उदय है तब तक ही आपके मुखने ये बाह्य आश्रय पड जाते हैं, निमित्त हो जाते है । यदि स्वयके पापका उदय आये और फिर कोई साथ देने वाला हो तो एक भी मिसाल बतलाओ । पुराणोमे आप देखियेगा कि जिनके बड़ा पुण्यका उदय था, बडे-बड़े लोग उनके सेवक रहा करते थे । पापका उदय आनेपर उन्हे किसीने नहीं पूछा । तो यह बात जाननी चाहिए कि इस जगतमे मेरा कही कोई शरण नही है । मेरा शरण है

कि कभी इस प्रकृतिका मेरेसे वियोग न हो और प्रकृति भी चाहती है कि कभी इस जीवका मेरेसे वियोग न हो । ऐसी एक दोस्ती अनादिकालसे जीव और प्रकृतिमे बनी चली आ रही है । जीव और प्रकृति दोनो ही एक दूसरेकी दोस्तीके लिए बरबाद हो रहे है । प्रकृतिने भी कैसी जीवके प्रति मित्रता बनायी है कि यह जीवके लिए ही उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। उदय आया, नष्ट हुआ तो वह भी जीवकी मित्रतासे । इसका ससरण चले, हमसे बिछुड न पाये, इसका सयोग बना रहे । हम इसके लिए है । जीव प्रकृतिके लिए उत्पन्न और नष्ट हो और प्रकृति जीवके लिए उत्पन्न और नष्ट हो । हुआ क्या ? कर्मका विपाक हुआ, उसे अपनाया । तो जो अपनाया उसी भावका नाम मोह है । यह मोह जिनके नही है उन्हे कहते हैं ज्ञानी, ऐसे ज्ञानी जनोके रागद्वेष भी फिर कहांसे होंगे ? यह एक किसी स्थानपर सोचनेकी बात है । तो उस प्रकृतिका जो कुछ विपाक होता है उसमे व्यामोह होना अर्थात् अपनी सुध न रहना, पर्यायबुद्धि होना, इसका नाम मोह है । पर्यायबुद्धिको मोह कहते है । पर्यायके प्रति, रागद्वेष भावके प्रति जो कुछ विचार बन रहे हैं—यह मैं हू, इस प्रकारकी बुद्धि हो तो मोह है । जिसके ज्ञान जग गया है, ऐसे गृहस्थके भी तो ज्ञानमे बाधा नही आती, ज्ञान है, जग गया है । जिसके ज्ञान जागृत हो गया उस गृहस्थके मोह नही है ।

राग होनेपर भी अन्तः सावधानीका ही कर्तव्य—भैया ! राग भी इतना विकट होता है कि राग मोह जैसी स्थितिको जना देता है, फिर भी अन्त मोह न हो तो रागका आक्रमण आखिर विफल हो ही जाता है । जैसे एक घटना आयी है कि श्री रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणके मृतक शरीरको अपने कधेपर लिए हुए ६ माह तक फिरते रहे, पागलो जैसी चेष्टायें करते रहे । उन्हे खिलाने-पिलाने, बुलाने आदिकी कोशिश करते । जब सवेरा होता तो कहते—भैया ! उठो, स्नान नही करोगे क्या, मन्दिर नही जाओगे क्या ? क्यो हमसे रूठ गए ? क्यो हमारी आज्ञाका उल्लघन कर रहे , इस प्रकारकी क्रियायें करते हुएमे वे पागल तो नही बन गए थे ? अरे पागल नही थे, उनपर रागका तीव्र आक्रमण था । लेकिन वह राग छह माससे अधिक तो नहीं रह सका । निर्मोह राग ६ माहसे अधिक नही रहता । कितना तीव्र आक्रमण होता है रागका, इसका अदाज श्रीरामकी इस घटनासे कर लो । लोग सोचते हैं कि घरमे रहकर मोह कैसे छोडा जा सकता है ? लेकिन ऐसी बात नही है । घरमे रहकर मोहको छोडा जा सकता है, हां राग करना पडता है । जैसे कभी कोई सेठ बीमार हो गया या मान लो आप ही तेज बीमार हो गए तो आप अस्पतालमे कोमल गद्देदार पलगपर पडे रहते है, बडे आरामके कमरेमें रहते है, कुछ नौकर भी आपकी सेवामे हाजिर रहते हैं । सभी लोग बडी पूछताछ रखते हैं । डाक्टर भी समयपर आकर औषधि देता है । जरा भी औषधि मिलनेमे देर हो गई तो आप झुझला जाते हैं । इन सब बातोंके होते हुए भी क्या आपको उन

सब बातोमे मोह है ? नही । हाँ राग अवश्य है । अगर राग न हो तो फिर आप औषधि देर से मिलनेपर झुझलाते क्यो या अन्य किसी बातमे कमी देखी तो उसमे खेद मानते क्यो ? तो वहाँपर आपको राग है, पर मोह नही है । तो राग और मोहमे अन्तर है । कदाचित् परिस्थितिवश, अशक्यतासे आप घरमे रहते हुएमे राग नही छोड सकते तो मोहको तो छोड ही देना चाहिए । घरमे रहकर खाना-पीना भी पडता, बच्चोका पालन-पोषण भी करना पडता, रोजिगार भी करना पडता, सामाजिक कार्य भी करने पडते । सब कुछ करते हुए भी ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य है कि वह ऐसा सोच ले कि यहाँ मेरा कुछ नही है, ये सब मेरेसे भिन्न चीजें हैं, ये सब करनेका मेरा कर्तव्य नही है । ऐसा ज्ञानी गृहस्थको गृहस्थीके बीच रहकर भी किसीसे मोह नही होता । हाँ उसे राग करना पडता है । उसपर भी उसकी यही दृष्टि रहती है कि यह राग करना भी मेरा कर्तव्य नही, यह तो करना पड रहा है । जो जैसा है उसे वह उस ही रूपमे समझता है । तो हम आप यहाँके सारे कार्य करें तो सही, पर अपना सच्चा ज्ञान बनायें अन्यथा तो यह मानव-जीवन पाना व्यर्थ ही जायगा । यहाँसे मरण करके इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे न जाने कहाँ किस गतिमे, किस पर्यायमे जन्म लेना होगा ? अभी तो हम आपको सब सुध है, सब सामर्थ्य है, सब प्रकारके अच्छे साधन मिले है तो एक इस मोक्षमार्गके लिए अपना उपयोग बनायें तो यह हमारे लिए कल्याणकी बात है ।

अन्तर्दृष्टिमें अपने अबद्धत्वका दर्शन—किसी भी पदार्थको दो दृष्टियोसे देखा जा सकता है । एक तो बाहरी दृष्टिसे और एक उसके अन्तरङ्ग स्वरूपकी दृष्टिसे । तो जगतके जीवोने अब तक अपने आत्माको बाहरी दृष्टिसे तो देखा है, किन्तु अपने अन्त.स्वरूपकी दृष्टिसे नही देखा । इन प्राणियोने ऐसा तो विश्वास किया है कि मैं मनुष्य हू, मै पशु हू, मै इज्जत वाला हू, मैं परिवार वाला हू, मैं सुन्दर हू, मैं मूर्ख हू, मैं धनी हू, आदिक, पर अपने आपका स्वरूप अपनेमे अकेला कैसा है—उस तरहसे अनुभव नही किया और यही कारण है कि ससारी जीव अब तक जन्म मरणका चक्र लगा रहा है । तब क्या करना कर्तव्य है ? अपनेको शुद्ध दृष्टिसे देखें । स्वयको अपने आप अकेला 'मैं कैसा हू' इस तरहकी बात देखो । देखिये—जगतमे किसीका कोई शरण नही है । कोई यह सोचता हो कि मेरे लिए मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा धन ये सब शरण है, तो यह सब एक धोखे वाली बुद्धि है । अरे जब तक आपका उदय अच्छा है, पुण्यका उदय है तब तक ही आपके सुखमे ये बाह्य आश्रय पड जाते है, निमित्त हो जाते हैं । यदि स्वयंके पापका उदय आये और फिर कोई साथ देने वाला हो तो एक भी मिसाल बतलाओ । पुराणोमे आप देखियेगा कि जिनके बडा पुण्यका उदय था, बडे-बडे लोग उनके सेवक रहा करते थे । पापका उदय आनेपर उन्हे किसीने नही पूछा । तो यह बात जाननी चाहिए कि इस जगतमे मेरा कही कोई शरण नही है । मेरा शरण है

तो मेरा स्वभाव ही शरण है, चैतन्यमूर्ति ग्रानन्दधाम अपना भगवान ग्रात्मा ही शरण है। उसके निकट जायें तो जन्म सफल होगा और बाहरी पदार्थोंके निकट जायें तो यह जन्म बेकार जायगा। ऐसा निर्णय करके अपने ग्रापपर दया करके मुझे सकटोंसे हटना है और सत्य ग्रानन्दमे पहुचना है, ऐसी अपनी ग्रापकी दया करके इतना कडा साहस तो बनाये कि इस जगतमे मेरा कही कुछ ममताके लायक नही है। किसमे ममता करूँ, किसमे अपना उपयोग निरन्तर फसाये रहूँ ? जगतमे कोई भी परपदार्थ मेरे लिए सारभूत नही है। यह बात तो ग्रापने अनुभवसे भी परख ली होगी। तो इतनी बात समझकर अब जरा अन्तर्दृष्टि करके ग्रानन्दधाम अपने पवित्र भगवान ज्ञानस्वरूप ग्रात्माके निकट ग्रायें। अब परवाह नही कि बाहर क्या होता है ? कोई छिदे-भिदे कैसा ही परिणमन हो तो भी किसी बाह्यपदार्थमे मेरा प्रवेश नही है। मुझे अपने ग्रापमे कुछ अपनी खोज करनी है, बाहरकी खोजसे कोई काम न चलेगा। तो जरा अन्तर्दृष्टि करके देखो यह मैं चैतन्यमूर्ति भगवान ग्रात्मा अपने ही स्वरूपसे हू, परसे निराला हू।

अबद्धदृष्टिमें एकत्वका दर्शन—गाय गिरवासे बँधी है। यदि ग्राप सही रूपमे उसका निर्णय करेंगे तो यह निर्णयमे ग्रायगा कि गाय गिरवाँसे नही बँधी है। गिरवाँका एक छोर दूसरे छोरसे बधा है। वहाँ गायमे गाय है, गिरवाँमे गिरवाँ है। वहां कही गाय और गिरवाँ इन दोनोमे गाँठ तो नही लगी है। फिर भी वहाँ ऐसा बन्धन हो गया कि वह गाय वहाँसे कही जा नही सकती। वहाँ गिरवाके बधनके बीचमे गायका गला है, इसलिए उसे बन्धन कहा जाता है। यो ही देखो—इस ग्रात्मामे कर्म लगे हैं। कर्मका ग्रात्माके साथ ऐसा बन्धन लगा है कि यह ग्रात्मा कर्मोंसे छूट नही पा रहा, फिर भी इसको सही दृष्टिसे देखो तो कर्ममे कर्म है और ग्रात्मामे ग्रात्मा है। ग्रात्माके शुद्ध स्वभावको देखो तो वह कर्मसे बँधा हुग्रा नही है। अबद्ध अपने ग्रापमे परिपूर्ण एक है, ऐसे ग्रात्माको अगर निरखें तो कुछ शान्ति भी मिलेगी और जहा नाना रूपोमे अपनेको देखा वहाँ अशान्ति ही है। तो धर्म ही शरण है। मगर धर्मकी शरण किसे मिलती है ? जिसने धर्मकी रुचि की है, धर्मके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन न्यौछावर किया है और जिसमे ममता अटकी है बाहरी पदार्थोंमे उसको शान्ति नही मिल सकती, धर्म नही मिल सकता। धर्म तो उनको ही प्राप्त होगा जो धर्मके लिए अपने ग्रापको न्यौछावर कर देगा। कुछ भी हो, जगतमे मेरा कोई प्रयोजन नही। मेरा ग्रात्मस्वभाव मेरी दृष्टिमे रहे, यही मेरा सच्चा स्वभाव है। मेरा ग्रात्मा मेरी नजरमे रहे, इससे बढकर जगतमे कुछ भी वैभव नही। तो ऐसी ग्रात्माकी दृष्टि करें। हम यहाँ सभीको कह रहे है।

धर्मकी ही वास्तविक शरण्यता—चाहे कोई धनिक हो तो, निर्धन हो तो सभीको

यह धर्म ही शरण है। धनके जुड जानेसे इस आत्माका लाभ क्या अथवा न जुडनेसे हानि क्या ? आत्मा तो ज्ञानमात्र है, अमूर्त है, सबसे निराला है। मैं हवासे भी नही उडता, अग्निमे भी नही जलता, जलसे भी नही भीगता, किसीकी पकडमे भी नही आता, किन्तु वह तो एक अनुभवसे ही ग्रहणमे आता है, मैं अपने ज्ञानमे ऐसा ही चेतता रहू निरन्तर। मै ज्ञानमात्र हू, जानना जानना ही मेरा स्वरूप है। जाननके अतिरिक्त और कोई मेरा स्वरूप नही है। ऐसी ज्ञानज्योतिको अपने ज्ञानमे ले, वहाँ ज्ञानप्रकाश ज्ञानमे रहेगा तो वहाँ स्वरसत· अनुभव हो जायगा कि अहो ! यह तो मैं ज्ञानमात्र हू, अर्थात् अबद्धदृष्टिसे जब हम अपने आपको निहारते है तो यह ज्ञानस्वभाव अपनी दृष्टिमे विदित होता है। अब सोच लो अपने आपको कि मैं अपने स्वरूपमात्र हू, जो मेरेमे है उस ही सत्ताके कारण स्वभाव पाया जाता है, वही मेरा है, जो मेरेसे कभी छूट जाता है वह मेरा नही। वह तो पहिलेसे ही मेरेसे छूटा हुआ है। सारा धन मेरेसे छूट जायगा तो यह पहिलेसे ही छूटा हुआ है। कल्पना कर लिया कि यह मेरा है, धन छूटा हुआ ही है, उस छूटे हुएको मानें कि वह तो मेरा है तो उसके पीछे उसके विछोह होनेपर दुःख तो होगा ही। अरे जो पहिलेसे ही छूटा जान रहा है उसका क्या खेद मानना ? जो पुरुष अपनेको इस तरह साहसी बनाता है कि मेरेको यह जन्म मिला है तो ऐसा मिला है कि इस जन्ममरणके सकटको मेट डालें, और किसी बातका मुझे लाज या सकोच नही है। चाहे कोई प्रशसा करे तो, निन्दा करे तो उससे हमे लाभ अथवा हानि क्या ? मुझे जगतमे किसीसे कोई आशा नही रखनी है कि कोई मेरा बड़प्पन बनाये। अरे यह तो मायामयी ससार है ? यहां किसका बडप्पन रह सका ? अनन्ते बडे-बडे चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि हो चुके, पर उनका भी आज कोई नाम-निशान रहा क्या ? अनेक चक्रवर्ती हुए जिन्होंने वृषभाचल पर्वतपर अपना नाम खुदवाकर अपना नाम कायम रखना चाहा, देखो उनको भी उस पर्वतपर अपना नाम खुदवानेके लिए जगह खाली न मिली। उनको भी किसी दूसरे नाम को मिटाना पडा तब उनका नाम लिखा जा सका। तो देखिये—कितने चक्रवर्ती अब तक हो गए, पर उनका कुछ भी अब रहा क्या ? तो भाई यहा अपने यशकी इच्छा न करें, धन की इच्छा न करें, किसी बाह्य समागममें उत्सुकता न बढायें और यह भावना करें कि हे प्रभो ! तुम्हारी भक्तिके प्रसादसे मेरेमे ऐसी सुबुद्धि जगे कि मैं अपनेमे अपनेको ज्ञानमात्र निरख सकू और ज्ञानमात्र अनुभव कर सकू। स्वानुभव ही मेरा सर्वोत्कृष्ट वैभव है। तीन लोकके समस्त वैभव भी उसके समान तृणवत् है। बाह्य पदार्थोंसे इस आत्माको क्या मिलनेका ?

अबद्धदृष्टि करके स्वरूपमात्र देखनेका कर्तव्य—जरा अबद्धदृष्टिसे अपनेको निहारो, मैं किसीसे बँधा हुआ नही हू। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, अपने आपके स्वरूपमे हू। देखिये—तालाबमें पमरा और कमलके पत्ते रहते हैं। कमलका पत्ता ऐसे चिकने स्वभाव वाला है कि उसपर

पानी जमता नही है। पानी आयगा तो उसपर लुढकता रहेगा। पानी उस पत्तेपर जम नही सकता। अब वहाँ अगर इस दृष्टिसे देखें कि यह कमलका पत्ता पानीसे छुवा हुआ है तो छुवा हुआ दिखता। जब हम कमलपत्रके स्वभावमे ही दृष्टि रखकर निरखें तो वहाँ यह विदित होगा कि यह कमलपत्र पानीसे छुवा हुआ नही है, साफ सूखा है। चाहे पानीमे क्यो न पडा हो ? इसी तरह जब हम अपने आत्माको बाहरी दृष्टिसे देखते है तो यह शरीरसे बँधा है, कर्म से बधा है ऐसा नजर आयगा। अब केवल आत्माके चैतन्यस्वभावको ही देखें तो स्वभावदृष्टि मे आयगा कि यह मै चित्स्वभावमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी सर्व परद्रव्योंसे अबद्ध हू, छुवा हुआ नही हू, मैं अपने स्वरूपसे ही रह रहा हू। यो अबद्धदृष्टि द्वारा अपने स्वरूपमे अपने स्वरूप को जो पा लेता है बस उसका कल्याण हो जाता है। एक मोटे ढगसे इतना ही निरख लें कि इस जगतमे कही कुछ मेरा बनकर रहेगा नही, एक समय अवश्य ऐसा आयगा जब कि उसे मेरेसे अलग होना होगा। और की तो बात क्या ? यह देह भी मेरा बनकर न रहेगा। तो बाहरी पदार्थोंमे ममता करके मैं क्यो अपने को बरबाद करूँ ? ये जीव जो दिख रहे है कीडा मकोडा पशु-पक्षी आदिक यह सब इसीका तो फल है कि आत्माने आत्माका विवेक नही किया, आत्माके स्वरूपको नही समझा। तो अनेक पाप बँधते रहते है, उनके उदयमे ऐसी दुर्गतियो मे जन्म लेना पडता है। आज मनुष्य हुए तो क्या हुआ ? अगर सस्कार खोटे ही बनाये रहे, विषयोसे ही प्रीति रखी तो उसके फलमे यही जन्ममरणकी परम्परा हाथ लगेगी। तो इस मनुष्यभवको पाकर हम आपपर कितनी बडी जिम्मेदारी है ? हम आप ससारके सकट सदाके लिए मेटनेका उपाय आज बना सकते है। हम चाहे तो अपना कल्याण कर जायें और चाहे अपना सारा बिगाड कर जायें, ये सब बातें एक दृष्टिपर ही तो निर्भर है। तो देखिये दृष्टिके बलसे ही कितना फर्क हो जाता है, एक जमीन आसमानका जैसा फर्क हो जाता है। हम आप ऐसी दृष्टि बनावें कि जिसके बलसे ससारके सारे सकट सदाके लिए मेट लें। एक दृष्टात है कि जैसे किसी पुरुषके सामने एक ओर खलीका टुकडा रख दिया जाय, दूसरी ओर रत्न रख दिया जाय और उससे कहा जाय कि भाई इन दोनो चीजोमे से आपको जो चीज पसद हो सो उठा लो। यदि वह खलीका टुकडा उठाता है तो क्या उसे विवेकी कहा जायगा ? विवेकी नही कहा जा सकता। इसी तरह हम आपके सामने दो बाते है—एक तो जन्ममरणके सकटोसे भरा हुआ ससार भी हमे भावोसे ही मिल रहा है और दूसरे इन सारे सकटोसे छूटकर अनन्त आनन्दधाम मुक्ति भी मुझे भावोसे ही मिल सकती है। अब कोई कहे कि भाई इन दोनो चीजोंमे से तुझे जो चीज पसद हो सो लूट लो। अगर वह जन्ममरणके घोर दु खोंसे भरे हुए ससारकी चाह करता है तो क्या उसे विवेकी कहा जा सकता है ? नही कहा जा सकता। आप भावोंके सिवाय और कुछ करते भी तो नहीं, चाहे दुकानपर हो या घरपर हो या कही

भी हो, आप सर्वत्र भाव ही करते है। अब भावोके फलमे योग हुआ तो वह एक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मप्रदेशमे परिस्पंद हुआ और उसके अनुकूल शरीरमे वायु चली और जैसी वायु चली वैसे शरीरके अग चले और इस तरह ससारके ये सब काम बनने लगे, पर इस कामको करने वाला मै नही हू। मै तो केवल भाव करता रहता हू। देखिये भावोसे ही पुण्य होता और भावोसे ही पाप होता। तो इतना निर्णय हो गया कि हम भावोके ही करने वाले है। भावोसे ही ये सातासाधन समागम प्राप्त होते है, तो इतनेपर भी अगर भावोमे सुधार न किया जाय और बाह्य वस्तुओमे सुधार-बिगाडका विकल्प मचाया जाय तो उससे लाभ क्या ?

विषयोपयोगसे हटकर निजतत्त्वके उपयोगमे आनेका अनुरोध—देखो भाई! हमारा आत्मा है भगवानस्वरूप। वह पवित्र है, ज्ञानानन्दधाम है। ऐसे परम पावन निज अतस्तत्त्व पर दृष्टि देंगे, यह ही मै हू, ऐसी भावना बनायेंगे तो सदाके लिए ससारके सकटोंसे दूर हो जायेंगे, और यदि अपने आत्मतत्त्वसे हटकर बाह्य विपयोमे रमेगे तो उसके फलमे दुर्गतियोमे जन्म लेना पडेगा। यद्यपि ये पञ्चेन्द्रियके विषय आज बडे सस्ते लग रहे है, पुण्यका उदय है, उसके साधन मिले हैं, तो जब चाहे इन इन्द्रियविषयोमे रत हो लें, मगर यह बात ध्यानमे रखनी चाहिए कि ये विषयभोग जो कि बडे सस्ते लग रहे है वे बडे महगे पडेंगे। उसके फल मे नाना दुर्गतियोमे जन्म लेना पडेगा। इन विषयोमे प्रीति मत करें। इन विषयोसे विरक्त होकर एक आत्माके अन्तः ज्ञानस्वभावमे रुचि करें। मैं ज्ञानमात्र हू, मै इस ज्ञानमात्र स्वरूप को ही झलकमे लूं, उसमे ही रमूं, उसमे ही अपना आनद मानूं। ऐसे एक अपने आनन्दधाम आत्मतत्त्वको देखिये—बाहरी विकल्पोको छोडिये। किसी समय आप अनुभव कर रहे हो या उस आत्मस्वभावकी चर्चा सुन रहे हो या उसे अपने उपयोगमे ले रहे हो तो ऐसा अलौकिक आनन्द आता है कि जो किसी भी इन्द्रियविषयसे नही आता। और जब आपका उपयोग ऐसे आत्मामे रत हो जायगा तो फिर उस समयके आनन्दकी कहानी ही क्या कहे ? इसके लिए इस तरह अपने भीतर आयें। जो कुछ हमारा बाहरी रूप है—मनुष्य हू, कषाय कर रहा, विकल्प कर रहा, ये मैं नही हू। जो मेरेमे विचार उठ रहे वे भी मैं नही हू, क्योकि ये विचार क्षणिक हैं, मैं तो क्षणिक नही हू, मैं तो ध्रुव रहने वाला हू। मेरेमे जो गुण समझमे आ रहे है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक जो कलायें समझमे आ रही है वे भी मैं नही हू। अपने अखण्ड आत्माको जब भेददृष्टिसे समझाते हैं तब नजर आता है कि ऐसे कही गुण नही भरे है आत्मामे जैसे कि बोरामे गेहू भर दें। अरे आत्मा अखण्ड एक स्वभावरूप है। जब हम चैतन्यस्वभावको समझते है तो उसके समझनेके लिए हम गुणोकी चर्चा करते है। जिसमे ज्ञान हो वह आत्मा, जिसमे आनन्द हो वह आत्मा। अरे आत्मा तो एक अखण्ड चि-

भाव है, जिसे हम ज्ञान और आनन्द कहते है। तो ऐसे पर्यायसे अतीत, गुणभेदसे परे केवल चैतन्यस्वभावमात्रमे अपने आपको देखें तो यह ही अबद्धदृष्टि कहलाती है। इस तरह अपने आपको निहारनेपर अलौकिक आनन्द प्रकट होगा और इसी आनन्दमे सामर्थ्य है कि कर्म दूर होगे। कर्मोंका काटना कही क्लेशसे नही होता। कष्ट करनेसे कर्म नही कटते। कर्म काटनेके लिए जो उद्यमी हुए है साधु, वे अपने ज्ञानकी उपासनासे ऐसी तल्लीनतासे लीन होते है कि कैसे ही शीत, गर्म अथवा निर्जन स्थानमे बैठे हो, जिन्हे देखकर लोग सहसा ही कह उठते है कि अहो! ये कितना कष्ट उठा रहे हैं। अरे वे तो परमज्ञानामृतका पान कर रहे है। उस ज्ञानामृतका पान करते समय जो उन्हे अलौकिक आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दमे ही ऐसी सामर्थ्य है कि भव-भवके सचित कर्म कट जाया करते है। यहाँ तो न किसी विषयोमे रमना योग्य है, न किसीसे अधिक परिचय बनाना, प्रेम बढाना, मोह बढाना आदि योग्य है। हाँ ये सब करने पडते है, पर ये सब करनेका मेरा कर्तव्य नही है, ऐसी दृष्टि रहे। मेरा कर्तव्य है आत्मस्वरूपमे रमनेका, यही काम करनेको मेरी जिन्दगीमे पडा हुआ है, मेरा कोई दूसरा कर्तव्य नही है।

अबद्ध अन्तस्तत्त्वके दर्शनमे ही कल्याण—यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि हम किसी भी चीजको दो रूपोमे देखते है—बाहरी रूपमे और अन्त स्वरूपमे। बाहरी रूपसे देखने पर तो मेरेको शान्तिलाभ नही होता। हाँ उसे जान लें, ज्ञेय है, पर ऐसा जानना कि उससे मेरी उपेक्षा हो जाय। बाहरी रूपसे ऐसा जानना चाहिए कि उसका यथार्थस्वरूप जानकर कि यह वास्तविक चीज नही है, मिलजुल करके देह बना है, यह बाहरी चीज मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा जाननेके कारण मेरेमे उपेक्षा जगे कि मुझे इनमे प्रेम नही रखना, ये मेरे स्वरूप नही है। तो बाहरी स्वरूपको जानना चाहिए उपेक्षा प्रकट करनेके लिए और अपने अन्त.स्वरूपको जानना चाहिए इस ही स्वरूपमें रम जानेके लिए, बस दो ही काम पड़े हैं मेरे को करनेके लिए। काम तो एक ही है, मगर उसे दो रूपोमे देख लें। बाहरी पदार्थोंसे तो मुख मोडना है और अपने आत्मस्वरूपमे उपयोग लगाना है, ये दो बातें अगर जीवनमे बनाये रहे तो उससे आपको लाभ मिलेगा और अगर विषयोमे अपना चित्त लगाया तो उससे दुर्गतियां ही मिलेंगी। मान लो यहाँ कोई अधिक धनिक हो गया तो उस धनसे उसके आत्माका सुधार क्या हुआ? तो धनिक बननेकी होडमे न पडें, उसमे चित्त हटाकर आत्मकल्याणकी ओर बढनेके लिए अपनी बुद्धिका सदुपयोग करें। अपने आत्मकल्याणकी दृष्टि प्रखर बनावें। मेरा तन, मन, धन, वचन सर्वस्व इस आत्मस्वरूपकी उपासनाके लिए अर्पित हो। जैसे भी बने इस आत्मस्वरूपकी उपासनामे अपना चित्त लगावें। इस आत्मोत्थानके कार्यमे बढनेके लिए आवश्यक है कि गुरूपासना, स्वाध्याय, ज्ञानभावना आदिकके कार्योंमें अपने मनको

लगावें। इसीके लिए मेरा मन, मन, धन, वचन न्यौछावर हो। मुझे मोक्षमार्गमे बढना है, न कि इस सकटमय ससारसे रुलना है। ऐसा एक अपना निर्णय बनावें और इन बाहरी तत्त्वो से हटकर अपने अन्त.स्वरूपमें आयें और अनुपम आनन्द लें। आज हम आपने जैनधर्म पाया, उत्तम कुल पाया, उत्तम ज्ञान पाया तो इनका सदुपयोग करके कुछ लाभ लूट लें। यह आत्मा ज्ञान और आनन्दसे तो लबालब भरा ही हुआ है, उसको पानेके लिए ही अपना जीवन समझें। उसीको प्राप्त करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझे।

अनन्यदृष्टिमे आत्माकी अनन्यताका प्रकाश—ज्ञानी पुरुष अपने आपको नाना रूप मान रहे हैं। जब पशुमे पैदा हुए तव अपनेको पशु माना, पक्षीमे पैदा हुए तो अपनेको पक्षी माना। आज मनुष्यगतिमे आये तो अपनेको मनुष्य मानने लगा। इस तरह यह जीव जिस दशामे हुआ उस ही रूप अपनेको मानता, पर परमार्थदृष्टि यह बनती है कि जीव नाना रूप नही है, अन्य-अन्य नही है, वह तो एक ही है। जो जीव पशुमे गया वही पक्षी हुआ, वही मनुष्य हुआ, वही सिद्ध बनता है। जीव एक है चैतन्यस्वभावरूप, पर जो अनेक विचित्रतायें लगी है, जीव नाना दशाओमे रहता है उसका कारण है प्रकृतिका सम्बध। कर्मप्रकृति जिस प्रकारके विपाकमे आती है उस प्रकारका आत्मामे परिणमन चलता है। यद्यपि वस्तु दो अलग अलग है। आत्माका परिणमन आत्माकी ही शक्तिसे होता है, कही कर्म परिणमन नही कराता, लेकिन स्वभावके विरुद्ध जो विचित्रता है, यह विचित्रता यदि आत्मामे उसके ही सत्त्वके कारण स्वभावके कारण कह दिया जाय तो इसे फिर कभी नष्ट न होना चाहिए, मुक्ति फिर न हो सकेगी। मानना होगा निमित्तनैमित्तिक भाव। निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी वस्तु स्वतत्र है इसमे कोई सन्देह नही। तो इस जीवने अपनेको माना कि मैं मनुष्य हू तो यह भी समझमे आया कि मैं इस दिनसे पैदा हुआ हू, मैं ६०-७० अथवा ८० वर्षका हू। लेकिन आत्मा तो ६०-७०-८० वर्षका नही है। अरे वह तो अनादिसे लेकर अनन्तकाल तक है। तो मै आत्मा अनादि अनत हू, यह बात अनन्यदृष्टिमें बनती है। मैं वही एक मात्र हू। जैसे अगुली सीधी है, टेढी है, गोल है, कितनी ही अवस्थायें आयें अगुलीमे, तो अगुली तो एक ही रहेगी, उसकी अवस्थायें बनती है, इसी तरह यह जीव कितनी ही गतियोमें जाय, यह जीव तो एक ही है, वह अन्य-अन्य नही हो सकता। यह मैं आत्मा अनन्य हू और किस स्वरूप हूं? मेरेमें चैतन्य-स्वभाव पाया जाता है। चैतन्यस्वभावमात्र हू, देखो जिसके मोह लगा हो, परिवार कुटुम्बमें ममता हो, धनमे अधिक व्यामोह हो, ऐसा मनुष्य इस तत्त्वके समझानेका पात्र नही होता। तत्त्वकी समझ उनमें आ ही नही सकती। यदि महान अलौकिक आनद पाना हो तो ममतामें ढील देनी पडेगी, सबको धोखा मानना पडेगा। इस धन वैभवसे मेरा कोई काम न सरेगा। अन्दरमें निहारना होगा तब इस भगवान आत्माकी कथा रुचेगी। यह भगवान आत्मा

अनत और अपने स्वभावमात्र है। हाँ समय-समयमें जो परिणतियाँ होती हैं वे उस क्षणकी परिणति है पर मै तो इन परिणतियोका जो स्रोत है, ऐसा स्वभावमात्र हू। मैं सदाकाल रहने वाला हू, चैतन्यप्रकाशमात्र हू।

अन्तस्तत्त्वकी स्वसंवेदनगम्यता—ये इन्द्रियाँ बाहरी बातें देखा करती है, बाहरी बात सुना करती है, बाहरी चीजोका ही ज्ञान करनेमें कारण बनती हैं, पर आत्मामें अन्दरमें क्या बसा हुआ है, कैसा प्रकाश है, कैसी विधि है ? इसको ये आँखें जाननेमें समर्थ नही हैं, और अन्तकी बात तो ये आँखें वगैरा जतायें क्या ? आँख अपनी आँखको भी नही जान सकती। आखमें अगर कोई लालिमा वगैरा आयी या कोई तिनका लग गया हो तो ये आखें उसे देख नही सकती या आखमें काजल या गदगी लगी हो तो उसे भी ये आखें देख नही सकती। तब फिर आत्माकी बात, अन्दरकी बात तो आखें परखेंगी ही क्या ? तो फिर आखोसे आत्मतत्त्व दृष्टिमें न आयगा। आँखें बन्द करके ज्ञाननेत्रके द्वारा अपने आपके अन्त स्वरूपका अवलोकन करें तो उसे देख सकते हैं। इस जीवका दुश्मन तो मोह है और कैसा अज्ञानी जीव है कि यह अपने दुश्मनमे प्रीति रखता है, मोह व्यर्थका है, इससे कोई काम सिद्ध नही होनेका। स्वप्नमे जैसे कोई चीज दिखी तो वह उसे सत्य मानता है, मगर कुछ भी सत्य नही है। नीद जब खुल जाती है तो वहाँ कुछ नजर नही आता। इसी तरह जब तक तत्त्वज्ञान उत्पन्न नही होता है तब तक ही भ्रमजन्य क्लेश है। देखो—आत्मा सो परमात्मा और आत्माके भीतरके गुणोकी कथा करना सो परमात्माकी कथा करना कहलाता है। ऐसे भगवानका मिलन परमात्माकी कहानी, परमात्माके गुणोकी चर्चा इस जीवको बडी दुर्लभ है। इसके विषयविषका रोग लगा है जिससे आत्माके असली तत्त्वकी बात सुननेको जीव नही चाहता। इसका चित्त लगा है विषयोकी ओर, चित्त लगा है परिग्रहकी ओर। तो जहाँ चित्त ऐसा बाहर फसा हुआ हो वहाँ अपने आत्माकी बात ध्यानमे न आयगी। देखो—ये आँखें जब अपनी आँखको नही देख सकती है। अपनी आँखकी कोई बात देखनी हो तो ऐना लेते हैं, सामने दर्पणसे देखते है कि मेरी आँखमे क्या है ? सो दर्पणमे भी अपनी आँखे नही देख रहे है, आँखका जो प्रतिबिम्ब हुआ दर्पणमे तो दर्पणमे छाया दिख रही है। उससे परिचय करते है कि मेरी आँखमे क्या है ? तो आँख खुदको नही जान सकता, बाहरी ही बाहरी चीजोको जानती है। तो ये आँखें आत्माके अन्दरकी निधिको क्या पहिचानेंगी ? लोग शका करते है कि आत्मा आत्मा कहते हो, हमे वह आत्मा दिखा तो दो। तो आत्मा कोई आँखोसे देखनेकी चीज नही है, जो उसे हाथ पर रखकर दिखा दिया जाय कि लो यह है आत्मा। आत्मा तो ज्ञानमय है, इन्द्रियगम्य भी नही है। ये कान सुनेंगे तो शब्द ही तो सुनेंगे, बाहरकी बात ही सुनेंगे, भीतरकी बात क्या सुनेंगे ? तो किसी भी इन्द्रिय द्वारा आत्माका ज्ञान नही होता। यह जिह्वा भी तो

बाहरी-बाहरी चीजोंका स्वाद ले लेती है, पर अपने आपका स्वाद कहाँ ले पाती ? तो इन्द्रियाँ कोई एक अन्यकी चीजको नही पहिचान सकती । जब कभी किसी पुरुषकी इच्छा हुई कि मैं अपना बुखार देखूं कि कितना है तो वह क्या करता है ? एक हाथसे दूसरे हाथको छूकर देखता है । अरे जब बुखार शरीरमे है तो उसे छूते क्यो हो ? अलग ही हाथ किए हुए जान लेना कि मेरा शरीर गर्म हो गया । मगर शरीरकी गर्मीको हम एक हाथसे छूकर जान पायेंगे, ऐसा तो न जान पायेंगे । ऐसा छुवे है अपनेको गर्मी, अगर यह हाथ जानेगा तो छूकर जानेगा, ऐसा बाहरी बातसे जानता हैं और छूकर जानता है, इसलिए बाहरी बातसे जानता है । यो पराधीन होकर जानता है । स्पर्शन खुद अपने आपके स्पर्शको नही समझ सकता है । तो आत्माके भीतरकी बात तो हम इन्द्रियसे क्या समझेंगे ? यदि आत्माका परिचय होगा तो ज्ञान द्वारा ही होगा । मै ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानसे अतिरिक्त मेरा और कुछ स्वरूप नही है ।

आत्मबोधसे ही आत्मनिधिकी उपलब्धि—मै ज्ञान ही ज्ञानसे रचा हुआ हू, ज्ञानस्वरूप मात्र हू, ऐसा अनुभव करेगे तो ससारके सकट छूट जायेंगे और यहाँ यदि विषयोमे ही मस्त रहे तो पुण्यका जरा उदय है, इसलिए मस्त हो लो, लेकिन मरेके बाद न जाने क्या गति होगी, तब फिर क्या करेंगे ? अरे इस मनुष्यभवमे तो कुछ सुध न किया, अब मनुष्यके बाद पशु-पक्षी, कीडा-मकोडा, पेड-पौधा आदि बन गए तो फिर क्या हाल होगा ? तो भाई इस जीवनमे सावधान रहनेकी जरूरत है । स्वच्छन्द नही होना है । एकदम परिग्रहमे, मोहमे व्यासक्त नहो होना है । अपनेको देखो—मै अनन्य हू, एक हू, जो हू सो ही हू । ऐसी दृष्टि करनेसे आत्मामे जो शाश्वत आत्मतत्त्व बसा है उसका परिचय होता है । आत्मलाभ, आत्माके दर्शन, भगवानके दर्शन, ज्ञानका अनुभव ये उसीके हो सकते है जो किसी पदार्थमे मोह ममत्व नही रखता । अब चाहे क्षणिक सुख भोग लो, चाहे सत्य शाश्वत आनन्दका उपाय बना लो—बात एक ही बनेगी । दो बातें एक साथ नही बन सकती । एक पुरुष आगे भी चला जाय और पीछे भी चला जाय, ये दोनो बातें एक साथ नही बन सकती । जैसे किसीको यहासे (मडी बामोरासे) गज बासौदा जाना है और खुरई भी जाना है याने विपरीत दिशाओंमे जाना है तो क्या दोनो जगह एक साथ जाया जा सकता है ? नही जा सकते । एक बारमे एक ही दिशामे जा पायेंगे । तो ऐसे ही समझिये कि अगर आनन्द पाना है, शान्ति प्राप्त करना है, शुद्ध स्वच्छ होना है तो मोह ममतासे पीठ फेर लो और अगर क्षणिक मोहमें ही लिप्त होना है तो समझो कि ससारके जन्ममरण सहते रहे । "दोय काज नहिं होय सयाने । विषयभोग अरु मोक्षमे जाने ।।" ये दोनो बातें एक साथ नही हो सकती हैं कि धर्म भी कर ले और मोह भी कर लें । अरे जहा मोह है वहा धर्म नही और जहां धर्म है वहा मोह नही । अब अपनी पसदगी बना लो कि हमे मोह ही प्यारा लग रहा है या धर्म अच्छा लग रहा । सारे मनुष्य प्रा

किसी मनुष्यसे यह कहें कि हमे तो धर्म प्यारा है पर यह उनकी भीतरकी आवाज नही है, यह तो मोहकी आवाज है। उनके भीतरमे यही आवाज आती है कि हमे तो मोह प्यारा है। भीतरमे अगर यह बात परिणाममे आ जाय कि मेरेको मोह प्रिय नही है, धर्म प्रिय है तो वह आगे बढेगा आत्मामे। आत्माका सत्य ज्ञान होगा तो मोह मिटेगा। यो तो सभी कहते है कि मोह बडा दुःखदायी है। हमारा मोह कैसे मिटे ? सभी कहते है कि मोह कैसे मिटेगा ? कोई ऐसा नही है कि मोहको सिल-बट्टेसे पीसकर चटनी बना दिया जाय तो यह मोह मिट जायगा। अरे यह मोह तो तब मिटेगा जब आत्माका सत्य ज्ञान होगा। तो आत्माका सत्य ज्ञान करें।

तन, मन, धन, वचन न्योछावर करके आत्मबोध पानेके उद्यमकी सराहना—भैया! समय सत्यज्ञानके उपलब्धिमे ज्यादा लगायें। शरीरका परिश्रम यहाँ अधिक लगायें ज्ञानभावको की सुश्रूषामे कि जिससे मेरे आत्माका ज्ञान बने। यह मोह तो हमारी बरबादी करने वाली चीज है, ससारमे जन्ममरण कराने वाली चीज है। यह मेरा मोह मिटे और मेरे आत्माका ज्ञान प्रकट हो, वचन बोलें तो अधिकतर आत्माकी बात बोलें, अन्य-अन्य बात मत बोलें। काम पडे तो थोडा बोल लें यह और बात है, क्योंकि गृहस्थी है, कमाई भी करनी है, और भी बात है। समय आनेपर कुछ और भी बोल लें, मगर अधिक समय लगायें आत्माके बोध मे। उसीसे अपना कल्याण होगा, इसी तरह धनका उपयोग भी जब करें तो इस आत्मोद्धारके लिए करें। बहुत-बहुत धन जोड लिया, जीवनभर इस शरीरको बडे आराममे रख लिया तो उससे क्या लाभ मिलेगा ? अरे मरण होते समय ये सब आपके साथ जायेंगे क्या ? अरे यहाँ का कुछ भी तो साथ न जायगा। हाँ यहाँ मौजमे रहकर जो पाप कमाये या जो कुछ पुण्य कमाया उसके सस्कार या उसका फल साथ जायगा। तो इस धनका उपयोग ऐसी जगह करें जिससे हमे आत्माका ज्ञान बढे। इस आत्मज्ञानसे बढकर कुछ भी कार्य नही है, "धन, कन, कचन, राजसुख सबहि सुलभकर जान। दुर्लभ है ससारमे एक यथारथ ज्ञान।" अर्थात् यहाँ पर सभी चीजें प्राप्त करना सुलभ है, पर आत्माका यथार्थ बोध होना, यह ही दुर्लभ है। और इस चीजको अब तक नही पाया। इसकी पहिचान क्या कि अब तक ससारमे जो रुल रहे हैं सो इसीका फल है कि हमने आत्माका सच्चा ज्ञान नही प्राप्त किया। आत्मज्ञानसे बढकर वैभव और कुछ मत मानें। कुछ तो चले इसे मानकर, कोई तो निर्णय रखें। यह ही निर्णय रख लें कि जगतमे सर्वोत्कृष्ट कोई वैभव है तो आत्मज्ञान है। उससे बढकर वैभव दुनियामे और कुछ है ही नही।

नियतदृष्टिका आत्मपरिणाम—यह आत्मा कैसा है ? वह नियत दृष्टिमे कैसा दिखता है ? कुछ इसकी भी तो चर्चा अपने अन्दर बना लीजिए। मैं आत्मा अपने स्वभावमे नियत हू। जिसका जो स्वभाव है वह उससे छूटता नही है, इसके विषयमे एक कहावत चलती है—

'जी को जौन स्वभाव जाय ना ऊको जी से । नीम न मीठी होय, खावो गुड घी से ॥' जिसका जो स्वभाव है वह जायगा कहाँ ? ग्रहानेमे तो ऊपरी बात कहते है पर हम द्रव्यके स्वभावकी बात कह रहे हैं। जिस द्रव्यका जो स्वभाव है वह उसमे ग्रलग नही हो सकता। जीवका स्वभाव चैतन्य है, सो यह जीव ग्रनादि कालसे चतुर्गतियोमे रहा, फिर भी इसका चैतन्य स्वभाव, निज स्वभाव मूर्तिक है। वह कितना ही सूक्ष्म बनकर जीवके साथ रहे, लेकिन उसका मूर्तिक स्वभाव है, ग्रलग नही हुग्रा। उसका चैतन्यस्वभाव है, जो तीन काल रहता है, ग्रनादि ग्रनन्त है, जिसकी बदल नही होती, जिसका परिणमन नही होता। चित्स्वभाव ही रहेगा ऐसा यह मै ग्रपने स्वभावमे नियत हू, चैतन्यस्वभावमात्र हू, नित्य व्यवस्थित हू, त्रिकाल एक स्वरूप हू। उस चैतन्यस्वभावको मानें कि यह मै हू। जैसे लोग ग्रपने ग्रापको कुछ स्वीकार किए रहते है कि मै दादा हू, बाबा हू, लडका हू, ग्रमुक लाल हू, ग्रमुक चन्द हूँ।' जैसे यह बात मैंके साथ लगाये रहते हैं वह तो सब झूठ है, किन्तु पारमार्थिक बात यह है कि मै चैतन्यस्वभावमात्र हू, देखो सम्मान-ग्रपमान, प्रशसा-निन्दा ग्रादिके दु ख कब तक है ? जब तक कि शरीरमे ऐसी ग्रात्मबुद्धि रखे है कि यह मैं हू। शरीरको देखकर- कहते है कि यह मैं हू तब उसके विकल्प होता कि देखो इसने मुझे कई लोगोंके सामने यो कह दिया। जब यह समझ ग्रा जाय कि मैं तो चैतन्यस्वभावमात्र हू। मेरा वह चैतन्यभाव जो ग्रनादि ग्रनन्त एक स्वरूप है, उसको कोई कुछ कर नही सकता, उसे कोई कुछ जान ही नही रहा है, करेगा क्या ? यदि ग्रपने चैतन्यस्वभावका ग्रपनेको परिचय हो तो प्रशसा, निन्दा, सम्मान ग्रपमान ग्रादिके विकल्प नही उठ सकते। इससे ही ग्रदाज कर लो कि ग्रापको कोई ग्रकेलेमे गाली दे जाय तो ग्राप उतना ग्रधिक बुरा नही मानते जितना कि कुछ लोगोके सामने गाली दिए जानेपर बुरा मानते है। यो बुरा मानते कि एक डबल राग लगा। पहिले तो यह लगा कि मुझे गाली दी। शरीरको माना कि यह मैं हूँ ग्रौर इसने मुझको गाली दी पहिली तो यह विपरीतता रही। दूसरी विपरीतता यह रही कि इतने लोग सुन रहे है, जान रहे है ये क्या कहेगे कि यह क्या चीज है ? इसे जो चाहे गाली दे जाता। लो उसने शरीर मे ग्रात्माकी बुद्धि रखा तब इसे यह ज्ञान हुग्रा, यह विकल्प हुग्रा कि इसने मेरेको गाली दी ग्रौर बाह्यमे परशरीरको जीव माना, सो सोचा कि इनके सामने गाली दी। जैसा ग्रात्माका शुद्ध सत्यस्वरूप है वैसा इसे मान लें तो इसको क्लेश नही हो सकता। सम्मान-ग्रपमान, प्रशसा निन्दाका क्लेश नही हो सकता। तो ग्रपनेको परखें कि मै नियत हू, ग्रनादि ग्रनन्त त्रिकाल एक स्वरूप हूं, ऐसे नियत चैतन्यस्वभावमे दृष्टि हो तो वहाँ इस ग्रात्माका दर्शन होता है। यो ग्रात्माका दर्शन नही होता।

पर्यायबुद्धिके ग्रर्थात् ग्रहङ्कारके विलय होनेपर प्रभुताके दर्शनकी संभवता—

कथानक है कि एक आदमी नकटा था। उसकी नाक कटी थी, सो उसे जो चाहे कह बैठता था कि ऐ नकटे, क्या करता है ? तो उसे इस नकटे शब्दको सुनकर बडा दुःख होता था। वह विचार करने लगा कि अब तो कोई ऐसा उपाय करें कि जिससे हमे कोई नकटा न कह सके। सो उसे उपाय सूझ गया। जब एक दिन किसीने उसे नकटा कहा तो वह बोल उठा—अरे तुम लोग इस नकटा बननेका स्वाद क्या जानो ? पहिले हमारे भी तो तुम सब जैसी ही नाक थी। पर जब तक हमारी नाक थी तब तक हमे साक्षात् परमात्माके दर्शन नही हुए। पर अब देखो—हमे साक्षात् भगवानके दर्शन होते रहते है। वह देखो—भगवान दिख रहे है। तो उस पुरुषने कहा—भाई हमारी भी नाक काट दो, जिससे हम भी साक्षात् भगवानका दर्शन किया करें। अरे भगवानका दर्शन करनेके लिए तो बडे-बडे योगी जन तरसते हैं। लो उस पुरुषने भी अपनी नाक कटा ली, पर नाक कटनेसे भगवानके दर्शन नही हो रहे। अरे मूर्ख मत बनो—कही नाक कट जानेसे भगवानके दर्शन हो सकते ? अब तो तुम नकटे हो ही गए। अब तो तुम सभीसे यही कहो कि तुम लोग क्या जानो नकटेका स्वाद। नाक कट जानेसे भगवानके साक्षात् दर्शन होते है। सो नगरके जितने लोग थे सभीने क्रम-क्रमसे अपनी-अपनी नाक कटा ली, पर वहाँ दर्शन कहाँसे हो ? किसीको भगवानके दर्शन न हुए। लेकिन कहे सभी कि हमे भगवानके साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। एक बार वहाँका राजा विचार करता है कि देखो ये सभी लोग कितने सुनकर लगते हैं। सुन्दर उसे ही कहते हैं जैसे कि सभी लोग हो। राजा अपनी नाक बार-बार टटोले और कहे कि यह क्या ऊँची-ऊँची लगी है ? अरे ये देखो—ये सभी लोग कितने सुन्दर लग रहे है, तो उनमेसे सभी लोगोने कहा—अरे हम लोग सुन्दर तो लगते ही है, साथ ही यह भी बात है कि इस नाकके होनेसे भगवानके दर्शन नही होते थे। पहिले हम लोगोके भी तो तुम्हारी जैसी ही नाक थी, पर तब तक हमे भगवानके साक्षात् दर्शन नही होते थे। अब देखो—हम सभी लोगोको भगवानके साक्षात् दर्शन होते रहते है। तो राजा बोला—अच्छा भाई हमारी भी नाक काट दो ताकि हम भी भगवानके साक्षात् दर्शन कर सकें। तब और सभीको तो उस राजापर दया न आयी, पर जो सबसे पहिला नकटा था उसे दया आयी और एकान्तमे ले जाकर राजासे कहा—राजन् ! तुम नाक मत कटाओ, कही नाकके कटनेसे भगवानके दर्शन होते है ? हमने तो इसलिए सभीको नकटा बना दिया कि सभी लोग हमे नकटा कह-कहकर हैरान करते थे। कथा तो इतनी है, मगर इस कथासे हम आपको शिक्षा क्या लेनी है कि जब तक नाक है तब तक भगवानके दर्शन नही होते। नाकका अर्थ है अभिमान (अहकार)। जब तक यह अहकार है, घमड है, अभिमान है तब तक भगवानके दर्शन नही हो सकते। नाकको लोग अहकार बोला करते है। लोग कहते भी तो है—बस कहा गई तेरी नाक ? अथवा कुछ भी हो, पर हमने अपनी नाक तो

रख लो। तो नाक कहते है अहकारको। जब तक पर्यायमे अहबुद्धि रहती है कि यह शरीर ही मै हू, ऐसा अहकार रहता है, तब तक भगवानके दर्शन नही होते। अगर प्रभुसे मिलना है तो पहिले, इस अहकारका, इस पर्यायबुद्धिका नाश करो। यह पर्याय है सो मैं नही हू। मैं तो इन सबसे निराला चैतन्यस्वभाव मात्र शुद्ध आत्मतत्त्व हू। जिसका योगीजन ध्यान करते है, वह मैं आत्मतत्त्व हू।

सत्य शान्ति पानेमें आत्मज्ञानरूप उपायकी साधकतमता—मेरेमे अपूर्व निधि बसी हुई है, पर उसका ज्ञान नही है मेरेको, सो भिखारी बन रहे है। जैसे किसीके घरमे हीरा, रत्न, सोना, चाँदी आदि गडे हुए हो और उसे पता नही है तो वह तो जीवनभर भिखारी ही रहेगा, गरीब ही रहेगा, दु.ख ही भोगेगा। और जब उसे पता पड जाय कि मेरे घरमे तो अपूर्व निधि गडी हुई है तो लो उसे निकाल लेगा और सुखी हो जायगा। ऐसे ही आत्मामे निधि तो अपूर्व पडी हुई है मगर बोध नही है कि मेरा क्या स्वरूप है सो तरस रहे है। बाहरी हिसाब लगा रहे है, मुझे स्त्रीसे सुख होगा, पुत्रसे सुख होगा, धनसे सुख होगा आदि। देखो आजका जमाना यह बता रहा है कि जिसको परिग्रहमे ममता है वह सुखी नही हो सकता। आज जो क्रान्ति छायी है, जो गरीब लोगोकी अधिक सख्या है उनका फैसला हो चुका है और बतलाते यह है कि जो नक्सली साम्यवादी है, उन्होने बडे-बडे धनिकोकी लिस्ट बना रखी है कि हमको इन ४—६ हजार आदमियोको मारना है और वे अब भी धनका अपहरण करते है। तो आजका जमाना यह गवाही दे रहा है कि इस परिग्रहमे ममता मत रखो, इस परिग्रहसे शान्ति न मिलेगा। जितनी आवश्यकता है उतना आपके उदयमे मिल ही रहा है। अधिक धनकी तृष्णा क्यो चित्तमे बसाये हो ? अरे जो मिला है उसका ही उपयोग करो। कोई पुरुष एक लाखका धनी है और उसे अगर एक हजारका नुक्सान हो गया तो यद्यपि अभी ९९००० शेष है पर उसकी दृष्टिमे वे ही एक हजार रहते है जिनका टोटा हो गया है। ९९००० पर दृष्टि नही रहती, यही कारण है कि वह दुःखी रहा करता है। वह ९९००० से सुखी नही रहा पाता और कोई एक हजारका ही धनिक था, उसे यदि कहीसे एक हजार और मिल गए तो वह बडा सुख अनुभव करता है। तो देखिये वह ९९ हजारका धनी तो दु खी हुआ और वह गरीब सुखी हुआ। तो भाई अपने सुख दु खका हिसाब धनके होने, न होनेसे मत लगावें, ये सब धोखेकी बातें है। उससे आपको कोई प्राप्ति नही होनेकी। अपनी सुख शान्तिका हिसाब लगाओ आत्मज्ञानसे। मैंने आत्माको कितना समझ पाया ? यह चैतन्यमूर्ति आनन्दधाम भगवान आत्मा जो स्वयं परमात्मस्वरूपको लिए हुए है, यह अज्ञानसे ही दुःखी हो रहा है। इसका अज्ञान मिटेगा तो तुरन्त आनन्द आयगा। तो आत्मज्ञानके हिसाबसे अपनी शान्ति सुखका हिसाब बनावें। धन वैभव कुटुम्ब परिवार आदिके कारण

शान्ति सुखका हिसाब मत लगावें। जिसको यह अज्ञान लगा है कि मैं अच्छे कुटुम्बके कारण बडा सुखी हू तो भला यह बतलावो कि उस कुटुम्बका वियोग होगा कि नही या सदा रहेगे नष्ट होगा ? आपको स्त्रीमे अधिक प्रीति है, मोह है तो क्या उसका विछोह होगा नही ? अवश्य होगा। या आप ही पहिले मरेंगे या स्त्री। तो उस विछोहके समयमे आपको बडा दु खी होना पडेगा। ऐसी ही बात सभी चीजोके प्रति है। जिन-जिन बाह्य पदार्थोंके प्रति ममता लगी है उन उनके विछोहके समय दुःखी अवश्य होना पडेगा। मोह करनेके फलमे मिलेगा केवल क्लेश। अगर ऐसा सत्य ज्ञान बनाया है कि इस जगतमे जितने भी समागम है वे सब क्षणिक है, भिन्न है, उनसे मेरा सम्बन्ध नही है। तो किसी समय कोई लोग बिछुडें, आयें तो उससे इसको क्लेश नही होगा। तो क्लेशको दूर कर सकनेका उपाय है केवल आत्मज्ञान। बाह्य वस्तुवोंसे कुछ सम्बन्ध जोडना यह सुख शान्तिका उपाय नही है। तो अभिन्न और वास्तविक जो शान्तिका उपाय है उसके करनेमे लगो ना। झूठे खोटे, विपरीत उपायोंमें लगेंगे तो उससे अशान्ति ही बढेगी, शान्ति नही मिल सकती। इस ससारमे कोई किसीके लिए शरण नही है। अपने आपको अपनी ही व्यवस्था बनानी पडेगी। अगर आज ही अपनी व्यवस्था बना ले तो अभीसे सुखी हो ले। जबसे आत्मज्ञान बनायेंगे तब ही से मोक्षका मार्ग मिलेगा। यो ही मौजमे मोक्षमार्ग नही मिल सकता। तो अपनेको यदि वास्तविक शान्ति चाहिए तो एक ही निर्णय बनाओ कि मुझे तत्त्वज्ञान करना है। आत्माका जैसा वास्तविक स्वरूप है वह मुझे समझना है। आत्मज्ञानके अतिरिक्त और कुछ भी मेरे लिये शरण नही है ऐसा निर्णय करें और जो तन, मन, धन, वचन मिले है उन सबका उपयोग आत्मज्ञानके लिए कर डालें तो यह आपकी चतुराई कहलायगी, नही तो सब मिटना ही है। सब मिट जायगा। अपना एक ऐसा आत्मज्ञान करें कि यह मैं आत्मा समस्त परपदार्थोंसे अछूता हू, एक स्वरूप हूं और जैसा चैतन्यस्वरूप हू वैसा ही हू, मेरेमे कोई कष्ट नही है। ऐसा आत्मा का स्वरूप जानकर प्रसन्न रहे और सदाके लिए ससार-सकटोसे छूट जायें।

अभेदस्वभावदृष्टिसे अपनी जानकारीका प्रभाव और उसका बाधक भाव—जाननेकी वृत्ति दो प्रकारसे हुआ करती है—एक तो जाननहारमे अभेदरूपसे बर्तकर, दूसरे भेदरूप बना कर। जैसे जाना कि यह चौकी है, पुस्तक है, अमुक चीज है यह कहलाती है भेददृष्टिसे जानकारी और आत्मामे भी कोई ऐसा जाने कि मुझमे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, अनेक गुण है, अनेक पर्यायें है तो यह है भेददृष्टिसे निहारना। जब यह अपने आपको अभेद चैतन्यस्वभाव मात्र अनुभव कर रहा है उस समय कहलायगा अभेदस्वभाव दृष्टिसे जानकारी करना। ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समाया हो ऐसी जानकारीको कहते है अभेदस्वभावदृष्टिसे जानकारी बनाना। अब तक जीवने भेददृष्टिसे जाननेका ही उद्यम किया। बाह्यपदार्थको जाना तो भेदभावसे।

अपने आत्माके बारेमे मैंने भी कुछ जानकारी बनाई तो भेदभावसे । अभेदस्वभावसे अपने आपको जो कोई जानने लगेगा वह पूज्य है, पवित्र है, सम्यग्दृष्टि है । निकटकालमे ही मोक्षमार्गमे चलता हुआ मोक्ष पा लेगा । तो अपने लिए भी यह शिक्षा लेनी है कि मेरी जानकारीकी पद्धति अभेदस्वभाव दृष्टिकी बने । जितने क्लेश हो रहे है वे सब भेददृष्टिकी जानकारी से बन रहे है । भले ही उनमे इतना अतर हो कि किसी जानकारीमे बडी आकुलता है, किसी मे मद आकुलता है, मगर भेदपूर्वक जानेंगे तो वहाँ कुछ न कुछ क्षोभ बना ही हुआ है । जहाँ आत्माको भी भेददृष्टिसे जाननेमे क्षोभकी बात आती है वहाँ बाह्य दृष्टिसे मोह ममताके भावसे पुत्र स्त्री आदिकको समझनेकी बात तो पूरी विडम्बना ही है । यह जीव इन सबसे निराला है, भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति सत्यआनन्दका धाम है और उसकी वर्तमानमे यह दशा बनी है । बस अभेदस्वभावदृष्टिसे अनुभवनेकी कला न होनेसे ये सब क्लेश बने हुए है । समझाये जाने पर भी चित्तमे बात नही उतरती ।

परिग्रहलालसाकी व्यर्थता—अरे परिग्रह जोडनेकी लालसासे, परिग्रहमे इतनी ममता से लाभ क्या मिलेगा ? खूब पूर्वापर विचार कर लो, इस परिग्रहसे लाभ कुछ नही मिलता । यह जीव यो ही चला जायगा । मुट्ठी बाँधे आया और हाथ पसारे जायगा, कुछ मिलेगा नही, पर परिग्रहसे ममता नही छोडी जाती । चित्तमे ऐसा समाया है कि मेरे पास वैभव खूब बना रहे, उसका उपाय भी करते है, पर जितना मिलना है उतना ही मिल पाता है । जैसे कुवेंसे जितना पानी झिर सकेगा उतना ही झिरेगा, अधिक तो न झिर जायगा, ऐसे ही पुण्यका उदय जितना था उतना मिल गया, अधिक कहाँसे आये ? लेकिन बाह्यदृष्टि ऐसी बनाये है कि मुझे खूब वैभव मिले । एक बार अकबर बादशाहके दरबारमे सभा लगी हुई थी । वहाँ अकबरने बीरबलसे पूछा—बताइये बीरबल, मेरी हथेलियोमे रोम क्यो नही है ? तो बीरबलने कहा—महाराज आपकी हथेली के रोम दान देते-देते झड गए । और आपकी हथेलीमे रोम क्यो नही है ? महाराज हमारी हथेलीके रोम दान लेते लेते झड गये । और सभाके अन्य सभी लोगो की हथेलीमे रोम क्यो नही है ? महाराज ! आपने दान दिया, हमने दान लिया और ये सभाजन यो ही हाथ मलते-मलते रह गए, इसलिए उनकी हथेलीमे रोम नही है । वे रोम खिर गए । तो भाई यो ही समझिये कि यह जगतका वैभव किसीके पास रहता नही । चतुराई यह है कि अपने योग्य कार्योमे, ज्ञानसाधनोमे, धर्मायतनोमे दान करके इसको सफल बना लें । पास रहना तो कुछ है नही । और ऐसे नही जाता तो ही झड़ जायगा । तो अर्थके सम्बन्धमे दो ही ख्याल रखना चाहिए कि पुण्यके उदयसे जो आ जाय उसमे व्यवस्था बनानेकी चतुराई रखें । कदाचित धन बहुत कम आता है तो चने खाकर जीवन गुजार लें । उस स्थितिमे भी खुश रहे और अगर धन अधिक आता है तो उसे विषयो-

मे बरबाद न करें। रहे जीवनमे हम उस ही तरह जिस तरह अनेक साधारण पुरुष रहा करते हैं, पर अधिक आया है तो उसे धर्मके आयतनोमे लगाकर सफल बनावें। आत्मज्ञान जैसे बने उस प्रकार और जैसे आत्मज्ञानकी प्रभावना बने उस प्रकार इसका उपयोग करें, इसी तरह तन, मन, वचनकी भी बात है।

वचन काय मनके सदुपयोगका कर्तव्य—देखो—अनेक जीव तो ऐसे है कि जिनको बोलनेके लिए जिह्वा ही नही मिली, जिससे कि भाषा बोली जा सके, अपना अभिप्राय दूसरो को बताया जा सके, ऐसी जिह्वा नही मिली। गाय, भैंस, पशु, पक्षी आदिक बॉय-बाँय बोलते रहते है, उनके भाषा बोलनेकी शक्ति नही है। तो हमे आपको जिह्वा मिली है, वचन बोलने की शक्ति मिली है तो खूब सभालकर वचन बोलें। ऐसे वचन बोलें कि जिनको सुनकर दूसरे लोग भी प्रसन्न रहे, सुखी रहे। हमारे पास बोल फाल्तू न रहे कि दूसरोको कष्ट पहुचानेकी बात करें। बोले वचन तो दूसरोको हित मिले, सुख मिले इस तरहके वचन बोलें। वचन बोलें तो आत्मज्ञान वाली बात बोलें, जिनको सुनकर दूसरे लोग भी सावधान रहे, हमारे भी कष्ट दूर हो। बोलें वचन तो जिस प्रकारसे अपना उत्थान हो उस प्रकार बोले। जो चीजें अपनेको भाग्यसे मिली हैं उनका सदुपयोग करें, वे सब विनाशीक चीज है। हम आपको यह शरीर मिला है तो इसको भी धर्मपालनके काममे लें। धर्मपालनके कार्यमे प्रमाद न करें। प्रातःकाल उठकर शौचादिकसे निवृत्त होकर स्नान करके देवदर्शन करने जाना यह आपका पहिला काम है। अगर कोई यह सोचे कि अभी तो बहुत समय है, ८—१० बजे तक मन्दिर चले जायेंगे तो उसका यह सोचना ठीक नही। अरे जो काम जब उचित है उसे तब ही करना योग्य है, लाभकारी है। उसमे समय टालनेकी बात आपकी अरुचिको सिद्ध करती है? क्यो टालें समय? जो काम ऐसा है कि प्रातःकाल किए बिना बनता नही तो उसे प्रारम्भमे ही कर लीजिए और फिर नहा धोकर पहिला काम मन्दिर आनेका है। यह आपकी अन्त रुचिकी बात बतला रहे हैं। इसमे प्रमाद करनेसे पापका बध होता है। प्राय ऐसा रिवाज होता है कि अभी समय है देरमे सपर लेंगे, स्नान कर लेंगे, फिर मन्दिर जायेंगे, तो उनकी बुद्धिमे यह बात नही रहती है कि मेरे जीवनका मुख्य काम और प्रधान काम देवभक्ति है, आत्मभक्ति है फिर समय टाल करके आये मन्दिरमे तो मन थोडे ही लगता है। जल्दी पड़ती है, बात बनाई जाती है। तो भाई यह आदत टालनी होगी। चाहिए यह कि प्रात.काल उठकर जल्दी ही शौचादिकसे निपटकर स्नान-करके ज्ञान ध्यान भक्तिके कार्यमे लगें और फिर गुरु-जन मिले, साधुसमागम मिलें, ज्ञानी जन मिलें तो उनकी सेवा सुश्रूषा करें। कोई दुःखी जन मिलें तो उनका दु.ख दूर करना, इन बातोमे शरीरका श्रम लगावें, पर दूसरोको दु खी करने मे क्रोध बढानेमे अगर इस शरीरको जुटाया तो कुछ लाभ न मिलेगा। मन मिला है तो सब

का भला सोचें। जगतके सभी जीव समान है। यहाँ मेरा कोई न मित्र है, न शत्रु। मान लो कोई मेरेसे बैर मानता है तो वह माने, परन्तु मै किसीको भी अपना विरोधी न मानू। अगर कोई अपनेको इस तरहका बना लेता है कि किसीको भी अपना विरोधी नही मानता और न वह किसीसे विरोध करता है तो वह कितना पवित्र आत्मा है ? यह आत्मा रागद्वेषादिकसे रहित अविकार स्वभाव वाला है। मेरा तो कोई विरोधी नही। कर्मका उदय है ऐसा जो उसकी ऐसी स्थिति बनी है। मेरा कोई विरोधी नही। तीसरी बात यह सोचें कि कर्मके उदयसे जो कोई भी जो चेष्टा करता है वह पुरुष करता है अपने ही सुखके लिए चेष्टा। मूलमे उसके विरोधके लिए चेष्टा नही कर रहा, किन्तु वह अपने सुखके लिए चेष्टा करता है, और उसके चित्तमे यहाँ तक भी आ जाय कि हमको सता दें, इसको दुःखा डाले या मार दे तो मेरे को सुख होगा, ऐसा जान करके कोई किसीको मारे, ताडे तो उसने भी मारने-ताडनेके लिए नही मारा, किन्तु अपने सुखके लिए मारा। कोई मेरा विरोधी नही है। प्रत्येक जीव अपना-अपना ही कुछ चाहते है। किसीको विरोधी मत मानें और किसीको अपना मित्र मत माने। यहाँ हम उस मित्रपनेकी बात कह रहे है, उस व्यवहारकी बातें कह रहे है जिसमे द्वैत बसा है। ऐसे-ऐसे मेरे मित्र है तो इससे और तरह रहने वाले लोग उसके विरोधी बन गए। ये दो तो सप्रतिपक्ष हैं, अगर कोई हमारा मित्र है तो कोई विरोधी भी है। यह भी बात आयगी, अरे ससारके समस्त जीव मित्र बन जायें तो यह कहलाती है वास्तविक मित्रता। उसको छुडानेका उपदेश नही देते, किन्तु जो विरोधीके मुकाबलेमे मित्रपनेका व्यवहार है वह भी हेय है। किसीको मित्र मत मानें, किसीको विरोधी मत माने। सब जीव मेरे लिए एक समान है। सब सुखी हो, जो कोई मेरी निन्दा करता हो, मुझसे विरोध रखता हो उसके प्रति भी यही भावना बनायें कि ये भी सुखी हो। यदि इस तरहका व्यवहार रखें तो आनन्द पावेंगे, शान्ति मिलेगी। तो आपको जो कुछ मिला है उसका सदुपयोग कर लें। और सबके सदुपयोग का फल यह है कि अपने आत्मस्वरूपका परिचय बना लें।

विज्ञानघनता व आकिञ्चन्यकी भावना—मैं एक अखण्ड ज्ञानज्योतिस्वरूप हू, इस अखण्ड ज्ञानज्योतिस्वरूपका अनुभव ज्ञान द्वारा साध्य है, किसी भिन्न साधनसे साध्य नही है। किसीके उपदेशसे हमको यह अभेद अनुभव मिल जाय तो न मिलेगा। उपदेश सुनकर आप अपने ज्ञानसे निर्णय बना ले और फिर आप खुद ही अभेद ढगसे ज्ञानको यदि बनायेंगे तो फिर आपको अपने स्वरूपका अनुभव होगा तो उपदेशसे न आयगा अनुभव, शास्त्र न कर देंगे, आपको यह अनुभव और ये बाहरी क्रियायें आपका अनुभव न बना देंगी, मगर हाँ बाहरी समागमोमे पात्रता बनानेकी योग्यता है, आप पात्र होगे, पर करेंगे आप अपनी ही अन्तर्दृष्टिसे अपना काम। तो अभेदस्वभाव दृष्टिसे अपने आत्माका अनुभव करना यह है आपके जीवनका

एक काम । देखो—कम धनी, गरीब ये तो निष्प्रह उदार चित्त वन जाते है, उनके पास जो कुछ भी थोडा बहुत धन हो उसकी उपेक्षा कर डालते है । धन न रहा तो न सही, क्या बात है ? और धनी होनेपर उनके चित्तमे यह बात नही समा पाती कि अरे धन कम हो गया तो क्या है ? यदि धन कुछ कम हो जाय तो उनके चित्तमे व्यग्रता हो उठती है—ओह ! अब क्या होगा ? अरे भाई अपने आपके भगवान आत्मारामसे सकोच बनायें, बाह्य लोगोंसे सकोच न बनायें । यदि मै धनी न रहा तो ये लोग मुझे क्या कहेगे ? हमारा यहाँ कुछ प्रभाव न रहेगा तो लोग क्या कहेगे ? यदि मैं खोटे भावोको छोडकर अच्छे भावोमे न आया तो सिद्ध भगवान क्या जानेंगे ? इसका सकोच आप क्यो नही कर रहे ? यहा तो आप थोडेसे लोगोका सकोच करते और इसका सकोच नही करते कि मुझे ये अनन्त सिद्ध क्या समझेंगे ? अरे यहांके ये थोडेसे लोग तो मायारूप है, कर्मके प्रेरे है, आपसे निराले है और ये अनत सिद्ध भगवान अगर ऐसा जानते रहे कि यह मोही है, तो उनके जाननेमे जो अपने खोटे आशय आ रहे है उनका सकोच करें । यहा भी सकोच बना रहे । धर्मका लाभ तब तक न कोई पा सकेगा जब तक अपनेको भीतर अपने स्वरूपमात्र न मान सके । जिसे कहते है आकिंचन्य धर्म । अकिञ्चनभाव अमूर्त भाव है । मेरा जगतमे परमाणुमात्र भी नही है । मेरा तो मेरा चैतन्यस्वभाव है । जिसे कहते हैं आकिञ्चनपना । अकिंचन बनेंगे तो सब कुछ मिल जायगा । गुणभद्र स्वामीने बताया है आत्मानुशासनमे कि देख योगी ! मैं तुझे एक योगिगम्य रहस्य की बात सुनाऊँगा । हाँ सुनाओ । सुनो देखो जो बहुत रहस्यकी बात, खास बात जिसके मनमे गाँठ बाँधकर रहना चाहिए ऐसी बात कोई सुनाता है तो धीरेसे सुनाता है, कानोंमे सुनाता है । भडभडमे बडे बोलचालमे नही सुनाता । तो आचार्यदेव कहते है कि हे मुमुक्षु ! देख—तेरे सुननेकी तीव्र उत्सुकता है, तेरेमे पात्रता भी है तो सुन, मैं तुझे एक ऐसी बात कहने जा रहा हू कि जिससे तुझे सारा वैभव प्राप्त हो जायगा । सुननेमे अकिञ्चन हू, ऐसा जान करके तू एक ऐसा ही ठहर जा 'मैं अकिञ्चन हू' ऐसा समझकर तू यहाँ ही टन्नाकर रह जा और विकल्प मत सोच, मैं अकिञ्चन हू, मेरा कही कुछ नही है । मैं ज्ञानमात्र हू, सबसे निराला हू, मेरा कहीं कुछ नही है, ऐसा मै अकिञ्चन हू, ऐसा मानकर ठहर जा तो तू तीन लोकका अधिपति हो जायगा । और यदि यह मेरा कुछ है, यह भी मेरा है ऐसा बाह्य पदार्थोंमे मेरा मेरा ख्याल बनाकर उसे जोडते रहे तो ससारके जन्म-मरण करके दुःखी रहेगा, गरीब बना रहेगा । तो अपना पद पानेका रहस्य इसीमे भरा है कि अपनेको अकिञ्चन मानकर ऐसा ही अपनेमे ठहर जाना ।

अभेदस्वभावदृष्टिमे आत्महितकी साधना—कैसी झलक है, अभेद स्वभावदृष्टिसे ? अपने आपको समझनेकी झलक है । यो अभेद-स्वभावको अभेदरूपमे अनुभव करने के अतिरिक्त

कोई उपाय नही है कि आपके संकट दूर हो सकें। मैं चैतन्यमात्र हू, प्रतिभास मात्र हू, चित्स्वभाव मात्र हू। मेरेमे ज्ञान है, दर्शन है, ऐसे गुणभेदकी कल्पना की व्यग्रताका भी कारण नही, अर्थात् मैं भिन्न-भिन्न रूप नही हू, एक सत् हू, अखण्ड हूं, चैतन्यस्वभावमात्र हू—ऐसी दृष्टि बने तब इसकी निर्विकल्प अनुभूति उत्पन्न होती है। अपना आत्मा अपनेको प्राप्त हो जाय। जिसको मनोयोगपूर्वक कोई सुने तो उसमे ही बडा हित पा रहा है। लोग व्यर्थ दुःखी होते है—मेरा अमुक बीमार है, मेरा अमुक गुजर गया है, मेरे पास इतना धन नही है, मेरा लडका यो बोल रहा है। अरे भाई, बाहरमे सबसे आँखें मीच लो, फिर तुम्हारे लिए कोई कष्ट नही। जब तक बाहर-बाहरकी ओर अपना उपयोग चल रहा है तब तक ही कष्ट है क्योंकि यह विपर्यय बन रहा, मिथ्याज्ञान बन रहा। बात जैसी नही है वैसी कोई जाने तो उसमे कष्ट होगा ही। जो जिसका स्वरूप है उसे वैसा समझ ले लो कष्ट मिट जायगा। जगतमे प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है। कोई किसीका मालिक नही है, सब अपनी अपनी परिणतिसे परिणमते है। भले ही अशुद्ध द्रव्य है, निमित्तके सन्निधानमे ही वह अपनी अशुद्धता की परिणति बना पाता है। लेकिन जब वह परिणति बना रहा है तब तो वह अपने अकेले मे ही बना रहता है। अपने अकेलेमे ही बना रहा है। भले ही सन्निधान वहाँ है, लेकिन जरा कामकाज करनेकी कला तो देखो—इस जीवके समस्त पदार्थोंकी कि वे सब पदार्थ अपने आपकी कलासे ही परिणमते रहते है। अब यहाँ कोई माने कि यह मैं स्वामी हू, यह मेरा स्वामी है, बस सारा आनन्द किरकिरा हो जायगा। आत्माका जो सत्य आनन्द था वह गायब हो गया, दुःख हो गया। तो भेदस्वभावदृष्टिसे भेदभावदृष्टिसे बाहरी पदार्थको जानने का फल आकुलता पाना है और अभेदस्वभाव पद्धतिसे अपने आपको जानने का फल मुक्ति पाना है। ऐसा समझकर जरा कोशिका करें ऐसी कि बाहरी पदार्थोंमे हमारा उपयोग न भटके। मैं अधिकाधिक अपने इस अतस्तत्वकी जानकारीमे ही उपयोगको लगाऊ। मैं ऐसा स्वार्थी बनू। ऐसा अपने आत्माके हितका अभिलाषी बनू कि आत्महितमे जो साधक हो, उसमे तो आपकी रुचि प्रतीति परिणति बने और जो आत्महितमे साधक नही है, बाहरी बातें है उन बाहरी बातोमे आपकी रुचि न रहे, तब यहाँ जो बातें बहुत बनती है। उनमे जो व्यर्थ की बात है, बाहरी बात है परसम्बन्धकी बात है। उसे सुननेसे अपना समय क्यो खोये ? जो अपने हितकी बात है, अपने आपकी शान्तिकी बात है, अपने निजी आत्मारामकी बात है उसमे रुचि लगावें। कान खोल करके सुनो—मुझे आत्मज्ञानकी ही बात सुनना है जिससे मेरेको निर्विकार रहनेकी प्रेरणा मिले, व्यसन पापसे हटकर सुमतिके साथ रहनेकी प्रेरणा मिले, वह बात हमे सुनना है, क्योकि मैंने सारा जगत छान लिया, देख लिया। बाकी सब असार है। किसी भी अन्य विधिमे मेरेको सार नही जचता। मैं तो एक आत्मासे ही लगन

रखूँगा। उसकी ही बात सुनूँगा, उसकी ही चर्या करूँगा, उसके ही दर्शनमे रहूगा। गृहस्थ है कोई और दुकानपर बैठा हुआ भी सुध रखे अपने आत्मारामकी ही, ऐसा वह कर सकता है। बाहरी बाते करते हुए भी भीतरमे भावना है। चैतन्यमूर्ति आनन्दधाम आत्मा भगवान को, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ भी नही चाहिए। ऐसा जीवनमे निर्णय बनाया हो, ऐसा बडा साहस बनेगा तो कल्याण होगा और निजी तत्त्वसे विमुख रहेगे तो इस ससारमे जन्म-मरणका दु ख ही भोगना पडेगा।

सम्यग्ज्ञानके बिना क्लेशविनाशकी असंभवता—क्लेशोका मिटाना, शान्तिका होना सम्यग्ज्ञानके बिना नही हो सकता, क्योकि क्लेश भी क्या चीज है ? ज्ञानकी एक विपरीत मुद्रा है, जैसी बात है वैसा न समझकर उल्टी समझ हो, बस इससे क्लेश बने हुए हैं। अगर क्लेश दूर करना है तो ज्ञानको सही बनाना है, क्लेश दूर हो जायगा। जैसे उदाहरणके लिए जितने भी समागम मिले है वे सब विनाशीक है और भिन्न हैं, पुत्र, मित्र, धन वैभव आदिक ये नियमसे विनाशीक है, चाहे कुछ भी वहाँ रहे आये, पर यह निश्चित है कि उनका वियोग अवश्य होगा। चाहे हम ही छोडकर चले जायें या हमारे सामने ही वे नष्ट हो जायें, तो ऐसे है ये सब समागम। अब इनके बारेमे जिनकी यह आस्था बनी हुई है कि ये तो मेरे ही हैं, भिन्न कहाँ है ? और ये तो मेरे पास रहेगे। यह कल्पना ही नही जगती है कि ये मिटेंगे। तो जब यह विपरीत ज्ञान हो गया कि ये सब चीजें मेरी है, कितने सुन्दर पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक है, ये सब मेरे ही तो है। कितनी इज्जत चल रही है, लोग कितना मुझे जानते है, ये सब मेरे ही तो हैं, ऐसी विपरीत बुद्धि बन गयी। फल क्या होता है कि इनका वियोग तो होता ही है। जब ये नष्ट होगे तब इसे बहुत खेद मानना पडेगा। यदि पहिलेसे ही यह समझ बनी होती है कि ये सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, विनाशीक हैं, मिट जाने वाले है, मेरा इनमे कुछ स्वरूप नही है, तो कदाचित् ये मिटेंगे तो उसमे उतना समय अधिक क्लेश न होगा। वह तो सोचेगा कि हम तो पहिलेसे ही समझ रहे थे कि इनका वियोग अवश्य होगा। यह तो ससार मे होता ही है। लो ठीक ज्ञान किया कि क्लेश कम हो गया। जगतमे कोई भी पदार्थ मेरे लिए शरणभूत नही है, जिसकी आशा करें, जिसपर अपनी दृष्टि बनाये रहे कि यह पुत्र आदि मेरा है, यह मेरे लिए शरण है, यह मुझे सुख देगा यह सोचना गलत है। क्योकि किसी भी परपदार्थमे यह सामर्थ्य नही कि वह मेरे क्लेश दूर कर सके, और मेरे लिए शरण बने। लेकिन अज्ञानी प्राणी जिस किसीको भी शरण मान लेते है तो यह विपरीत ज्ञान है ना कि मेरी स्त्री शरण है, मेरा पुत्र शरण है, मेरा घर शरण है, मेरी यह मित्रमण्डली शरण है। कुछ भी शरण मान लिया तो यह विपरीत ज्ञान है, और उस विपरीत ज्ञानके कारण ही उन परपदार्थोसे धोखा मिलनेपर यह बडा क्लेश मानता है। यह सारा ससार मायामय है।

यहाँ मेरे लिए कोई यही ज्ञान बना ले तो फिर वैसी घटना घटनेपर वह सहनशील रह सकता है, क्योकि वह तो पहिलेसे ही जानता था कि मेरा यहाँ कुछ नही है। यहाँ ही देख लो— कितने ही लोग चलते-फिरते या बाहरके सफर करने वाले लोगोके बीच कोई अगर किसीको कुछ भला-बुरा कह दे तो वह उतना बुरा नही मानता जितना कि अपने घरमे अगर घरका ही कोई कुछ कह दे तो बुरा मानता है। यह फर्क कैसे आया ? यो फर्क आया कि घरके लोगो के प्रति यह बुद्धि रख रहे है कि मैं इनका शरण हू, ये मेरेको शरण है, ये मेरे खास लोग है और फिर इसने हमे ऐसा कह दिया। अरे जिन्हे भिन्न माना है, जिन्हे मानते है कि ये बाहरी लोग है वे कुछ प्रतिकूल बोल दें तो उससे यह खेद नही मानता और जिसे अपना मान रखा है वह प्रतिकूल बोल दे तो उसका खेद मानता है, तो कहाँसे यह खेद आया ? विपरीत ज्ञान से। ये तो ऊपरी बातें कह रहे है, यदि वास्तविक वस्तुके स्वरूपका सही ज्ञान हो जाय तो उसके सारे दुःख मिट जायेंगे।

वस्तुका स्वरूप और स्वातन्त्र्य—देखो जगतमे कितने पदार्थ है ? अनन्तानत। कैसे जाना ? एक पदार्थ उतना होता है, उतना कहलाता है एक पदार्थ कि जिसकी दशा, जिसकी परिणति उस पूरेमे हो और उससे बाहर न हो। यह एक पदार्थ समझनेकी कुञ्जी है। एक परिणमन जितनेमे पूरेमें हो और उससे बाहर न हो उसको कहेगे एक पदार्थ। जैसे एक मोटा दृष्टान्त ले लो। मानो यहाँ १० मनुष्य बैठे है तो ये एक-एक पुरुष एक-एक कहलाते है, क्योकि एक पुरुषमे जो चेष्टा होती, जो विचार होता, जो उसमे परिणति होती वह उस पुरुष मे तो पूरेमे है और ९ पुरुषोमे जरा भी नही है। तब ही तो यह व्यवस्था बनी कि यह एक आदमी है। कैसे जाना कि यह एक पदार्थ है ? उसकी परिणति उसमे रहे, उसमे पूरेमे रहे, उससे बाहर न जाय वह एक पदार्थ है। इसी कुञ्जीसे देखिये कि मै एक द्रव्य सबसे निराला हू। सबसे निराला आपका जीव एक द्रव्य है। इसी तरहसे अचेतनमे एक-एक परमाणु एक-एक द्रव्य है, क्योकि जो भी परिणमन होता है वह पूरे परमाणुमे होता है और उससे बाहरमे परमाणुका परिणमन नही है। एक-एक परमाणु एक-एक पदार्थ है, एक-एक जीव एक-एक पदार्थ है। यह खास समझनेकी चीज है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक है, काल असख्याते है। अब मोटे रूपसे इन दो को समझ लीजिए—जीव और पुद्गल। कितने जीव है ? अनन्तानत। कितने पुद्गल है ? अनन्तानंत। सबकी सत्ता अपनी-अपनी है। किसीकी सत्तासे किसी दूसरेकी सत्ता नही बनी। जितने भी जीव है वे सब अपने आपकी सत्तासे है। जितने भी पुद्गल है वे अपने आपकी सत्तासे है। तो यहां यह बात समझना है कि दुनियामे जितने पदार्थ है वे पदार्थ अपनी सत्तासे अपने आप है। किसी दूसरेकी कृपासे किसीकी सत्ता नही बनी। तो जब प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है और सत्का लक्षण तत्त्वार्थसूत्रने

बताया है——उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् । याने पदार्थ वह कहलाता है, सत् वह कहलाता है या जो कुछ हो, "है" वह कहलाता है कि जिसका निरतर उत्पादव्ययध्रौव्य हो । उत्पादके मायने नई अवस्था उसमे आना, व्ययके मायने पुरानी अवस्था विलीन होना और ध्रौव्यके मायने वह तत्त्व, वह चीज, वह वस्तु निरन्तर बनी रहे उसे कहते है ध्रौव्य । तो अपने बारेमे सोचें कि जब मैं एक जीव पदार्थ हू तो मेरा काम है कि मैं निरन्तर नये-नये भाव बनाऊँ, पुराने भाव मेरे विलीन हो और मैं सदा बना रहू, ऐसी तीन कलायें मेरेमे सत्त्वके कारण पडी हुई है । तो अब देखिये कि यह मैं आत्मा स्वय सत् हू, और सत् हू तो स्वरक्षित भी हू, मेरा कौन विनाश कर सकता है ? अब कोई माने कि जो शरीर है सो मैं हूँ, और शरीरका नाश देखा जाता है, उसका भय करते है तो यह विपरीत ज्ञानमे भय पैदा हुआ । यदि यथार्थ ज्ञान रहे तो भय नही उत्पन्न हो सकता । मैं जीव स्वय सत् हू, अपने आप ही अपना उत्पाद व्यय करता रहता हू । मैं अपने आपमे सदा रहता हूँ, मेरे सत्त्वका कभी विनाश न होगा । मैं स्वरक्षित हू, मेरी दुनिया, मेरी करतूत, मेरा सब कुछ है वह उतना है जितना कि मैं स्वय । उससे आगे मेरा कुछ नही । मेरी करतूत क्या ? यही मैं । मै अपने ज्ञानको करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू । हर जगह मैं अपने स्वरूपको ही तो कर रहा हू, अन्य चीजको मैं नही करता । जहाँ यह सम्यग्ज्ञान हो गया वहाँ फिर कोई शका नही, कोई भय नही, कोई चिन्ता नही । सब कष्ट दूर हो सकते है । अब रहे ये जन्ममरणके सकट तो ये भी थोडे ही समयमे दूर हो जायेंगे । हम आपका कोई सच्चा मित्र है, सच्चा गुरु है तो वह है सम्यग्ज्ञान ।

सम्यग्ज्ञानके लिये अपने प्रयासकी समीक्षा——अब सोचिये कि इस सम्यग्ज्ञानके लिए हमे कितना समय लगाना चाहिए, कितना तन, मन, धन, वचनका उपयोग करना चाहिए ? अरे इसके लिए साराका सारा जीवन भी न्यौछावर करना पडे और मेरेको मेरे स्वरूपका सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता तो वह मैने न कुछमे ही पा लिया, कुछ भी मैंने त्याग नही किया और सुगम ही पा लिया । ये तन, मन, धन, वचन जो कुछ भी है उनका क्या मूल्य ? मेरे सम्यग्ज्ञानके समक्ष वे क्या चीज हैं ? यदि मेरे स्वरूपका सही बोध होता, जहाँ कि रमनेसे, जहाँ उपयोग देनेसे तृप्ति होती है, पवित्रता बढती है, मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा अपने स्वरूपका मेरेको बोध हो, इसके लिए सर्व कुछ न्यौछावर करना पडे तो भी न्यौछावर कर दीजिए, एक मेरे स्वरूपका लाभ हो जाय । हमारा महामहिमाशाली है सम्यग्ज्ञान तो उस सम्यग्ज्ञानके विकासके लिए प्रयास क्या करना चाहिए ? बस करना क्या चाहिए ? तत्त्वज्ञानका प्रयास करना चाहिए । देखिये——बताया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है, याने अपने आपका जो सही स्वरूप है उसका तो बोध हो और यह ही मैं हू, इस प्रकारकी श्रद्धा हो और इस ही स्वरूपमे अपने उपयोगके निरन्तर बनाये रहे तो बस यह ही उपाय है

मुक्तिके पानेका। अब जो कोई इस उपायमे चलता है उसकी बाह्य परिस्थितियाँ गृहस्थ धर्म की होती है, मुनिधर्मकी होती है, क्योकि जब अनादि वासनासे चले आ रहे है तो इतनी सामर्थ्य नही है कि बाहर कुछ पात्रता न बनायें, कुछ व्रत सयम रूपमे न चलें और मैं अपने आपके आत्मामे ऐसा हो सहज गुप्त हो जाऊँ, लीन हो जाऊँ। ऐसी बात बन नही पाती, इसलिए ये सब साधन कहलाते है, मगर इन सब साधनोमे रहकर हमे करना ही क्या है? आत्मा का ज्ञान, आत्माका श्रद्धान और आत्मामे रमरण। यह मोक्षका मार्ग बताया गया है। अब आत्माका श्रद्धान जिसे कहते है सम्यग्दर्शन, वह मुझे कैसे प्राप्त हो? तो उत्तर अनेक बताये गए हैं कि जब काललब्धि आयगी तब, या जब होनहार होगा तब या जब ७ प्रकृतियोका उपशम, क्षय क्षयोपशम होगा तब सम्यग्दर्शन होगा। यो अनेक उत्तर है और वे सब सही उत्तर है, मगर विचार करें तो यह निर्णय पायेंगे कि जिस विधिसे जब भी जो होता हो, हो, मगर हमारा काम सो तत्त्वज्ञान करनेका है। काललब्धिके मायने क्या है? जिस कालमे जो काम होनेको है उस कालमे वह काम हो उसे काललब्धि कहते है और होनहारके मायने क्या कि जब जो हो सो होनहार। इसमे कोई विशेषताकी बात नही आयी। हाँ यह बात विशेषताकी है कि आत्मामे कर्मप्रकृतियाँ बहुत है, उनमे ७ प्रकृतियाँ ऐसी है कि जिनका विपाक सम्यक्त्वका बाधक है। उनका उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो, लेकिन हम जानकर नही कर सकते कि ये देखो कर्म, इन्हे इस तरहसे झटका देकर मिटाओ। उनके मेटनेका उपाय क्या है कि हम तत्त्वज्ञान बनायें और उसमे हमारी कषायें मद होगी, परिणाम निर्मल होगे। उनका निमित्त पाकर उन कर्मोमे भी उपशम आदिक अवस्थाये आनेको होगी, तो उसके लिए भी पौरुष यह है कि हम यथार्थ ज्ञान बनाये, तत्त्वका अभ्यास बनायें। कोई कहे कि हम तत्त्व का अभ्यास भी कैसे बनायें? जब कर्मकी ओरसे हमे कुछ सहूलियत मिली हो तो बनायें। तो इस सम्बधमे आप विचार करे कि तत्त्वज्ञान करनेके लिए हमे चाहिए क्या? एक मन चाहिए, बुद्धि चाहिए। तो हम आपको श्रेष्ठ मन मिला है, श्रेष्ठ बुद्धि मिली है कि नही? आप इतने बडे बडे रोजिगार करते, आविष्कार करते, बडी-बडी कम्पनियाँ चलाते, बडे-बडे हिसाब किताब रखते तो ये सब काम क्या बिना बुद्धिके हो रहे है? अरे हम आपका मन श्रेष्ठ है, बुद्धि भी बहुत है, तर्कणाशक्ति भी खूब है मगर अपने अन्तरङ्गकी ओर नही लगा रहे है। यदि अपने आपपर कुछ दयाका भाव उत्पन्न हुआ हो तो अब इस जीवनको इस तरह बदलो कि हम अपनी बुद्धिका प्रयोग आत्मस्वरूपके और तत्त्वस्वरूपके निर्णयमे करेंगे।

आत्माको स्वयंसे ही आत्मलाभकी संभवता—देखिये जितने लोग है सब हा हा हू हूं कर देगें, बिछुड जायेंगे, उनसे मिलना कुछ नही है। अपने आपको अपने आपकी ही करतूत का फल भोगना होगा। दूसरे लोग कुछ भी साथ देनेके नही। चाहे यहा बडे ठाट-बाटके—

बीचमे हो, बडी प्रतिष्ठा मिल रही हो, लोगोका बडा आकर्षण हो, चाहे बहुतसे लोग यहाँ आपके सेवक बन जायें, बडी इज्जत भी करें, फिर भी किसी भी जीवसे आपके लिए कुछ मिलनेका नही। आपको जो मिलेगा वह आपके इस ज्ञाननिधि आनन्दनिधान निज आत्मासे मिलनेका है, दूसरेसे आपको कुछ नही मिलनेका। ऐसा जानकर एक इतना दृढ सकल्प बनाना चाहिए कि मुझे तो वास्तविक ज्ञान करना है कि यह जगत क्या है और मै क्या हू ? और मै क्या किया करता हूँ और वास्तवमे स्वभावत. मेरेमे क्या काम करनेका माद्दा है ? इन सब बातोका अगर निर्णय होगा तो हम शान्त बनेंगे, कष्टोंसे दूर होंगे। देखिये—बडे-बडे चक्रवर्ती तीर्थंकरोने गृह त्यागकर छह खण्डका वैभव त्यागकर जगलमे रहे तो ऐसा अदाज करो कि जब रात दिनके चौबीसो घटे वे बनमे रह रहे है तो उनका मन कैसे लगता होगा ? जब कि यहाँ कोई पुरुष सोचता है कि अरे वहाँ कोई पासमे बोलने वाला भी नही, कोई मित्र भी पासमे नही, कोई आरामके साधन भी नही, कोई बात पूछने वाला भी नही तो फिर किस तरहसे रात दिनके चौबीसो घटे जगलमे व्यतीत किया करते है ? तो देखिये वे बोलते रहते है अपने आत्मासे। यहाँ जिनसे हम बोलते है वे सदा हमारे पास रहने वाले नहीं। दूसरे—हम उनके अनुकूल बोलें तो वे हमारे पास बैठेंगे ताकि हम बोल सकें। कितनी पराधीनता यें है ? भिन्न है। अनुकूल बनायें, उनको कुछ हमारे द्वारा लाभ मिले, सुख मिले, कितनी ही बातें हो तब यहाँ कोई दूसरा बोलनेके लिए मिल पायगा। लेकिन अपना आत्माराम तो ऐसा निष्कपट मित्र है कि वह सदा अपने पास है। उसमे कोई आकुलता नही। ऐसे स्वय चैतन्यमूर्ति आनन्दधाम भगवान आत्मासे तो वे बात करते रहते हैं और वे थकते नही, उससे बात करते रहते। यहाँ किसीसे बात करते है तो थक जाते है और ऐसा अनुभव करते है कि जब सामायिकमे बैठते है तो वहा भी मन नही लगता। मन इधर उधर भागता, मन थक जाता है, लेकिन वे योगी बनोमे रहकर भी नही थकते; क्योकि अपने भगवान आत्मासे मिलकर जो अपनेमे उन्होने अलौकिक आनन्द पाया है वे उससे उनका उपयोग और उनका वह आत्मस्वरूप इतना स्पष्ट है, इतना खुला व घुला मिला है कि वे निरन्तर उसी मे तृप्त रहा करते है। उन्हे ऊब नही आती। यो वे बनमे रहकर भी चौबीसो घटे आनन्दमे अपना समय व्यतीत करते रहते है। वही उनका आत्मतत्त्व उनके लिए शरण है। हमारा आत्मतत्त्व हमारे लिए शरण है। हम भगवानकी भक्ति करते है, लेकिन भगवान मेरे दु ख न मिटा देंगे। मेरे दु ख मिटानेमे वे परम्परया कारण यो बनते हैं कि हम भगवानके स्वरूपका स्मरण करते है। उससे हमारी कषायें मद होती है, हमारे परिणाम विशुद्ध होते हैं और उससे उस प्रकारका पुण्यबध होता है या कुछ तत्त्वज्ञान जागृत होता है, तो मेरी ही इस करतूतसे मेरे दु ख मिटे, भगवानके किएसे मेरे दु ख नही मिटे। तो जब ऐसे त्रिलोकाधिपति

भगवानके करनेसे भी मेरे क्लेश नही मिट सकते तो फिर यहाँ किसमे आशा बनाये हो कि ये मेरे क्लेश मिटा देंगे ?

सुहावने पदार्थोंकी क्लेशहेतुता—भैया ! अन्य पदार्थ क्लेश तो क्या मिटायेंगे बल्कि जिनको आप सुखदायी समझ रहे है, सुन्दर समझ रहे है, सुहावने समझ रहे है तो जितने वे सुन्दर जच रहे है उतने ही तेज आपकी बरबादीके कारण बन रहे है, लेकिन सुन्दर कह-कहकर उसपर लुभा जाते है, मगर सुन्दरका मतलब तो समझो—सुन्दर उसे कहते है जो अच्छी तरह तडफा-तडफाकर मारे। यह हम शब्दोंके अनुसार बोल रहे है। सुन्दरमें तीन शब्द है, सु उन्द् अर, सु तो उपसर्ग है, उन्दि धातु है और अरच् प्रत्यय है। यहाँ कार्य है उन्दी क्लेदने, जिसका अर्थ है—बरबाद कर देना, और सु कहते है अच्छी तरह। मामूली तरहसे नही, जो खूब अच्छी तरहसे इस जीवको बरबाद कर दे, उसका नाम है सुन्दर। तो जिसे जो सुहावने जच रहे है, जिसमे यह मन रमनेको चाह रहा है वे सब इसकी मामूली-मामूली बरबादीके कारण नही, बल्कि बहुत बडी बरबादीके कारण बन रहे है। तो यो बाहरके इन पदार्थोंमे आस्था मत रखें कि ये मेरे लिए भले है, रच भी भले नही है। जो-जो भी चीजें सुहावनी लग रही है वे सब इस जीवको बरबाद करने वाली है। इतनेमे ही सब बात समझ लो। चाहे वह घर कुटुम्ब हो, चाहे वह अपनी पार्टीका वातावरण हो, चाहे पौलोटिकलमे इज्जतका वातावरण हो। जिस-जिस बातमे मन लगे, सुहावने लगे, अपने आपके इस ज्ञान कल्याणमय तत्त्वको भूल जायें वे सब हमारी बरबादीके लिए है।

ज्ञानप्रयोगका हितमय लक्ष्य—ज्ञान है ना, इसका काम है जानना। जब यह ज्ञान इस चौकीको जानता है, चटाईको जानता है, अमुक पदार्थको जानता है तो यह ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको नही जान सकता क्या ? ज्ञानने जब देह जाना या अन्य चीज जाना और जब ज्ञान यह ठान ले कि मुझ ज्ञानको ज्ञानके स्वरूपको जानना है तो देखिये ऐसा जाननेके लिए बाहरसे हटना पडेगा, विकल्पोसे दूर होना होगा और एक बडे साम्यभावसे अविशिष्ट होकर याने कुछ अपनी विशेष तरग न उठे और इस तरह साधारण रूपसे हम एक उस ज्ञानज्योतिस्वरूपको जाननेमे लगें तो इस प्रक्रियामे एक क्षण ऐसा आयगा कि जहा किसी भी बाह्यका विकल्प न रहेगा और यह भी विकल्प न रहेगा। केवल एक ज्ञानस्वरूपका अनुभव होगा, बस वही तो कहलाता है स्वानुभव। वही है सम्यग्दर्शनका प्रारम्भिक रूप। सम्यग्दर्शन जिसे भी होता है स्वानुभवसे मिला हुआ है। बादमे चाहे कुछ कर रहे, मगर जिस समय उत्पन्न होता है उस समय स्वानुभूति अवश्य होती है। तो हम अपने ज्ञानको कहाँ ले जावें, किस जगह इस ज्ञानका प्रयोग करना है–यह निर्णय करना बडी बुद्धिमानी है। कर्मके उदय है, उनसे कुछ करना पड रहा है, करना ही है, मगर श्रद्धा यह रखनी चाहिए कि ये काम मेरे करनेके नही हैं।

मेरे करनेका काम तो भीतरमे यह है कि मैं इस ज्ञानस्वरूप आत्माको ही ज्ञानमे रखूं और यहाँ ही गुप्त रहू, यहाँ ही लीन रहू, और काम मेरे करनेके नही । जो करनेका काम है वह एक है, जो न किए जानेके काम हैं वे अनेक है । उन अनेक कामोमे पडकर भी निर्णय तो अपना यह बनावें कि ये काम मेरे करने योग्य नही हैं । हाँ करने पड रहे हैं । ऐसी बात, ऐसी आस्था अपने अन्दर बनायें और एक बार ऐसा सोच लें, ऐसी रुचि न हो तो भी इन शब्दोंके आधारसे एक दो बार ऐसा ख्याल तो बनायें — जगत्मे मेरे करने योग्य अन्य कुछ भी कार्य नही है । केवल एक यही कार्य है कि अपना जो निरञ्जन आत्मस्वरूप है उसकी दृष्टि रखें ।

निरञ्जन दृष्टिका परिणाम—देखिये—स्वभावत· सभी पदार्थ निरञ्जन होते है । निरञ्जनका अर्थ है अञ्जनरहित याने ऊपरी मल रहित । जैसे आँखमे सलाईसे इस तरह अजन लगा दिया जाता है कि वह पूरी तरहसे आँखमे चिपक जाता है, वह मलनेपर भी छूटता नही, तो वह है एक भीतरी चिपकाव । ऐसे भीतरी चिपकावका नाम अजन है । ऐसे ही आत्माके अजन है ये विषयकषाय । जो आत्माकी भीतरी चिपट है इसे कैसे मिटाया जाय ? बताओ—कोई ऊपरी वातावरण करके वह भीतरी चिपट मिटाई जा सकती है क्या ? अरे यो न मिटेगी । इस अजनका विरोधी है ज्ञानमयभाव, ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि । तो इस ज्ञानमय प्रकाशके द्वारा वह अंजन दूर किया जा सकता है । वे विषयकषायोंके परिणाम हमारे ज्ञान-प्रकाशकी दृष्टिसे दूर हो सकेंगे, अन्य तन, मन, वचन आदिककी चेष्टाओंसे दूर न होगे । ऐसी वह भीतरी चिपट है, पर हम जब अपने स्वभावको देखते है तो इसका स्वभाव तो इस भीतरी चिपटसे भी निराला है । मेरे स्वभावमे विषयकषायका अजन नही है, अगर स्वभावमे विषय-कषायका अजन हो तो वह कभी दूर नही हो सकता । जैसे जलके स्वभावमे गर्मी नहीं है, अगर जलके स्वभावमे गर्मी हो तो वह कभी जलसे दूर नही की जा सकती । जैसे अग्निमे स्वभावसे गर्मी है तो उसे कौन दूर कर सकता है ? तो ऐसे ही मेरा स्वभाव निरञ्जन है, ऐसे निरञ्जन आत्मस्वभावकी दृष्टि करनेसे एक अलौकिक स्थानमे हम पहुचते है और हम शान्तिका अनुभव करते है और जहाँ इस निरञ्जन आत्मस्वभावकी सुध छोडकर बाहरी किसी भी बात मे उपयोग लगाते हैं तो वहाँ अशान्ति होती है । लोग अवश्य इतना अन्तर पाड लेते है कि जैसे किसीको १०५ डिग्री बुखार था; अब उतरकर १०३ डिग्री रह गया, और कोई पूछे कि भाई अब कैसी तबियत है ? तो वह कहता है कि ठीक है । अरे कहाँ ठीक है ? अभी तो १०३ डिग्री बुखार है । तो ऐसे ही इस ससारमे सर्वत्र दु ख ही दु.ख है, सब जगह आकुलता ही आकुलता है । कभी बडी आकुलता दूर हुई और छोटी आकुलता रह गयी तो लोग कहते हैं कि हम बडे सुखी है, अरे कहाँ सुखी है ? आकुलतासे दूर कहा हुए है अभी ? वास्तविक

सुख तो वह है कि जहाँ नाम मात्रकी भी आकुलता न हो। अब परख लीजिए—जितने भी ससारके सुख माने जाते है उन सुखोमे क्या कोई भी सुख ऐसा है जिसमे आकुलता न हो ? कोई नही है। उस सुखको भोगनेके समय आकुलता, उस सुखके साधन मिलनेके समय आकुलता और कदाचित् सुखके साधन नष्ट हो जायें तो वहा भी आकुलता। जहा पहिले आकुलता, बीचमे आकुलता और अन्तमे आकुलता, ऐसे ससारके सुखोकी क्या आस्था करना ? इनसे तो हमे बिल्कुल अलग होना है और भगवान आनदधाम निज आत्मस्वरूपमे हमको लीन होना है। मेरे करनेके लिए केवल एक ही काम है, अन्य काम मेरे करनेके लिए नही है, इतना निर्णय इस जीवनमे अपना बनायें।

सामान्याविर्भावदृष्टिका प्रभाव—जो भी पदार्थ है वह सामान्यविशेषात्मक होता है, यह पदार्थका स्वरूप है, जिसे सक्षिप्त शब्दोमे कहो कि वह स्वभाव और परिणामस्वरूप होता है। जो स्वभाव है वह तो सामान्य है और जो परिणमन है वह विशेष है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावको लिए हुए है और वह प्रतिक्षण परिणमता रहता है। दोनोमे से एक न माना जाय तो दूसरा भी नही माना जा सकता है। जैसे आत्मामे एक स्वभाव है, सामान्य तत्त्व है और उसका निरन्तर परिणमन भी चलता है, और यदि परिणमन न माना जाय तो पदार्थकी कल्पना भी क्या और स्वभाव भी क्या ? जो किसी व्यक्त स्थितिमे न हो उसमे स्थित स्वभाव ही क्या ? असत् होगा, और स्वभाव न माना जाय, परिणमन परिणमन ही माना जाय तो क्या परिणमन ? किसका परिणमन, किस ढगसे परिणमन ? वह कुछ भी न बनेगा। तो यो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। मैं जीव भी सामान्यविशेषात्मक हू फिर भी जरा यहाँ हितकी दृष्टिसे खोज करनी चाहिए कि मैं यदि विशेष तत्त्वपर उपयोग लगाऊँ तो वह विशेष तत्त्व अध्रुव है, तरग है, परिणति है तो उस विशेष तत्त्वपर उपयोग लगेगा तो वह उपयोग स्थिर हो सकनेका अवकाश न पायगा। साथ ही रागद्वेष भरी प्रवृत्तियाँ हो तो वहाँ उसकी बदल चलती रहती है। तो विशेषपर उपयोग रखनेसे तरग बदल व परिणमन चला करते है। ये विनष्ट हो रहे है। साथ ही उसके साथ आपमे अशान्ति भी जुट सकती है। जितने लोग अशान्त है वे विशेष विशेषको ही उपयोगमे लिए रहते, इसीलिए तो अशात है। जैसे ये पर्यायें हैं, मनुष्य है, तिर्यञ्च है, और और पर्याये है—भाई, बन्धु, मित्र, धन वैभव आदिक जो कुछ भी यहाँ दृष्टिगत हो रहे है वे परिणमन हैं। उन परिणमनोसे स्नेह लगाया है तो इसके उपयोग मे उसको अशान्ति प्राप्त हो रही है। यह बात सब जान रहे हैं और सामान्य तत्त्वपर उपयोग जाय, यह सब एक अन्तःप्रभावकी बात कही जा रही है। सामान्यविशेषात्मक होते हुए भी प्रधानतया सामान्य विशेषपर उपयोग जाय तो वहाँ विषमता नही, वहाँ अशान्ति नही, सकट नही, ख्याल बदल भी नही और उस सामान्यपर तीक्ष्ण दृष्टि दिया, उपयोगकी वृत्ति हुई तो

इसीको कहेगे कि ज्ञानकी अनुभूति हुई। जिस ज्ञानमे ज्ञानसामान्य ज्ञात हो रहा है वह नि.सकट है। यद्यपि विशेप छोडकर सामान्य नही है, उसका विरोध नही करते है, पर फिर भी यह बात तो सम्भव है कि हम प्रधानतया किसे ही जाने ? इस आत्मद्रव्यमे हम जब सामान्यस्वरूपसे जानते है तो वहाँ इस ज्ञानका यह सामान्यज्ञानस्वभाव यह विपय होता है। तो उसकी अनुभूतिको कहते है ज्ञानानुभूति। अपने निर्णयमे यह बात रखनी चाहिए कि उसके उपयोगसामान्यको प्रधानतया जाना करें। वह उसका विषय बने। देखिये सामान्य विषय बनकर भी विशेष हटा नही। जिस परिणतिमे सामान्यको प्रधानतया विपय किया है वह परिणति भी विशेप है। तो विशेपके द्वारा ही सामान्यका परिचय बन रहा है, इसलिए विशेप अनुकरणीय है, फिर भी उपयोगमे सामान्य विषय हो तो विकल्पके कारणभूत समस्त विशेपो का वहाँ तिरोभाव हो जाता है। जब सहज स्वभाव अनुभवमे आता है तो ऐसी प्रक्रियाको कहते है सामान्याविर्भावदृष्टि। अपने उपयोगमे सामान्यका आविर्भाव करे अर्थात् सामान्यका विषय बनायें, ऐसी दृष्टिमे सकट आपत्ति, विकल्प ये दूर होते है और ज्ञानानुभूतिका इसे मौका प्राप्त होता है।

विषयके परिचय और सेवनके प्रसंगका विवरण—किसी विशेपको विषय करनेपर और इस समय हम आप छद्मस्थ अल्पज्ञ इन्द्रिय द्वारा ही विशेषका विषय किया करते हैं तो वहाँ रागवश इन इन्द्रियोकी प्रवृत्ति भी होती है। जिसे कहते है इन्द्रियों द्वारा विपयोका उपभोग करना। तो जब इन्द्रिय द्वारा विपयोका उपभोग होता है तो वहाँ हो क्या रहा है ? इन द्रव्येन्द्रियोके द्वारा ये बाह्य पदार्थ विषयमे आ रहे है अर्थात् ज्ञानमे आ रहे है, भावेन्द्रियाँ बन रही है। यहाँ तीन तत्त्वोसे सम्बन्ध बना है— द्रव्येन्द्रिय, विषयभूत पदार्थ और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय तो इन बाह्य विषयोकी जाननेका कारण है। आँखसे देखा जाता कि रूप है तो वह रूप पुद्गलमे है। वह तो विषयभूत हुआ और ये द्रव्येन्द्रिय हुईं। चक्षुइन्द्रियसे उसका परिज्ञान किया यह द्रव्येन्द्रिय है और जो विकल्प हुआ, विचार हुआ, परिचय हुआ वह भावेन्द्रिय कहलाता है। उपयोग भावेन्द्रिय बने और यह शरीरकी रचनामे जो इन्द्रिय है वह द्रव्येन्द्रिय है और वे बाह्य पदार्थ विपयभूत है। तीन बातें आयी। जरा चिन्तनाके साथ विचारे तो कुछ कठिन न लगेगा। सर्वसाधारण भी जान सकते है यह कोई कठिन बात नही की जा रही और भला बतलाओ कि जो बात की जा रही है वह तो सरल लग रही और उसी बातका परिचय दिया जा रहा वह कठिन लग रहा है। यह कैसी कठिन बात है ? जिन्हे विषयोका भोगना सरल लग रहा है, पचेन्द्रियके विषयोको मौजसे भोगते है उनसे कहा जाय कि भाई जो तुम काम करते हो हम जरा उसकी विधि समझा रहे है कि वह काम कैसे हो रहा है तो यह विधि समझना कठिन लगे तो यह कितनी मनमानी बात है ? ज्ञानकी एक स्वच्छन्द वृत्तिकी

बात है कि वह काम तो पसद आ रहा है और वह काम क्या है, इस बातकी समझ कठिन बन रही है। जब हम इन्द्रिय विषयको भोगते है उस समय ३ बाते बन रही है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, और मन। बाहरी इन्द्रियाँ ५ है और मन अत करण है। इन ६ उपायो द्वारा, ६ साधनो द्वारा हम पदार्थोंको विपय करते है। तो ये बाहरी विषयभूत पदार्थ ये तो कहलाये सगपरिग्रह। इनका सम्पर्क बनायें, ये हुई द्रव्येन्द्रियाँ जो शरीरमे बनी हुई है और भीतर जो भाव बन रहा वे सब भावेन्द्रिया है, तो इन्द्रियविषय ये अनर्थ क्रियाकारी है, इतनी बात समझमे आयी हो और यह भाव बना हो कि इन्द्रियविपय न सेवना चाहिए तो उनके यह बात मनमे आयगी कि इन विषयोपर हम कैसे विजय प्राप्त करे ? तो जैसी विधि है उससे उल्टा काम किया जाय तब ही तो विजय बन पायगी। जैसे हम विषय भोगते है उन विपयोसे हम विपरीत चलने लगे तो लो उनकी विजय बन जायगी। यह बात तो सीधी-सी है। हम इन्द्रियविपयोको भोगते है उनमे तीन बातें आती है—भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और ये सगविषय। तो इन तीनोका तो विजय करना चाहिए। तो विजय कैसे हो, यह बात तब समझ मे आयगी जब पहिले यह ज्ञात हो कि ये विषय बनते कैसे है ? जो विषयकी विधि है उससे उल्टा हमे चलना है, विजय हो जायगी।

भावेन्द्रियविजयभावनाकी दृष्टि—अब पृथक्-पृथक् विजयकी जानकारी प्राप्त करे, भावेन्द्रिय याने भीतरमे जो हमे बोध जगता है, जिस बोधके साथ हम रागद्वेष मोहवश मौज मानते है वह भावेन्द्रिय है। यह है खण्डज्ञान। जितने भी हम ज्ञान कर रहे है ये खण्ड-खण्ड ज्ञान है समग्र वस्तुओका ज्ञान नही है, इसलिए खण्डज्ञान हैं और एक ही वस्तुका पूरा ज्ञान नही है इसलिए खण्डज्ञान है। जैसे हमने आँखोसे आम फलको देखा तो क्या हमने पूरे आमको जाना ? आमके एक बाहरी रूपको जान पाया। अब रूपके अतिरिक्त उसमे रस भी है। गध भी है, स्पर्श भी है, उसे तो हमने नही जान पाया। जब हम आँखोंसे देख रहे है तब फिर इसके स्रोतभूत जो शक्तियाँ है वे तो अदृश्य ही है। उन्हे तो हम किसी इन्द्रियसे जान नही पाते। तो हमने आमका ही पूरा ज्ञान नही कर पाया। खाया, रसका स्वाद लिया, पर हमने आपका पूरी तरहसे ज्ञान नही कर पाया तो वह विपयज्ञान खण्डज्ञान है। इस खण्डज्ञानसे हमे उपेक्षा करनी है। देखिये यह खण्डज्ञान हमारी विपत्तिका कारण बन रहा है। खण्डज्ञान मे हम मौज मान रहे, आसक्त बन रहे तो हमारी ज्ञानशक्ति विरुद्ध हो गयी, विकसित नही हो पा रही। हम उसीमे अटक गए। ज्ञानमे तीन काल, तीन लोकका सर्व विश्व जान लेनेकी सामर्थ्य है, लेकिन यह सामर्थ्य क्यो नही प्रकट हो रही ? यो नही प्रकट हो रही कि हम खण्डज्ञानमे तृप्त हो रहे है। वह समस्त ज्ञान मुझे कैसे प्राप्त हो ? जैसे कोई भिखारीको दो चार दिनकी रोटियाँ मिल जायें और उनसे वह तृप्त रहता है, तो फिर उसके चित्तमे

राज्यवैभव जैसी बात ही कैसे आयगी कि यह वैभव मुझे मिल जाय ? उस राज्यके प्राप्त करनेकी वह आकाक्षा तक न करेगा, क्योकि वह तो थोडेमे ही तृप्त हो रहा है । ऐसे ही यह ससारी प्राणी एक खण्ड ज्ञानमे ही तृप्त हो रहा है तो वह इससे बढकर और बात पायगा ही क्या ? हमे पहिले चाहिए कि इस खण्डज्ञानमे तृप्त न हो, यह अपूर्णता है, विपत्ति है, बेकार वाली स्थिति है । इससे परे वही हो सकता है, ऐसा जिसके चित्तमे आया हो । अब देख लीजिए कितना मौलिक उपाय है कि विषयोकी आकाक्षा, भोगनेकी इच्छा, बाह्यपदार्थोंसे मिलनेका प्रयास—ये सब उसके छूट जायेंगे । लोग खण्डज्ञानमे ही लग रहे, उसे ही अपना स्वरूप समझ रहे, इसे बेकार व विपत्ति नही समझ रहे है तो बतलाओ ऊपर वे उठेंगे कैसे ? तो इस खण्डज्ञानपर विजय पानेके लिए हमे ज्ञानकी सही बात सोचनी होगी । मैं अखण्ड ज्ञानस्वरूप हू । मै कुछको जानूँ, अधूरा जानूँ, थोडा जानू, यह तो मेरे लिए कोई शोभाकी बात नही है, यह मेरे लिए हितकारी बात नही है । हो रहा है, आसक्ति है, चल रहा है । छूट नही सकते खण्ड ज्ञानसे, फिर भी ज्ञान ऐसा बनावें मनके उपयोग द्वारा कि जिसमे अखण्ड ज्ञान विषयभूत हो । इतना तो कर सकते है । इस खण्डज्ञानसे अलग नही हो सकते तो उसकी दिशा तो बदल दें । बाह्य विषयोमे जो हम लग रहे हैं, उनमे प्रीति कर रहे हैं उनसे तो अपना हटाव बना लें । मैं अखण्ड ज्ञानस्वरूप हू, अखण्ड ज्ञानस्वभावमय हू, मैं खण्डरूप नही हू—ऐसी अपनी अखण्डताका परिचय हो, उसको यह निर्णय है कि मैं खण्ड ज्ञानस्वरूप इस भावेन्द्रियसे विविक्त स्वभावत स्वरसत अपने ही सत्त्वके कारण अखण्ड ज्ञायकस्वरूप हू, ऐसा जिसे बोध होगा उसके इन अनर्थ विषयोसे अप्रीति हो जायगी ।

भावेन्द्रियके अविजयमे क्लेशोका उपभोग—देखिये कितने ये विषयसम्पर्क है, यह सारा अधेरा है । जैसे स्वप्नमे जो बात देखनेमे आयी वह स्वप्नमे असत्य नही विदित होती । तब भीतर ही भीतर वह मनसे, वचनसे, कायसे अपनी ऐसी क्रिया करता है जो कि स्वप्नज्ञानमे अपने कल्पित सुखके लिए और दु खसे बचनेके लिए हो । स्वप्नमे भी यह जीव ऐसी प्रवृत्ति करता है, पर वहाँ है क्या ? केवल एक कल्पित मौज या कल्पित क्लेश । क्लेश वाला स्वप्न आ जाय तो वहाँपर भी यह क्लेश ही मानता है और आनन्द वाला स्वप्न आ जाय तो वहाँ यह आनन्द मानता है । पर वहाँ न आनदकी चीज है, न क्लेशकी चीज है । वहा तो अधेरा है, भ्रम बना हुआ हे । इसी तरह विषयोके प्रसगमे जीवको भ्रम बना हुआ है, चीज क्या है वहाँ ? जैसे विषयोका अनुराग होता है, कोई रूप देखनेका अनुरागी है तो वह उस रूपको देखता और उस देखनेमे तृप्त रहता, बस यही स्थिति उसे हितकारी और सत्य विदित होती है । जिसको रसका विषय लगा है, गधका विषय लगा है उसे यह ही स्थिति अपने लिए हित और सत्य प्रतीत होती है, किन्तु कुछ देर बाद कम समझ वालोको भी उन विषयोकी प्राप्ति

कर लेनेके बाद थोडा यह भान तो होता ही है कि वह व्यर्थका समय गया और जो ज्ञानी पुरुष है उन्हे स्पष्टतया यह विदित होता है कि वह सारा समय बेकार ही गया। विषयोमे प्रीति की, समय गुजर गया, व्यर्थ गया। मिला क्या? वह विषय अब है नही, वह पदार्थ अब है नही। कल्पना अब है, वह बिल्कुल मिथ्याभाव था, परभाव था, मैं बाह्य पदार्थोंमे रत हो गया, अधीर हो गया, अशक्त बन गया, तो यह एक अलाभ ही तो हुआ। तो विषयोकी प्रीति हितकारी नही है। उससे जितना हटाव बन सके सत्संग द्वारा, स्वाध्याय द्वारा, विवेक द्वारा, विषयोसे निवृत्तिका जितना अवसर मिल सके वह हमारे लिए सहायक है। तो इस प्रीति को हटानेके लिए यहाँ अन्त: यह विचार किया जा रहा है कि मै खण्ड ज्ञानरूप नही हू, अखड ज्ञानस्वरूप हू, उस ही को जानूं, उस ही को मानूं, उस ही मे रमनेका प्रयास करूँ, जितना बन सके उतना करूँ, पर लक्ष्यमे यह बात रहे कि मेरेको करने योग्य काम यही है कि मै अखण्ड ज्ञानस्वभावमे उपयोगको मग्न करूँ, उसमे जो प्रभाव होगा और उसकी जो प्रवृत्ति होगी वह भी विशेष है। लेकिन इस विशेषमे विशेष प्रधानतया नही आ पाया। विषय हो यह अखण्ड ज्ञान सामान्य तो ऐसे अखण्ड ज्ञानको विषय करनेमे, अनुभवनेमे, उसीके निकट उपयोग बनाये रहनेमे, भावेन्द्रियका विजय स्वतः हो जाता है। देखिये—इन विषयभोगोकी प्रक्रियामे मूल आघात तो भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय तो एक पौद्गलिक है और द्रव्येन्द्रियके द्वारा जो विषयभूत हुआ है वह पदार्थ भी पौद्गलिक है। उनकी परिणति उन प्रदेशोमे है, मेरे पर तो भावेन्द्रियका आघात बन रहा है। जैसे कोई पागल पुरुष जिससे क्लेश होता हो, उस ही मे आनन्द मानता हो अथवा कोई रोगी पुरुष जिसको ठडी चीज खानेसे रोग हुआ है उस रोगीको ठडी ही चीज सुहाये अथवा जैसे लाल मिर्चके खानेके शौकीन पुरुषको उस लाल मिर्च के खानेसे तत्काल क्लेश हो रहा है, मगर उसमे वह मौज मान रहा है तो ऐसी ही हालत विषयभोगकी रुचि वाले पुरुषकी है कि जिन विषयोसे खेद पहुच रहा, कष्ट पहुच रहा उन ही विषयोमे यह आनन्द मानता है। भैया! इन विषयोसे तो हटना श्रेयस्कर है और उसके लिए यह भीतरी प्रयोग बन सके तो उसने तत्काल साक्षात् उसके दूर करनेकी विधि पायी समझिये। मै खण्डज्ञानरूप नही हू, अखण्डज्ञानस्वरूप हू। उस अखण्ड ज्ञानस्वभावकी उपासनाके बल से भावेन्द्रियपर विजय करना, ऐसी दृष्टि जहाँ बनती हो उसे भावेन्द्रिय विजयदृष्टि कहते है।

द्रव्येन्द्रियपर विजय पानेकी युक्ति—यद्यपि भावेन्द्रिय विजयके एक इस काममे हमारे सारे काम बन गए, फिर भी विषयकी विधि यह बतायी थी कि द्रव्येन्द्रियके द्वारा ये बाह्य पदार्थ विषयमे आते है और भावेन्द्रियका निर्माण होता है। तो वे द्रव्येन्द्रिय भी विजयके योग्य है, उनपर कैसे विजय करे? यद्यपि भावेन्द्रियकी विजयका उपाय बनानेमे सबका विजय हो गया, फिर भी चूँकि विधिमे तीन बाते आयी थी, इसलिए उनके भी विजयकी बात पृथक् रूप

से सुन लीजिए । द्रव्येन्द्रियपर विजय कैसे प्राप्त करें ? तो द्रव्येन्द्रियकी पहिली प्रकृति देखो। द्रव्येन्द्रियका स्वरूप देखो क्या है ? द्रव्येन्द्रिय ये आँख, नाक, कान आदिक जो पुद्गलके परिणमन है वे द्रव्येन्द्रिय है । यद्यपि यहा भी आत्माके सम्बध बिना उनकी बात नही बनती, पर द्रव्येन्द्रियके निर्माणमे भी पुद्गलकी प्रधानता है, इसलिए द्रव्येन्द्रियको जड कैसे कहा गया है ? तो जब ये द्रव्येन्द्रिय जड है तो इससे विपरीत बात सोचनी चाहिए । मैं द्रव्येन्द्रिय नही हू, द्रव्येन्द्रिय जड है, मै जीव जड नही हू, मैं चेतनतत्त्व हू । द्रव्येन्द्रियाँ अचेतन हैं और पौद्गलिक है, उनसे मैं निराला चैतन्यस्वभावमात्र हू, जब ऐसा अपने आपको चेतनास्वभावमात्र देखा तो इस द्रव्यसे प्रीति न करना । कष्टकी यह ही बात है कि हम द्रव्येन्द्रिय रूप भी अपनेको समझ रहे है, तो यह सारा शरीर द्रव्येन्द्रिय ही तो है । आँखकी जगह आँख है, नाक, कान, रसना की जगह नाक, कान, रसना है और बाकी सब जगह स्पर्शन है, और इतना ही नही जहाँ नाक, आँख, कान, रसनाका निर्माण है वहाँ भी स्पर्शनइन्द्रिय है, लेकिन उन इन्द्रियोमे स्पर्शन इन्द्रिय नही है । और इस दृष्टिसे अगर देखा जाय, सोचा जाय तो इन चार इन्द्रियोका जानना बडा कठिन बनेगा । स्पर्शनइन्द्रियको हाथसे छूकर बता देंगे, आँखसे देखकर भी बता देंगे, पर जो वास्तविक रसनाइन्द्रिय है उसे कैसे बतायेंगे स्पर्शनइन्द्रियसे ? ये इन्द्रियाँ सूक्ष्म है । है वे भी पौद्गलिक । इन इन्द्रियोसे पदार्थको छूकर बतायेंगे । तो जो छूनेमे आया वह स्पर्शनइन्द्रिय है, इसके ही बीचमें जिस द्वारसे, जिस उपायसे सुनना, चखना, सूँघना, देखना बन रहा है वे है ये इन्द्रिय । तो यह सारा शरीर क्या है ? द्रव्येन्द्रिय है, इनका परिचय बना हुआ है । जब कभी मैंकी धुन बनती है—मैं हू तो प्राय लोग इस शरीरको ही लक्ष्यमे लेकर 'मैं हू' ऐसा कहते है अथवा इतना भी विवेक नही बनाते कि जो शरीर है सो मैं हू । ऐसा यदि वे सोचें तो किसी उपायसे कमसे कम इतनी बात तो मानी कि जो शरीर है सो मैं हू । किन्तु अज्ञानी के इतना तक भी बोध नही, किन्तु एक शरीरको निरखते हुए—यही मैं हू, ऐसा अनुभव अज्ञानियोको होता है । तो द्रव्येन्द्रियरूप अपनेको जो अनुभव कर रहा तब द्रव्येन्द्रिय द्वारसे जैसा समझेंगे, भोगेगा वह । उसे कैसे असत्य मान सकेंगे ? तो यह द्रव्येन्द्रियका जो व्यापार करता है वह उसकी बरबादीके लिए व्यापार है, वह जड है । मैं चैतन्यस्वरूप हू । इस इन्द्रियके व्यापारमे हमारी बुद्धि न फसनी चाहिए । मैं इन इन्द्रियोसे निराला हू, चैतन्यस्वरूप हू, शरीरसे न्यारा हू, मै शाश्वत हू, शरीर मिटने वाला है । इस मेरेका मेरेसे ही सम्बध है । इस मेरेका मेरेसे ही काम बनेगा । इस मेरेमे मैं ही बसा करता हू । तो मेरेको अन्य दुनियासे क्या ? ऐसे इस देहसे निराले अपने आत्माका जिसे भान हो जाय उसने द्रव्येन्द्रियपर विजय प्राप्त कर लिया । तो ऐसी दृष्टिसे जहाँ द्रव्येन्द्रियपर उपेक्षा हो जाय वही विजय कहलाता है । वही कहलाती है द्रव्येन्द्रियविजयदृष्टि । हमारी यह विजय हुई । मैं खण्डज्ञानको न अपनाऊँ

और अखण्ड ज्ञानमे रुचि बनाऊँ और इस द्रव्य शरीरको मै अपनाऊँ नही और शरीरसे निराला अपने चैतन्यस्वरूप 'यह मै हू,' ऐसा अनुभव करूँ, यह बात यदि बन सकती है तो अपने ये जीवनके क्षण सफल है, और यह न बने, उन विषयोके ज्ञानमे उनके ही उत्पादनमे चित्त जमा करे, प्रवृत्ति बनी रहे तो यह जीना क्या जीना है ? कीडे-मकोडेकी तरह जिये, मरे और ससारमे जन्म-मरणकी परम्परा बने तो इससे क्या लाभ ? तो इन विषयकषायोसे हटने और सम्यग्ज्ञानका उपाय बनानेका अपने लिए उपयोगी काम पडा हुआ है । ऐसा अपना दृढ विश्वास बनाकर इसी ओर प्रगतिका प्रयास करें ।

सम्यग्ज्ञानसे ही शान्तिकी संभवता—शान्ति सत्य ज्ञानसे ही सम्भव हो सकती है । भ्रममे रहने वाले प्राणी किसीसे भी आशा रखते हुए शान्ति नही पा सकते । चाहे आज्ञा-कारिणी स्त्री हो, आज्ञाकारी पुत्र हो, बहुत धन सम्पदा हो, बहुत पार्टीके लोग हो, बहुत प्रजा जन मानते हो, सब कुछ हो जानेपर भी इन सब बातोका सबध शान्तिसे नही है । शान्तिका आधार सम्यग्ज्ञान है । यदि अपनेका और परका सही-सही ज्ञान हो तो परसे उपेक्षा करके अपने ज्ञानानदस्वभावी भगवान आत्माको दृष्टिमे रखेंगे तो वहाँ शान्ति अपने आप प्राप्त होगी । सुख और दु खका देने वाला जगतमें कोई भी दूसरा नही है । इसीसे अदाज लगा लो कि जब आप सुख पाते है या शान्ति पाते है तो भीतरी बात क्या गुजर रही है; जिससे कुछ आराम-सा लग रहा है । अन्य दृष्टिसे विचार करें तो यह बात पायेंगे कि भीतर हमारा सही ज्ञान बन रहा है । बस सही ज्ञान होना शान्तिका आधार है । अब इसको सही ज्ञानकी दिशामे बाहर और अपने आपमे कुछ निर्णय करे । मैं असग हू अर्थात् बाहरी समस्त सगोसे रहित हूँ । मा को अपना छोटा बच्चा कितना प्रिय लगता है ? कभी वह बडा बीमार हो या उसका मरण हो रहा हो तो मा उसको कितना गोदीसे चिपका लेती है ? उसे मोहवश वह छोडती नही, पर वह उसे मरणसे क्या रोक सकती है ? इसी तरह पुत्रकी अगर बुरी वृत्ति जग गयी है, उसके खोटे भाव बन रहे हैं तो क्या मा उसको दुःखसे बचा सकती है ? अरे अपने ज्ञानके आश्रित ही अपना सब कुछ भवितव्य है । लोग सुखी शान्त होनेके लिए बाहरी बहुत परिश्रम करते है, बजाय इसके थोडा भी परिश्रम अपने आपके भीतर आत्मामे अपने आपको निरखने का बनायें तो उसको शान्ति सुगम है । तब इतनी बात एक स्थूल रूपसे ही देखी जा रही है कि मेरा जगतमे कुछ नही रहनेका, सब मिटेगा, यहा कुछ न रहेगा । समागम जो कुछ भी पास है, निकट है वे सब कल्पित हैं । भला बतलाओ फिर ये मेरे शरण कैसे रहे ? इनसे मैं क्यो सुखकी आशा करूँ ? यह भूल है कि जो मैं किसी परसे सुखकी आशा लगाता हू । यह ही भ्रम निरन्तर दु खी बनाये हुए है । अरे सुख शान्तिकी आशा करें तो इस पावन ज्ञान-ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मासे करे । जब कुछ भी नही रहनेका हमारा तो फिर उससे क्यो

आशा बनाये हुए हो ? और खुद यह सदाकाल रहेगा। इस आत्माका कभी वियोग नही होने का। जहा जायेंगे वहा हम ही तो रहेगे, तो अपने आत्माके स्वरूपका परिचय होगा और उस ही मे रमनेकी वृत्ति बनेगी, फिर बतलाओ सकट काहेका ? सकट तो माननेका सकट है। सकट तो परिग्रहमें बुद्धि लगानेका सकट है। परिग्रह कोई सोना चादीका ही नाम नही है। परिग्रह स्वर्ण धन आदिक भी है, परिग्रह घर भी है, परिग्रह कुटुम्ब भी है और परिग्रह देह भी है, परिग्रह विषय कषाय भी है। जहाँ ममता हो बस उस ममताका नाम परिग्रह है। चीजका नाम परिग्रह नही है। वस्तु कुछ भी हो, कही पडी हो, वह मेरा परिग्रह कैसे ? बाह्य वस्तुके सम्बन्धमे देहके बारेमे या अपने आपमे जो बुद्धि विचार कल्पना, कषाय जगती है, उसके बारेमे आत्मीयता हो, बस वही परिग्रह बन गया। 'निजको निज परको पर जान फिर दुःखका नहि लेश निदान" जिसको भी परमात्मा बनना होगा, शान्तिधाममे पहुचना होगा उसको यही उपाय करना पडेगा। चाहे आज उपाय कर ले तो शीघ्र शान्तिके धाममे पहुच लेंगे और अगर आज नही करते तो फिर और भी भटक ले, पता नही कितने काल भटकना होगा ? मगर शान्ति जब भी प्राप्त होगी तो इसी उपायसे होगी। दूसरे किसी उपाय से शान्तिकी प्राप्ति असम्भव है।

भ्रम, कलङ्ककी आत्मस्वभावमे अप्रतिष्ठा—भैया ! लौकिक परिचय यह सब भ्रमवाला परिचय है। इसमे राजी मत होओ यहाँ चाहे कितने ही उद्यम कर लें बाहरमे, आखिर किसी न किसी रूपमे सभीसे धोखा और चोट प्राप्त होगी। तो यहाँ विश्वासके योग्य कुछ भी नही है। विश्वास करें अपने इस भगवान आत्माके वैभवका मै असग हू। ये बाहरी सब सग कहलाते है। इन्द्रियके द्वारा जो विषय भोगनेमे आते है उन पर विजय प्राप्त करें। हमको मनमाने न बनना चाहिए कि हम उन विषयोमे आसक्त रहे और उन्हे ही सर्व हितरूप समझें। विषय उपभोग तो विषपान है, और अपने ज्ञानतत्त्वका विशुद्ध ज्ञानज्योतिका दर्शन अमृतपान है। देखिये ये सब बातें कितनी सुगम है ? दु ख भी अपने ही ज्ञानके आधीन है। हम उस तरहका ज्ञान बनायें जो भ्रमपूर्ण हो, लो दुःख मिल जायगा। दु ख भी बाहरकी चीजमे नही मिलता, किन्तु भीतरकी ही ज्ञानकी एक कलासे प्राप्त होता है। तो सुख शान्ति भी बाहरकी किसी चीजसे नही मिलती। वह भी मिलेगा तो ज्ञानकी स्वच्छतासे मिलेगा। अपने आपका असग स्वरूप जानें, नियमसे कल्याण होगा। जैसे दर्पण क्या चीज है ? एक अतीत स्वच्छ पदार्थ। और जब दर्पणके सामने कोई चीज रख दी जाती है, मानो रगबिरगे खिलौने रख दिये तो दर्पणकी क्या हालत बन जाती है ? उसकी स्वच्छता तिरोहित हो गयी, दब गई और स्वच्छताके बजाय वहांपर प्रतिबिम्ब आ गया। रगीला बन गया है वह दर्पण। वह दर्पणका दाग जो सामने खिलौने रखनेपर बना है, वह दर्पणमे अन्त प्रविष्ट नही है, दर्पणके स्वरूपमे

में नही लगा है। जैसे दर्पणके भीतर काँच ही कुछ अट-सट टेढा-मेढा हो या गड्ढा हो तो वह दर्पणका अदरूणी दाग है, इस तरहका दाग तो नही जो दर्पणपर पड रहा, छाया आ रही। वह नैमित्तिक भाव है, ऊपरी है। उसका मिटाना कठिन क्या ? चीज हटी तो वह छाया भी हट जायगी। तो जिस वक्त दर्पणमे वह छाया आयी है उस वक्त भी ज्ञानी जीव जानता है कि दर्पणमे जो यह छाया है वह दर्पणकी चीज नही है, दर्पणका दाग नही है, दर्पण तो तब भी अपनी स्वच्छताको लिए हुए है। इसी तरह ज्ञानी जीव जानता है कि जब मेरेमे विकल्प, विचार, कल्पनायें उठ रही है सो ये चीजें भीतरी कलक नही है, याने मेरे स्वरूपमे नही है वह कलक। नैमित्तिक है। कर्मविपाक उदयमे हो उस कालमे यहाँ ऐसी झाँकी है, ऐसा परिणमन हैं इसका मिटाना कठिन बात नहीं, लेकिन थोडी रुचि चाहिए, थोडा साहस चाहिए, थोडी लगन चाहिए, अपने आपके मार्गमें रमनेका कुछ बल चाहिए। वह दाग मिटा देना बहुत सुगम है। यह सब उपयोगसाध्य बात है। ज्ञान द्वारा ये सब बातें हासिल की जा सकती है।

उपयोगकी बदलमें रीतिपरिवर्तन—कोई पुरुष कितना ही दुःखी हो और कोई बात ऐसी आ जाय कि उसका उपयोग वहाँसे बदल जाय, दूसरी जगह लग जाय तो देखो इस फेर मे वह सकट दूर हो गया। जैसे किसीको खूब हिचकियाँ आ रही हो तो लोग क्या करते है कि उसे कुछ आश्चर्यमे डाल देनेकी बात कह देते है—जैसे अरे तुम अकेले ही उसके घरमे बिना पूछे-जाँचे क्यो गए, अरे तुम उसके घरसे अमुक चीज क्यो चुरा लाये, अरे तुमको ऐसी अनीति करना चाहिये था , इस प्रकारकी बात कहते कि जिससे उसे कुछ विषाद पहुच जाय, कुछ आश्चर्यभरी बात मालूम हो। लो इस प्रकारका उपाय करनेसे उसकी हुचकियोमे बहुत कुछ कमी आ जाती है। यह विषयोका उपभोग कितना आकुलताओका बर्द्धक है, इसमें कितनी पराधीनतायें है ? यदि कोई इन्द्रिय सुख प्राप्त करना चाहता है तो देखो पहिले तो अनुकूल कर्मका उदय चाहिए तो कर्मके आधीन हुआ यह सुख। अनुकूल कर्मका उदय आनेपर फिर उसके साधन जुटाना चाहिए तो लो साधनके जुटानेमे इसको व्यग्रता हुई। साधन भी जुटा दें और विषयोका उपभोग भी किया, लेकिन खेदकी बात है कि वे विनाशीक हैं, अगर यह वैषयिक सुख विनाशीक न होता तो फिर चाहे कितनी ही आधीनतायें होती, कितनी ही विपत्ति और कष्ट क्यो न आते, पर यहाँ उपदेश दिया जाता कि खूब इन विषयके साधनोको जुटाओ और भोगो। अगर ये विषय सदाकाल रहते होते और इनमे प्रतिकूलताका दोष न होता, हानि-वृद्धि न होती और एक समान ये वैषयिक सुख मिलते तो यह ही परम पद कहलाता। कोई हानि न थी, मगर है कहाँ ऐसा ? ये वैषयिक सुख विनाशीक है, भिन्न है। तो बाहरी पदार्थोंका इतना मोह करना, बस यह जीवके लिए खेदकी बात है। उस मोहका मिटना —

ज्ञानसे हो सकता है, दूसरी प्रकार नही हो सकता ।

विषयसाधनाकी अनर्थरूपता—कभी लोग किसी बैरीके प्रति ऐसा सोचते है कि मैं इसका अनर्थ कर दूं, ऐसा भाव करके यदि कोई उसको हानि पहुचाता है या उसके मारने, घर जलाने आदिके साधन बनाता है तो यह उसके लिए ज्यादा [दुःख न रहेगा । अगर किसी को ज्यादा दु.खी करना है तो उसके लिए यह उपाय है कि उसको विषयोंके साधन जुटा दें, लो वह जिन्दगीभर दुःखी रहेगा । यह उस बैरीका अधिक बदला है । एक दृष्टान्त परख लो । एक बढई और एक सेठ ये दोनो पडोसी थे । बढई तो बहुत गरीब था, कोई चार पांच रुपये रोज कमा लिया करता था और सेठकी सैकडो रुपये रोजकी कमाई थी । पर उस बढईके घर प्रतिदिन अच्छा-अच्छा भोजन बनता था । जो कुछ भी कमाता था वह अपने खाने-पीनेमे खर्च कर लिया करता था, और उधर सेठके घर वही सूखी-रूखी रोटी दाल प्रतिदिन बनती थी । सो एक दिन सेठानीने सेठसे कहा कि देखो अपना पडौसी बढई गरीब है, पर कितना अच्छा खाता-पीता है और आप धनिक होकर भी सूखा-रूखा खाते है तो यह क्या बात ? सो सेठ जी बोले कि देखो अभी वह बढई ९९ के चक्करमे नही पडा है, इसीसे गुलछर्रे मारता है । अगर यह भी ९९ के चक्करमे पड जाय तो हमारी तरह हो जाय । और अगर न मानो तो थोडे दिनोमे देख लेना । सेठने क्या किया कि एक दिन रातको उस बढईके घरमे ९९ रु० से भरी हुई थैली फेंक दिया । सुबह जगनेपर आंगनमे रुपयोंसे भरी थैली पाकर वह बडा खुश हुआ । गिनने लगा । जब गिन चुका तो वे ९९ रु० ही निकले । कुछ दु.खी होकर सोचने लगा—देखो भगवानने खुश होकर रुपयोकी थैली मेरे घर फेंकी, पर उन्होने १ रु० काट लिया, नही तो मैं शतपति कहलाता । अच्छा कोई बात नही आज जो कमाऊँगा उसमे से १) रु० कम खर्च करूंगा और इस थैलीमे डाल दूगा । आखिर वैसा ही किया । मान लो प्रतिदिन ५) रु० का भोजन बनता था उस दिन ४) रु० का ही बना । जब १००) रु० हो गए तो यह विचार करने लगा कि अरे १००) रु० से क्या होता, इतने तो अमुक्त व्यक्तिके पास भी हैं, पर वह तो सुखी नही । सो हजार चाहिए, लाख चाहिए । लो वह हजार, लाखके चक्करमे पड गया । प्रतिदिन सूखा-रूखा खाकर बचानेके चक्करमे पड गया । कुछ दिन बाद सेठने कहा सेठानीसे कि अब देख लो—बढई ९९ के फेरमे पड गया ना ? तो सेठानीने देखा कि सचमुच वह बढई ९९ के चक्करमे पड गया था । तो भाई कहनेका मतलब यह है कि अगर किसीको दु खी करना है तो अन्य उपायोसे दु खी मत करो, हाँ उसे विषयोके साधन जुटा दो, तो वह जीवन भरके लिए बडा दु खी हो जायगा । विषयसाधन घोर अनर्थरूप है ।

सहज परमार्थ बड़प्पनकी ओर—लोग तो यहाँ लौकिक बडप्पनकी चाह करते है, पर यह लौकिक बडप्पन कोई सार चीज नही । बडप्पन चाहिए आत्मतत्त्वका । सम्यग्दर्शन, सम्य-

ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयसे यह आत्मा पवित्र बने तो यह आत्माका वास्तविक बडप्पन है। मैं केवल एक ज्ञायकस्वभावमात्र जैसा हू स्वभावसे वैसा स्वच्छ रह जाऊँ, बस इसीमे मेरा बडप्पन है, अन्य बातमे मेरा बड़प्पन नही। देखो—जो उचित बात है, जो ऊँची बात है, कल्याणकारी बात है, सर्वस्व बात है वह अगर सभी जीवोको यो ही मिल जाय तो यह ससार कहाँ घटा ? यद्यपि बहुतोको मिल जाय तो भी ससार खाली नही होता। लेकिन व्यवहारमे देखो तो यह बात सबको मिलनी कठिन है। तो लोगोकी वोटपर अपना निर्णय बनाना वह गरीबीकी बात है। दुनियामे बसे हैं सब मोही जन। अब हम मोही जीवोसे अपने बारेमे कुछ निर्णयकी वोट लें कि हमको क्या करना चाहिए ? तो उत्तर यह मिलेगा मोहियो की ओरसे कि जैसा हम करते हैं, जैसा हम चाहते है, जिसके लिए हम तरसते है वह काम करना चाहिए। तो मोह करें, रागद्वेष करें, बस यही प्रेरणा मिलेगी आत्महितके लिए। ज्ञानियोसे सम्मति लें, आम पब्लिकसे नही। उसमे सफलता मिल ही नही सकती। तो ज्ञान ही एक शान्तिका साधक है, अन्य कोई तत्त्व शान्तिका साधक हो ही नही सकता। तो असगदृष्टिका प्रभाव देखिये—जब अपनेको नि सग सर्वसे निराला, देहसे निराला केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप मात्र मै आत्मतत्त्व हू, ऐसा जिन्होंने निर्णय किया है उनकी स्वच्छता, उनका अभ्युदय, उनकी उत्कृष्टता प्रशसनीय है। जिसकी चर्चा चल रही है, जिस शुद्धता की, जिस परमात्मस्वरूपकी बात कही जा रही है वह परमात्मस्वरूप मुझमे किसी दूसरी चीजसे आकर न आयगा, बल्कि यह स्वय सहज स्वभावत परमात्मस्वरूप है। "मैं वह हूं जो हैं भगवान। जो मैं हू वह है भगवान।" स्वभावकी दृष्टि करें। जिस दृष्टिसे जो बात देखी जाती है उस बातको उस ही दृष्टिसे देखना चाहिए। हम उसे अन्य दृष्टियोसे देखनेका उपाय करें तो तत्त्व न मिलेगा। मैं स्वभावत भगवानस्वरूप हू, जाति एक है। जैसे बिरादरीका प्रीतिभोज हो रहा हो तो उसमे धनी और निर्धन सब एक समान है, उस प्रसगमे जो अन्तर डालेगा सो धिक्कारके योग्य होगा। यदि कोई परोसने वाला वहाँ धनीको मना-मनाकर लड्डू परोसे और गरीबकी बात न पूछे, उसे परोसनेमे छोड जाय तो उस परोसने वालेको उस जगह लज्जित होना पडेगा। भले ही भूलमे अथवा रागमे ऐसा कर जाय, लेकिन वह लज्जित होता हुआ ही वहाँ परोसेगा। वह अपना गर्व नही बना सकता, क्योंकि वहाँ बिरादरीका नाता है, धनी गरीब का नाता नही है, और जहाँ धनी गरीबका नाता है वहा अभिनन्दन हो रहे, स्वागत हो रहे, सभीमे प्रमुख बनाया जाता है। तो ऐसे ही हमारे और भगवानके साथ जब बिरादरीका नाता लगावेंगे तो जो मैं हू सो भगवान है। स्वभावका नाता लगाकर कोई अन्तर डाले तो उनके लिए शोभाकी बात नही है। हा जब व्यवहारका प्रकरण आया तब तो हो रहा है, वहाँ देव-दर्शन करते, प्रभुपूजा करते, प्रभुभक्ति करते। खुद भी कहते कि मैं गरीब हू, आप त्रिलोक

अधिपति है, लो अन्तर आ गया। तो व्यवहारका अन्तर व्यवहारमे परखिये। जब स्वभावदृष्टि करें और यह व्यवहार वाला अन्तर चित्तमे लायें तो यह हमारे लिए शोभाकी बात नही है, कल्याणकी बात नही है।

अन्तस्तत्त्वके विकासकी रीति—अन्तस्तत्त्वकी विकास विविधको समझना है तो एक दृष्टान्तसे समझें। जैसे कहते हैं टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल। टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा है। तो कोई यह बताये कि उस प्रतिमामे कारीगरने कोई चीज लगायी क्या? कोई चीज उसने जोडी क्या? अरे वहाँ तो जो चीज पहिलेसे ही पत्थरमे थी वही निकल आयी। प्रतिमा बनानेके लिए न उसमें मिट्टी चिपकाया, न कोई मसाला चिपकाया, कोई भी दूसरी चीज नही लगाया। बस इतना भर करना पडा कारीगरको कि कारीगरने उस पत्थरमे जैसी मूर्ति निरख पाया था ज्ञानमे उस मूर्तिके बाधक आवरक जो पाषाणखण्ड थे उन पाषाणखण्डोको हटा दिया, यह तो किया कारीगरने, मगर उस मूर्तिमे कोई दूसरी चीज लपेटा हो, चिपकाया हो यह बात जरा भी नही की। ऐसे ही यहाँ भी समझ लीजिए कि मैं परमात्मा होऊँगा तो वहाँ किसी दूसरी चीजको लपेटकर न होऊँगा। हमारा सब कुछ मेरेमे इस समय भी है। जैसे प्रतिमा जो निकली वह उस पाषाणखण्डमे पहिलेसे ही थी, उसके बननेमे कारीगरने किसी अन्य चीजका प्रसग नही किया, ऐसे ही यद्यपि हम परमात्मस्वरूप बननेमे कोई प्रयोग भी नही कर रहे, फिर भी वह स्वभाव वह स्वरूप हममे अत प्रकाशमान है। जो है सो ही प्रकट हुआ है। इसीको परमात्मा कहते है। इस परमात्मस्वरूपके बाधक आवरक जो विषय कषाय के परिणाम हैं, खोटे विचार हैं, भ्रम है, मिथ्याज्ञान है, विषयोका अनुराग है—इन सबसे हटना होगा, जो परमात्मस्वरूप है वही प्रकट हो जायगा। पर ये सब हटेंगे कैसे? तत्त्वज्ञान से। मैं आत्मा अपने ही स्वरूप हू, मेरेमे दूसरेका जरा भी प्रवेश नही है। किसीका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, किसी वस्तुका स्वरूप मुझमे आया हो सो बात नही। अनादिसे कर्मबन्धन से जकडा है, इतनेपर भी यह जीव अजीव नही बना, अचेतन नही बना, जड नही हुआ ऐसा निसग चैतन्यमात्र अपने आपका परिचय हो तो उसे सकट न रहेगा। यह परिचय ज्ञान द्वारा बनेगा। ज्ञानके ही घर्षणसे, ज्ञानके मननसे, शिक्षासे, अध्ययनसे, चिन्तनसे अपने आपका बोध हो सकेगा। अपने आपका बोध होनेका अन्य कोई उपाय नही है।

आत्मा और परमात्माके परिचयकी मूल आवश्यकता—एक राजाके दरबारमे मत्री प्रतिदिन यह कहा करता था कि राजन्! तुम अपने आत्माको जानो, परमात्माको जानो, कुछ धर्ममे लगो, जिससे जीवन सफल होगा। राजाकी समझमे ही न आये कि आत्मा क्या और परमात्मा क्या? तो एक बार राजा मत्रीके घरके सामनेसे घोडेपर बैठा हुआ जा रहा था। मत्री द्वारपर बैठा था। राजा बोला—ऐ मत्री! मुझे तुम जल्दी ही आत्मा परमात्माकी बात

समझा दो। तो मत्री बोला—महाराज! आप घोडेसे उतरिये, यहाँ बैठिये तब हम तुम्हे आध पौन घटा समझायें तो तुम्हारी समझमे आत्मा-परमात्माकी बात आयगी। राजा बोला—अरे! हमारे पास इतनी फुरसत कहाँ? हमे तो तुम ५ मिनटमे ही समझा दो। तो मत्री बोला—महाराज! ५ मिनटकी तो बात क्या, यदि हमारा अपराध आप माफ करें तो हम तुम्हे आधा मिनटमे ही समझा देंगे कि आत्मा और परमात्मा क्या? राजा बोला—हाँ आपका अपराध माफ, समझाओ! तो मत्रीने झट राजाका कोडा छीनकर तीन-चार कोडे राजाकी पीठमे जड दिए। राजा बोला—अरे रे रे भगवान! तो मत्री बोला—बस आप आत्मा परमात्माकी बात समझ गए। देखो जिसने अरे रे रे किया वह तो है आत्मा और जिसे भगवान कहा वह है परमात्मा। तो ऐसे कोडे सह-सहकर आत्मा परमात्माका ज्ञान करनेके बजाय आरामसे, ज्ञानबल से, अच्छी तरहसे ज्ञान प्राप्त करना कि आत्मा क्या है और परमात्मा क्या है?

आत्मज्ञान होनेपर वृत्तियोकी समीचीनता—जब तक अपने आपमे अपने स्वरूपका परिचय न होगा, शुद्ध प्रकाश न होगा तब तक आप कितने ही उपाय कर लीजिए वे सब उपाय उल्टे ही पडेंगे, अशान्तिके कारण पडेंगे। पर शान्तिके कारण नही बन सकते। जैसे घरमे १०-१२ पतेलियाँ है। उनको अगर एक कोनेमे लगाना है तो कोई पहिली पतेली अगर औधी धर दे तो ऊपरकी बाकी सारी पतेलियाँ औंधी ही रखी जा सकेंगी, और यदि नीचे जरा बिडरी बनाकर एक पतेलीको सीधा धर दें तो फिर उसपर सारी पतेलियाँ सीधी रखी जा सकती है। ठीक ऐसे ही मूलमे आत्माका समीचीन ज्ञान बने तो आपकी जो प्रवृत्तियाँ होगी, जो क्रियायें होगी वे सब सही-सही बनती जायेंगी और यदि मूलमे आत्मस्वरूपका बोध ही न होगा, भ्रम बना होगा तो मिथ्याज्ञान होनेपर आत्माकी जितनी वृत्तियाँ जगेंगी, जो भी बात बनेगी वह सब कष्टके लिए होगी, उससे शान्ति पैदा नही हो सकती। जैसे कोई अज्ञानी पुरुष है और धर्मका चाव लगा तो खूब पूजा करता, तो देखो उसकी दशा कि पद-पदपर उसे गुस्सा आ सकता है—तुमने हमको यह थाली क्यो दी, बडी थाली क्यो नही दी, तुम यहाँ क्यो खडे हो, वहाँ खडे हो, तुम पहिले क्यो अभिषेक करने आये? यो कितनी ही बातें बोल सकता है, क्योकि उसे आत्मबोध तो है नही। यदि आत्मबोध होता तो दूर ही खडे-खडे अपने आत्मामे शाति पाता रहता। सो भाई शातिका मूल कारण सत्यज्ञान है। सत्यज्ञानमे बढिये तो आत्मा को शान्ति मिल सकेगी। अन्य किसी उपायसे आत्माको शान्ति नही मिल सकती।

परेशानियोका मूल कर्तृत्वबुद्धि—जो भी यहाँ कुछ दिख रहा है, जो कुछ भी समझ मे आ रहा है वह सब परिणमन है, कार्य है, दशा है, इसके बारेमे जो "होता है" इस तरहसे देखता है उसको तो आकुलता नही होती और जो करना-करना रूपसे देखता है उसे आकुलता होती है। चीज जहाँ जो है वह होती है, जिस निमित्त सन्निधानमे जिस कालमे, जि-

ढगसे जो कुछ होनेका प्रसग है, होता है उसे कोई मैं करता हू, मैंने किया, मैं करूँगा, इस तरह करनेके रूपसे निरखता है उसका भीतरका सारा ढाचा पलट जाता है। अज्ञानभरा ढाचा बन गया। मै अमुक पदार्थको कर दूगा, मेरे करनेसे ही अमुक बात बनेगी, मैं सबका करनहार हू। भला सोचो तो सही, तुम तो एक जीव हो और दुनियामे हो रहा है अनन्त पदार्थोंका काम। यदि तुम्हारे करनेसे होते तो अनन्त पदार्थ तुम्हारे बिना किएसे रुक गए होते। सारा जगत है, सब कुछ हो रहा है, उसे "हो रहा है" की दृष्टिसे देखें, करनेकी दृष्टिसे मत देखें। घरमे भी जो कुछ हो रहा है वहाँ भी आप कर कुछ नही रहे। बात भी सत्य है, इसलिए कही जा रही है। आत्मा तो एक ज्ञानज्योतिस्वरूप है और वह निरन्तर अपना परिणमन बनाये रहता है। तो ज्ञानमय आत्मा परिणमन करता रहे, यह तो इसकी विशेपता है, जानता रहना है। अब वह जानना बिगडा हुआ बना रहे या सुधरा हुआ, पर हम जाननेके अलावा हर जगह और कुछ नही करते, लेकिन मान्यता उल्टी है तब ही तो हर प्रसगमे कषायभाव हो जाता है। आप चाहते है कि ग्राहक लोग सामान खरीदें और वे नही खरीदते। आप करने का भाव बनाते कि मैं माल बेचता हू, मैं अमुक काम करता हू, अरे इस करने-करनेके आशय के भावसे ही तो आप दुःखी होते है। और होनेकी दृष्टिसे देखो—सारा जगत है, प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र-स्वतत्र परिणमते है, भले ही कोई निमित्त सन्निधानमे परिणमे, मगर निमित्त और उपादान मिल गए, उसमे परिणमन हो गया याने दो द्रव्योका एक परिणमन हो जाय सो नही होता। ऐसे ही सब जीव अपनी इच्छा लिए है अपना भाव लिए है, अपने विपयकपाय के परिणाममे ये ससारी रह रहे है। लोग मानते कि मेरे कुटुम्बी जन बडे आज्ञाकारी है, मेरी बात मानते है, लेकिन उनकी यह कल्पना झूठ है। अरे आपकी आज्ञा कोई नही मानता। जो मानते है वे अपनी बात मान रहे। उन्हे जिसमे अपना हित मालूम होता उस तरहसे वे अपनी प्रवृत्ति करते है, वस्तुस्वरूप ही नही ऐसा कि किसीकी कोई बात मान सकता हो। श्री कुन्दकुन्दाचार्यजी ने समयसार लिखते समय यह कहा कि यह मैं एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊँगा, पूरा वैभव लगाकर सुनाऊँगा, कोई बात न छुपाऊँगा, शक्ति लगाकर दिखाऊँगा। यदि दिखा दूँ तो तुम स्वय परीक्षा करके प्रमाण मानना, मेरे कहनेसे प्रमाण मत मानना। कोई कहे कि अजी मेरे कहनेसे ही बात मान लो, तो कैसे मान ले ? वस्तुस्वरूप ही नही ऐसा कि आपके कहनेसे मान ले। उसके मनमे आयगा, उतरेगा, अनुकूल जचेगा तो मानेगा, तब यह व्यवहार किया जायगा कि देखो उसने मेरी बात मान ली। लेकिन देखिये—कोई किसी की बात नही मान सकता। सब अपने-अपने परिणमनसे परिणमते हैं। यह ही बात तो भीतर खोजना है।

जन्ममरणके महान् संकटसे मुक्ति पानेके प्रोग्राम बनानेका अनुरोध—ससारका इत

बडा संकट हम आपपर लदा है, जिसकी परवाह नही कर रहे ! क्या सकट लदा ? मरेंगे, फिर जन्मेंगे, फिर मरेंगे, ऐसी जन्म मरणकी परम्परा लगी है। इतना बडा सकट हम आपपर है उसकी कुछ परवाह नही करते। कर्तव्य तो यह था कि अबसे अपना मोक्ष जानेका प्रोग्राम बना लिया जाय। मेरा और कोई प्रोग्राम नही। जैसे यहाँ पूछते है ना कि भाई तुम्हारा क्या प्रोग्राम है ? तो उत्तर यह होना चाहिए कि मेरा तो मोक्ष जानेका प्रोग्राम है। दूसरा प्रोग्राम जीवनमे मत रखे। करना पडे उसे कर डाले, पर उसे प्रोग्राममें शामिल न करे कि यह मेरे आत्माका प्रोग्राम है। मुझे इस तरह ये ये काम करने है। अरे मेरा प्रोग्राम है मोक्षमे जानेका। अब वह चाहे कई भवोंमे प्रोग्राम सिद्ध हो सके, इस भवमे तो हो नही सकता। पचम काल है। यहाँसे इस समय निर्वाण नही है। पचमकालके उत्पन्न हुए मनुष्यका निर्वाण नहीं है। चाहे वह विदहमे भी चला जाय, वहाँ भी निर्वाण नही है। वह तो जन्मभूमिकी एक विशेषताकी बात समझ लो। और विदेह क्षेत्रका जन्मा हुआ पुरुष अगर यहाँ भी आ जाय, मान लो अपने ही इस देशमे आ जाय तो वहाँसे मोक्ष जा सकता है। कोई देव उठा लाये या किसी भी तरहसे कोई मुनि यहाँसे यहाँ आ जाय और उसकी आयु पूर्ण हो जाय तो यहाँसे उसका निर्वाण हो सकता है। पर पचमकालका उत्पन्न हुआ मनुष्य किसी भी जगह चला जाय तो उसका निर्वाण नही हो सकता। मत हो, पर मोक्षमार्ग तो मिल सकता है। मुक्त होनेका जो उपाय है उसे तो हम बना सकते हैं। उन उपायोमे पहिली बात तो सम्यक्त्व है। बतलाओ सम्यक्त्व प्राप्त करनेके प्रोग्राममे कौनसी तकलीफ है ? किसको यह चाह नही है कि मै सच बात जान लू। हर एक कोई जानना चाहता है। आप बाजारसे झोलेमे कुछ सामान ले आये और लडके उसे देखना चाहते है कि क्या लाये ? और आप कहे कि कुछ नही। ये तो दुकानकी चीजे है, तो बच्चोको तो सबर नही होता। उनकी इच्छा होती है कि मै सच जानूँ कि इस झोलेमे क्या है ? यद्यपि उस झोलेके अन्दर रखी हुई चीजें कारखानेसे सम्बधित है, कुछ पेंच पुर्जे है, उन बच्चोके कामके नही है, पर वे उन्हे सही-सही जान करके ही सतुष्ट होते है। सच जाननेमे सतोप तो आता ही हे। सच जाननेकी किसको इच्छा नही होती ? वही बात तो कही जा रही है कि आप सच-सच जानने लगे। देखिये—इसमे कोई कष्टकी बात हो तो बतलाओ।

वस्तुके स्वरूपके परिचयमे ही सम्यक् ज्ञानकी संभवता—कोई कहे कि हम सच-सच ही तो जान रहे है—यह घर है, यह चौकी है, यह भाई है, यह स्त्री है। अरे यह सच नही जाना जा रहा। आपने चौकी जाना तो पूरा यह भी जाना कि यह चौकी द्रव्य क्या है ? क्या ऐसा ही यह चौकी द्रव्य है ? क्या ऐसा ही यह एक पूरा पदार्थ है ? अरे इसके टुकड़े हो जाते, विनष्ट हो जाते। जो परमाणु है वह सच है और जो यह चौकी है यह परमार्थ

नही है। है तो व्यवहारमे, मगर परमार्थभूत द्रव्य नही है और वह परमाणु अपने आप सत् है। उनमे परिणमनकी कला है। नई अवस्था बनती है, पुरानी अवस्था विलीन होती है और वह परमाणु बना रहता है। लो जान गए ठीक है और ये स्त्री पुत्रादिक मेरे है यह भी तो तुमने झूठ जाना। पहिले तो यह ही समझो कि जिसे स्त्री पुत्र कह रहे हो वे पुरुष स्त्री भी क्या पदार्थ है ? वह तीन तरहके पदार्थोंका पिण्ड है। १–चैतन्य जीव, २–कर्मसमूह और शरीर परमाणुओका समूह। और इन्हे अगर सक्षेपमे कहे तो बस दो पदार्थोंका पिण्ड है— १–जीव, २–पुद्गल। जीव इसमे कितना है, जितना कि चेतना है, जो झलक है वह तो निर्लेप है, वह तो अपने स्वभावरूप है। पुद्गलका सम्बध हुआ है तो अब दशा बिगड गई। जिसे हम स्त्री पुत्रादिक कहते है ये असमानजातीय द्रव्यपर्याय है और मेरे स्वरूपसे भिन्न है। जैसे ससारके और जीव तैसे ही घरमे रहने वाले ये जीव। कुछ भी अन्तर नही है। अत्यन्त पृथक् है, तो ऐसे ये पृथक् है, अपनी सत्ता लिए हुए है, इनके ही परिणामके निमित्तसे कर्म बँधे है, उन कर्मोंके उदयकालमे ये सुख दु ख पाते है, ऐसे ये स्त्री पुत्र है जिन्हे हम देख रहे है। ऐसा जाननेपर ही समझा कि हमने कुछ सच्ची बात जानी। अब सत्य बात समझनेका प्रभाव क्या बनेगा ? उनसे ममता हटेगी, उपेक्षाभाव जगेगा, स्वयमे लीनता होगी, रुचि बनेगी, ज्ञानानुभूति होगी, लो सम्यक्त्व हो गया।

समसागका कलङ्क—जगतमे कुछ भी समागम आपके कामका नही है, यह आप निश्चय से जानें। आपका आत्मा अकेला आकाशकी तरह अमूर्त ज्ञानज्योतिस्वरूप मात्र है। यहाँ मेरा क्या रखा है ? कल्पना कुछ भी कर लो, मगर आपका जो आत्मा है उस आत्माका यहाँ कुछ नही रखा। केवल आत्मामे आत्मा है। तो अपनेमे ही विकल्प करके, चिन्ता करके यह ससारी आकुलता मचाता है। शुद्ध ज्ञान करे, मिथ्याज्ञान हटाये तो इसको शान्तिका रास्ता मिलेगा। तो जो समागम मिला है उसमे आदर मत करे। बडी अच्छी दुकान है, बडा अच्छा वैभव है। अरे क्या है, यह सब इस जीवके लिए कलक है। यह जीव तो स्वभाव ऐसा रखता है कि जैसा परमात्मा रखता है। जैसा यह अपने स्वरूपसे है वैसा ही इसका विकास रहे तो यह तो त्रिलोकाधिपति है, तीन लोक तीन कालका ज्ञाता है, पर हालत क्या बन रही, इसे तो पाप समझिये, लाभ न समझिये। जो परिग्रह रखा है, परिग्रहमे बुद्धि है उसमे ही तृप्त हैं तो यह आपके लिए पापकी बात है, लाभकी बात नही है। आत्माका लाभ तो आत्मदृष्टिमे है, आत्मज्ञानमे है, आत्मरमणमे है, अन्य बातसे लाभ नही। तो यहाँ अकर्तृत्वदृष्टिसे अपने आत्माके स्वरूपकी निरख चल रही है। मैं आत्मा अकर्ता हू, मैं किसी भी परवस्तुका करने वाला नही, किन्तु उसका निमित्त पाकर कुछ हो भी जाय बाहरमे तो वह होनेकी बात है, करनेकी बात नही है। तो होनेके ढगसे देखना, यह तो लाभकारी बात है और करनेके ढगसे देखना, यह

क्षोभ मचाने वाली बात है।

पूर्ण सत्यको शीघ्र समझनेकी भावना—बात कुछ धीरे-धीरे समझमे आती होगी, मगर यह समझ हमे धीरे-धीरे नही बनाना है, थोडी-थोडी नही बनाना है। तो धीरे धीरे समझने वाली बातकी जिन्दगी बहुत पडी है। समझेगे धीरे-धीरे, १०-५ वर्षमे समझ आ जायगी, जल्दी क्या पडी है ? तो यह धीरे-धीरेकी गति सम्भव है कि किसी दिन बिल्कुल मिट जाय, फिर वह धीमी गति भी न रह सके। तो धीरे-धीरे समझनेका भाव आप न रखो, थोडा थोडा समझनेका भाव आप न रखो, चाहे समझ सकें धीरे-धीरे, चाहे समझ सकें थोडा-थोडा, पर अपने मनमे यह प्रोग्राम न बनायें कि हम तो धीरे-धीरे, थोडा-थोडा करके समझ लेंगे। ऐसी चाह रखें, ऐसी रुचि रखे कि जो सत्य बात है उसे मैं पूरा इसी समय समझना चाहता हू और ऐसा जब अपने चित्तमे साहस होगा तो तब एक क्षण ऐसा प्राप्त होगा कि बाह्य-वस्तुओकी उपेक्षा हो जायगी और अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी ओर झुकाव होगा तो ज्ञानद्वारा ज्ञान सामान्यका अनुभव बना, ज्ञानस्वभावका अनुभव बना, ज्ञानानुभूति हो गयी, सम्यक्त्व हो गया, लो सदाके लिए संसार-सकटोसे छूटनेका मार्ग पा लिया। मोक्ष जानेके प्रोग्राममें धीरे-धीरे काम करनेका भाव मत रखे। चाहे करें धीरे-धीरे, मगर प्रोग्राममे धीरे-धीरे थोडा थोडा बढ़नेका भाव न करें। अगर ऐसी वृत्ति रखी तो आलस्य भरा भाव तो अभी बना हुआ है, फिर उस भावसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि हम कभी सफल होगे ? अपने आत्म-स्वरूपको ज्ञान निरखना है, अपनेको निरखना है, अपने ही ज्ञानसे निरखना है तो इसमे कष्ट की कौनसी बात आयी ? कष्टकी बात तो यह है कि जो बाह्य पदार्थोमे एक रुचि बना रखी है, विषयोसे प्रीति बना रखी है, जो यह दुर्गति कर रखी है तो अपनी वह बाधा देने वाली बात है। तो एक बार भी बहुत साहस बनाकर अपने उपयोगको ऐसा निर्मल तो बना लें कि मुझे कोई विषय न चाहिए।

विषय कषायोकी अनर्थकारिता—सब विषय अनर्थकारी है, स्पर्शनइन्द्रियका विषय भोगकर अथवा मैथुन प्रसग करके आपको इस समय कुछ शान्ति प्राप्त हो तो बताओ ? वृद्ध हो गये, बडी उम्र हो गयी, पर अभी तक अपनी गल्तीका कुछ पछतावा भी नही किया। जो शरीर मिला था इस कामके लिए कि व्रत सयम तप ज्ञानका आचरण खूब बना करके ससारके सकटोसे छूटनेका उपाय बना लिया जाता, जो देह इसलिए मिला था उस देहको व्यर्थके कामोमे लगा दिया। इन कामोमे यदि मनमानी करे, इन्द्रियकी स्वच्छन्दता मचाये तो अन्तमे पछतावा ही तो रहेगा। आये और चले गए, कुछ न कर पाया। हे प्रभो ! मुझे बदलो। मुझे फिर बालक बना दो तो फिर मै कभी भूल न करूँ। खूब ज्ञानार्जन करके तप व्रत सयममे रहूगा, अपना जीवन सफल करूँगा। मान लो अगर अगले भवका बचपन मि-

गया तो वहाँ फिर अ आ इ ई की पाटी शुरूसे पढनी पडेगी । वही बात फिर मिल जायगी । तो गई बहुत, थोडी रही, जीवन बहुत निकल गया । अब थोडा-सा जीवन रहा । यह थोडा सा भी जीवन अब जाने वाला है । जो भी समय मिला और जिस ढगका भी मिला, वही बुढापेका जरासा समय रह गया तो उसका भी उपयोग कर लो । ज्ञान द्वारा ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्माका खूब दर्शन करो और उसमे ही तृप्त रहो, उसके ही निकट बसो, उसका ही आनन्द लो । अब ममताका त्याग करें, तृष्णाका त्याग करें । अपने मनको अगर पवित्र न बनायेंगे तो शान्ति कहाँसे मिलेगी ? मन भरा हुआ है क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक चारो कषायोसे । सबको अपनी गल्ती सोचनी होगी और उस गल्तीको निकालनेका अपना प्रयत्न करना होगा, अन्यथा ससारमे रुलनेके सिवाय कुछ हाथ न रहेगा । गल्ती सोचिये अपनी । कभी-कभी तो कोई मनुष्य इस गल्तीकी बात सुनकर वक्तापर झुझला जाता है—लो इन्होने हमको कहा ऐसा । क्योकि जो क्रोधी है वह समझता है कि मै इतना बडा क्रोध कर रहा हू । अरे यहाँ क्रोधको धिक्कार रहे, क्रोध करने वालेको धिक्कार रहे । कोई कहे कि मुझे धिक्कारा तो भाई तुम्हे क्या धिक्कारा ? तुम जैसे ससारके सभी प्राणी है, तुम जैसी कषायोमे रहने वाले हैं, सबको ही धिक्कारा मायने उस क्रोधभावको धिक्कारा । बताओ क्रोध करके कौन शान्ति प्राप्त कर सकता है ? जब जीव क्रोध करता है तो उसके साथ अज्ञान आ जाता है । अब अज्ञान आया है तो उस अज्ञानावस्थामे यह क्रोधके वश होकर जो कुछ करेगा वह विपरीत चेष्टायें करेगा ।

कषायोसे अनर्थाधिक्यका कारण—कषायके करनेसे अधिक अनर्थ क्यो होता है ? यो होता कि कषाय हो रही हो तो खाली कषाय कषाय रहे तब तो ज्यादा अनर्थ नही, मगर कषाय हो रही है अज्ञानके साथ । तो जहाँ अज्ञान लगा है, कुबुद्धि छा गई है तो उन कषायो मे रहते हुए जो काम करेगा वह सब उल्टा पडेगा, इसलिए कषाय ज्यादा अनर्थकारी बन जाती है । आपको किसीपर क्रोध आया तो क्रोध आते ही बुद्धि आपकी पहिले खराब हो गई, बुद्धिपर आघात आया, जहाँ बुद्धि काम करने वाली न रह सकी । उस क्रोधके आवेशमे उल्टी-सुल्टी बुद्धि चलने लगेगी । तो अब आपकी जो परिणति बनेगी वह उल्टा काम करनेकी बनेगी, फिर पीछे पछताना पडता है, मैंने व्यर्थ क्रोध किया, बडा खराब वातावरण बन गया । क्रोध न करता तो भला था ··, लेकिन शिकारीने जब बाण छोड दिया तो फिर कितनी ही मिन्नतें की जावें, पर वह वहाँ वापिस नहीं लौट सकता । वह तो जिसका लक्ष्य करके मारा गया वह तो उसे वेध ही देगा, ऐसे ही क्रोधके आवेशमे आकर जो कुछ अनर्थ कार्य कर डाला वह तो हो ही गया, अब वापिस नही हो सकता । ऐसे ही मानकषायके विषयमे समझ लो—अहकार के समयमे, घमड करनेके समयमे जो भी चेष्टा होगी वह अज्ञानभरी चेष्टा होगी । लेकिन उस चेष्टासे कोई ऐसी घटना बन जायगी कि पीछे बहुत पछतावा करना पडेगा । यो ही सभी

कषायोकी बात है । कोई भी कषाय इस जीवको सुखदायी नही है । सभी कषायें क्लेश ही उत्पन्न करने वाली है, इसलिए कषायोपर नियत्रण होना चाहिए । जो लोग मायाचार करते है—यहाँकी बात वहाँ भिडायी, वहाँकी यहाँ भिडायी, इस तरह जो छल कपटकी बात करते है उनका हृदय अज्ञानभरा है । क्या लेन-देन है, कितना भीतरमे ग्रन्थि चल रही है, विकल्प चल रहे है, क्या प्रयोजन था ? मैं आत्मा हू, जीव हू, एक मनुष्यपर्यायमे आया हू । मेरा काम धर्म करनेका था । मै अपने आत्माके सही स्वरूपको जानूँ, परमात्मस्वरूपको पहिचानू, परमात्मामे लगन बनाये रहू, उसकी पात्रता बनी रहे और ऐसे पवित्र जीवनपूर्वक मेरा मरण हो तो आगे मेरा भला होगा । जिन्दगी तो इसीलिए पायी, पर यह मायावी जीव क्या करने लगा ? यहाँ वहाँकी बातें भिडायी, छल कपट किया तो उसे तो उस कालमे भी अशान्ति है और जब कभी ख्याल आ जाय कि हमने इसकी बात इससे भिडायी थी, अगर ये दोनो मिल गए तो क्या होगा, इस प्रकारकी शल्य उसके बन जाती है । तो बताइये वहाँ मायाचार करके कुछ शान्ति पायी क्या ? नही पायी । यही बात लोभकषायकी है । देखो—अभी यहाँ जितने मनुष्य बैठे हैं वे कोई दुःखी नही है । इस जीवनमें थोडासा भोजन चाहिए, जिसका जुगाड सबके साथ लगा है । सबका काम चल रहा है, मगर कोई मनुष्य अपनेको सुखी क्यों नही मान रहा ? उनके साथ तृष्णा लगी है । जिसे जितना वैभव मिला है वह उसे न कुछ जैसा माने बहुत थोडा अनुभव कर रहा है । इतनेसे क्या होता ? हमको इससे कई गुना अधिक मिलना चाहिए था । मान लो जितना धन था उससे भी दूना तिगुना हो गया तो भी उसे शान्ति न मिल पायगी । वह तो चाहेगा कि और अधिक धन बढे । तो तृष्णाके वश यह मनुष्य दुःखी है ।

तृष्णाके कारण मानवजीवनकी दुःखमयता—देखो सिद्धान्तके अनुसार तृष्णाकी बात तो देवोमे रहनी चाहिये थी । मगर देवोका हक छीन लिया इस मनुष्यने । तो जो दूसरोका हक छीनता है वह कैसे सुखी हो सकता है ? सिद्धान्त यह बताता है कि चार गतिके जीव होते है—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव । सभीके सिद्धान्तोमे प्राय ये चार बातें आती है कि नारकी कोई होते है, देव होते है, मनुष्य होते है और ये पशु-पक्षी आदिक होते है । तो चार तरहके जीव है और चार ही कषायें है—क्रोध, मान, माया, लोभ । तो क्रोध कषायकी प्रबलता नारकियोमे है, क्योकि वहाँ छेदन-भेदन परस्परमे होता है । मानकषायकी प्रबलता मनुष्योमे होती है, माया कषायकी प्रबलता तिर्यञ्चोमे (पशु-पक्षी आदिकमें) है और कषायकी प्रबलता देवोमे है । तो देवोका जो हक है वह मनुष्योने छीन लिया तो अब यह क्यो परेशान न हो ? तो समझ लीजिए कि कषायोके भावमे रहकर कोई जीव शान्तिकी आशा करे तो नही कर सकता । अरे अपने इस पवित्र चैतन्यमूर्ति आनन्दधाम भगवान आत्माको इन सब

आक्रमणोसे बचाकर रखो। ये आक्रमण मेरे स्वभावकी चीज नही है, ये कर्मोदयसे आये हैं। इन कषायोसे प्रीति मत रखे। मैं अकिंचन हू, मेरा बाहरमे कही कुछ नही है, ऐसे अकिंचन भावमे रहकर अपने आपको आनन्दमग्न रखो।

कर्तृत्वबुद्धिके कारण कषायोका परिवर्द्धन—इन कषायोपर जो विजय नही हो पा रही है उसका एक कारण यह भी है कि कर्तृत्वबुद्धि लग रही है। जैसे अहकार और ममकार ये कषायोकी वृद्धिके कारण हैं, इसी प्रकार कर्तृत्वबुद्धि भी कषाय बनानेकी बढानेकी कारण है। मै करता हू। धर्मके प्रसगमे भी कोई यह बुद्धि करे जिसे व्यवहारधर्म कहते है। वास्तविक धर्मके प्रसगमे तो कर्तृत्वबुद्धि होती ही नही, पर जिसे हम व्यवहारमे धर्म मानते, उन धर्मोके प्रसगमे भी यदि हम कर्तृत्वबुद्धि बनायें—जैसे मैने मडप बनवाया, मैंने विधान करवाया, मैंने पूजा किया, मैं सब काम बडे अच्छे ढगसे करता हू, मैं व्रत, उपवास आदि करता हू, इस प्रकारसे कोई कर्तृत्वबुद्धि बसाये तो यहाँ भी कषायें जगती है—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि जगेगे। क्रोध तो यो जगेगा कि कोई प्रतिकूल बात कहेगा—जैसे तुम बडे धर्मात्मा बन गए, अपनी-अपनी ही चलाते हो , तो इतनी बात सुनकर क्रोध जग जायगा। घमड यो आंयगा कि वह समझ रहा कि मैं इस समय इन लोगोसे अच्छा हू। ये लोग मेरे सामने न कुछ चीज है, क्योकि मै व्रत करता, उपवास करता, प्रभुभक्ति करता तो करता करताकी जो बात लगायेगा उसे सही मार्ग न मिलेगा। मैं कुछ नही करता। मैं तो ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानका ही कार्य करता हू। तो धर्मकार्यके प्रसगमे भी जो कर्तृत्वबुद्धि लगायेगा उसे क्रोध भी जगेगा, मान भी जगेगा, मायाचार भी जगेगा। वह धार्मिक कार्य करनेमे कभी शिथिल हो रहा हो और कोई सामने आ जाय तो झट वह अटेन्सन कर लेता है। एक ढीले ढाले बैठे जाप दे रहे थे और अपनेको धार्मिक मानकर मैं धर्म करता हू, कर रहा है क्रियायें, तो उस प्रसगमे होगा क्या कि कोई पुरुष सामनेसे निकले तो वह झट अपनी सावधानीकी मुद्रा बना लेता है। तो हो गया ना मायाचार। और लोभ लगा है उसके इज्जतका। लोग मुझे अच्छा समझें, यो केवल इन बाहरी बातोपर उसकी रुचि रहेगी। तो करनेकी बुद्धि, करनेका अभिप्राय अज्ञानभरा अभिप्राय है। इस कर्तृत्वके आशयमे इस जीवको शान्ति नही मिल सकती। सच्चा ज्ञान बने। जगतके सब जीव स्वतत्र सत्ता रखते है, मै अपनी स्वतत्र सत्ता रखता हू। किसीकी किसीके साथ आधीनता नही है। मैं किसीका कोई अधिकारी नही हू। यो अपने स्वरूपको देखा जावे और उस अपने ही स्वरूपमे रमा जावे, बस यही कल्याणका उपाय है।

प्रतिक्रियाके कर्मका निर्णय—आज इस विषयपर विचार करें कि मैं किसे भोगता हू और मुझे शान्ति कहांसे प्राप्त होती है ? भोगनेके बारेमे लौकिक ये विकल्प होते है कि मैं इन पदार्थोको भोगता हू—स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्दको भोगता हू और इज्जत-प्रतिष्ठा, बडाई-

प्रशसा इन सबको भोगता हू, ऐसी प्राय लोगोकी दृष्टि बनी हुई है और इसी कारण वे बाह्य पदार्थोंकी तृष्णामे जुटते है, मै इन पदार्थोको भोगता हू और इनसे मुझे शान्ति मिलती है, ऐसे ख्यालके कारण अपने आपके आनदधाम भगवानका आश्रय छोडकर जगतके जीव बाह्य विषयो मे प्रवृत्ति बनाये रहते है । अब वास्तविक रीतिसे सोचिये कि किसे भोगता हू मै क्या हू और जिसको भोगना कहते है वह पदार्थ क्या है ? जैसे मै भोजनको भोगता हू तो भोजन एक पौद्‌गलिक पदार्थ है, उसकी सत्ता उनके परमाणुओकी सत्ता है, उनका उत्पाद व्यय ध्रौव्य उनमे है । उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमे ही है और यह मै आत्मा यह ज्ञानज्योतिस्वरूप है । इसका काम जानना है, ज्ञानप्रकाश इसमे है, आकाशकी भांति अमूर्त है । रूप, रस, गध, स्पर्श यहाँ नही है कि जिससे उन बाह्य भौतिक पदार्थोंका सयोग बन सके, सम्बध बन सके । यद्यपि जहाँ ही देह है वहाँ ही आत्मा है । भोजन करनेपर आत्मप्रदेशमे भी भोजन जाता है, लेकिन जैसे आकाशमे कोई चीज रख दी तो व्यवहारसे कहेगे कि आकाशमे पदार्थका सम्बध हुआ है, पर वस्तुतः आकाशमे आकाश है, वह अमूर्त है, उसका सयोग क्या ? इसी तरह जब हम केवल आत्माके स्वरूपको निरखते है तो वह अमूर्त है, उसमे बाह्यका सहयोग क्या ? कोई बन्धन बना है आज तो वह बन्धन कितना है ? शरीरका इसके बधन है, ऐसा परतत्र है आत्मा कि शरीर जाय तो आत्माको जाना पडता है, आत्मा जाय तो शरीरको जाना पडता है, कुछ भी बात कह लो, इतनी पारतत्रता होनेपर भी यह पारतंत्रता सयोगके कारण नही, किन्तु निमित्तनैमित्तिक भावके कारण सम्बध भी बना हुआ है, पर सम्बध है, इसके कारण क्लेश नही है, दो द्रव्योका सम्पर्क इस परतत्रताका कारण नही है, किन्तु उसके साथ-साथ जो निमित्तनैमित्तिक भाव है वह परतन्त्रताका कारण पडता है । जैसे कई चीजे अलग भी होती है, फिर भी उनकी परतत्रता है, यह महसूस करता है । गायने बछडा जन्मा, छोटा ही बछडा है, मानो आज ही जन्मा है तो मालिक क्या करता है ? जगलमे गायने बछडा दिया तो गाय को बाधकर घर नही ले जाता, किन्तु बछडेको पकडकर उसे गोदीमे लेकर आगे-आगे चलता है मालिक, वह गाय तो पीछे-पीछे भागती जाती है । देखिये गाय किसी बन्धनसे तो नही बँधी है, पर कैसा विकट बन्धन है कि वह पीछे-पीछे भागती जाती है ? तो ऐसे ही इस जीवमे और कर्ममे जो सम्बध है वह निमित्तनैमित्तिक भावकी मुख्यताका सम्बध है, पर हो गया एक क्षेत्रा-वगाही । एक क्षेत्रावगाह होनेके कारण यह कार्य कारण नही बन रहा । तो इतनी परतत्रता है, इतनेपर भी सम्बन्धके लिहाजसे देखो, प्रवेशके लिहाजसे देखो तो मेरी आत्माके स्वरूपमे किसी अन्य वस्तुका प्रवेश नही है । तो जाना रहा कि यह मै आत्मा उस भोजनको भोगता नही हू । किन्तु तत्सम्बधी इसका ज्ञान करनेकी यह विधि है पूर्ण परतत्र हालतमे कि इन्द्रिय द्वारा विषयभूत होकर ज्ञान होता है । तो रसनाइन्द्रियके द्वारा उस भोजनका स्वाद

जाना और स्वादमे हमारी इष्टबुद्धि जगी, राग जगा, उस समय हम कहते हैं कि हमने खूब भोजन भोगा। वस्तुतः तो वहाँ भोजन आश्रय था।

शान्ति सुखके स्रोतका निर्णय--आनन्दका निर्णय देखिये—भोजनका स्वाद लेकर आनन्द लिया अपने ज्ञानका। बडा मीठा है, बडा सुन्दर है, हम तृप्त हो गए, ऐसी जो कुछ कल्पना बनी, जो सुहावनेपनकी ज्ञानमे तरग आयी उसे हमने भोगा, भोजन नही भोगा। तब शान्ति भी हमे जो प्राप्त हुई वह भोजनसे निकलकर नही आयी, किन्तु मेरे ही ज्ञानमे अपने ही ज्ञानबलसे अपनेमें शान्ति उत्पन्न की है। बस सभी जीवोका ऐसा ही हाल हो रहा है। सब अपने-अपनेमे हैं, अपनेमे परिणमते हैं, अपनेमे अपना अनुभव करते हैं, कोई किसी रूप अनु-अनुभवता है कोई किसी रूप, पर कोई किसी दूसरे पदार्थका अनुभव नही करता। अनुभवनके मायने भी परिणमन है। होना, होनेका ही अनुभवन चलता है। होनेका सस्कृतमे भवन शब्द है और उसमे अनु उपसर्ग लगाकर बनता है अनुभवन। जब मैं निश्चयदृष्टिसे देखता हू, एक द्रव्यदृष्टिसे देखता हू तो यहाँ मैं अपनेको अनुभवता हू और अपनेसे ही शान्ति प्राप्त करता हू। देखिये—जब तक अनात्म पदार्थसे अपनी ऐसी काट-छाँट न कर ली जायगी जो कि ज्ञानद्वारा साध्य है तब तक हम मुक्तिके पात्र नही हो सकते, सकल सकटोसे छुटकारा पानेके पात्र नही हो सकते। तब हमारा यह कर्तव्य है कि हम सब कुछ जानकर सब विधिया जान लें, मगर हित हमे मिला है अपने आपके ज्ञानप्रकाशके रमनेसे, तो हम इस ही विधिका प्रयास बनायें कि मै सर्व बाह्यपदार्थोंको भूलकर अपने इस ज्ञानज्योति प्रकाशमे रमा करूँ? एक घटना आयी है कि किसीके पास उसके मित्रका पत्र आया कि मैं आज १० बजे इस स्टेशनसे गुजर रहा हूँ, तुम आकर मिल लेना। तो वह उस पत्रको पाकर अब हर एक काम बडी जल्दी-जल्दीसे निपटाने लगा ताकि वह समयपर पहुचकर मित्रसे मिल सके। उसे बडी आकुलता लगी है कि हमे तो मित्रसे मिलना है। ऐसी उसकी इच्छा जगी हुई है। गया स्टेशन, गाडी लेट थी तो वह उसका भी खेद मानता। चाहे और दिन कितना ही लेट करके गाडी आये, पर उसका खेद न होता था, आज वह बडा खेद मानता है। जब गाडी आयी, डिब्बेमे पहुचकर मित्रसे मिला तब उसने सुख शान्तिका अनुभव किया। तो अब बताओ उसे सुख शान्ति कहाँ से आयी? क्या उस मित्रमे से निकलकर आयी? नही, क्या उस मित्रके मिलनेसे आयी? ...नही। अरे जो उस मित्रसे मिलने विषयक इच्छा बनी थी वह इच्छा अब नहीं रही, लो शान्ति मिल गई। वह शान्ति भी वस्तुतः अपने ज्ञानसे मिली, उस मित्रके मिलनेसे शान्ति नही मिली। अगर मित्रके मिलनेसे शान्ति मिले तब तो बडी अच्छी बात है।...अरे तुम्हें शाति ही तो चाहिए, खूब मिलते ही रहो उस मित्रसे और शान्तिका अनुभव करते रहो। पर होता क्या है कि दो मिनट तक मिलनेके बाद झट खिडकीसे बाहर झाँकने लगते हैं कि कही

गार्डने सीटी तो नहीं दे, झडी तो नही दे दी । तो शान्ति मिली उसे उसके ही ज्ञानसे, उस विषयक इच्छाके अभावसे । ऐसी ही बात हर जगह हर घटनाओमे मिलेगी । हम आप जितना भी सुख शान्ति पाते हैं वह किसी अन्य पदार्थसे अथवा उसके भोगनेसे नही पाते, किन्तु उसके प्रति जो हम ज्ञान बनाते है, उस विषयक इच्छाका जब हम अपने ज्ञानबलके द्वारा अभाव करते है तो वहा सुख शान्तिकी प्राप्ति होती है ।

बाह्य वस्तुसे सुखका आत्मामें अनिर्गम—लोग तो कहते कि लो हमारा पेट भोजन करनेसे भर गया तब हमे सुख मिला, पर कही पेट भर जानेसे सुख नही मिलता । हा चूकि ऐसे लोग आजकल दिखते नही जो कि बिना पेट भरे सुख मानें, पर ऐसी बात नही है कि पेट भर जानेसे सुख होता है । अरे कुछ दिनो पूर्व तो ज्ञानी सत जन जगलोमे तपश्चरण किया करते थे । वे कई-कई दिनोका उपवास किया करते थे, फिर भी अपने ज्ञानबलके द्वारा वे सदा सुखी और शान्त रहा करते थे । और उस ही ज्ञानकी निर्मलताकी धारामे केवलज्ञान हो गया तो लो अब सारे जीवनके लिए उस खानेका काम न रहा जितनी देर वह मनुष्यभवमे रहेगा । आप यही अदाज कर लो—आपकी धुन किसी बडे ऊँचे काममें लगी हो तो आपको फिर उस भूखका पता तक नही रहता । वहा आपका उस भूख-विषयक इच्छाका अभाव है । हा, गल्ती यह है कि दूसरी इच्छाका सद्भाव है, पर कोई ज्ञानी निर्मल अध्यात्मरुचिया सत पुरुष न करे कही बाहरमे उपयोग और अपने ही ज्ञानमे ज्ञानको बसाये तो उसको कही इच्छा नही रहती । तो यह निर्णय करना कि इच्छाके बढ़ानेमे दु.ख है और इच्छाके हटनेसे सुख है । सुख भोजन से नही मिलता, सुख धन-वैभव, इज्जत आदिकसे नही मिलता, किन्तु उसके प्रति जो इच्छाओ का अभाव किया जाता है, उसके प्रति जो एक अतःज्ञान किया जाता है उससे सुख मिलता है । तो हमे अपने आपका ऐसा सच्चा निर्णय बनाकर इस आत्मपद्धतिमे चलना चाहिए । एक यह निर्णय हो कि मैं किसी भी बाह्य पदार्थोंका भोगने वाला नही हू, मैं तो अपने ज्ञानको ही भोगता हू और जिस विषयका आश्रय करता हू उसके अनुरूप जो ज्ञान बनता है बस उस ज्ञानको ही मैं अनन्त भोगता हू । ज्ञानको छोडकर मैं अन्य किसीका अनुभव नही करता । मै ज्ञानप्रकाशमात्र हू । मेरी करतूत बाहरमे कुछ नही होती । निमित्तनैमित्तिक भावकी बात जाने दो । वहाँ भी होनेकी बात है, करनेकी बात नही । किसी निमित्तसन्निधानमे उपादानमे उस प्रकारसे परिणमन होता है, मगर यह मैं आत्मा जो कुछ भी कर पाता हू वह अपनेमे ही कर पाता हू । अपना ही तो परिणमन करता हूँ, अपनेसे बाहर किसी अन्य पदार्थका सत्त्व मैं नही बनाता, परिणति नही बनाता, कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी रचना नही करता । मैं तो अपनी रचना करता हू और अपने आपमे अपने आपको भोगता हू, और मै अपनेमे अपनेसे अपनी शान्ति प्राप्त करता हूँ । देखो यदि आत्मामे शान्तिका स्वभाव न हो तो लाखो उपाय

किए जानेपर भी वहासे शान्ति प्रकट नही हो सकती । जैसे रेतमे तेलका अश नही है, उसे कितना ही कोल्हूमे पेला जाय, पर उससे तेल नही निकल सकता । तेल निकल सकता है तिल से (सरसोंके दानेसे), क्योकि उसमे तेल स्वभावमे ही भरा हुआ है । ऐसे ही आत्मामे आनदका स्वभाव है तो आत्मामे से शान्ति प्रकट हो सकती है ।

अविकार ज्ञानस्वभावका आश्रय करके संकट मुक्ति पानेका उपाय करनेका अनुरोध—ससारमे हम आप लोग अनत काल तक भटके, जरा अब एक ऐसा अवसर आया है कि उत्तम मनुष्य जीवन पाया है, सब प्रकारके साधन पाये है तो कोई ऐसा उपाय बना लें कि जिससे ये जन्ममरणके सकट हमारे छूट जायें । आज जिन समागमोंमे इतना मुग्ध हो रहे है उनसे भी कितने ही गुने समागम पिछले भवोमे पाये होगे, पर आज वे कुछ पासमे है क्या ? उनसे कुछ लाभ भी मिला क्या ? अरे इन असार विनाशीक समागमोमे हर्ष मानना योग्य नही । इन बाह्यपदार्थोमे कितना-कितना ही भटक लो, दिमाग भारी कर लो, पर इनसे शान्ति नही प्राप्त हो सकती । शान्ति तो प्राप्त होती है निरपेक्षतासे, निर्मोह अवस्थासे । रागद्वेप न हों, इच्छा न हो तब शान्ति होती है । तो ऐसी स्थितिमे क्या परद्रव्य पर उपयोग देनेकी बात बन सकेगी ? बाह्यविषयोंमे अपना ज्ञान लगानेसे क्या मेरेमे रागद्वेषरहित परिणति बन सकेगी ? कभी नही बन सकती । रागद्वेषरहित परिणति बनेगी तो रागद्वेषरहित जो आत्माका ज्ञान स्वभाव है उस रूप अपनेको जानें, मानें, अनुभव करें, समझें, उस तरहका मान लें कि मैं तो अविकार ज्ञानस्वभाव मात्र हू, होनेको मैं क्या करूँ ? विकार होते हैं, ये कर्मविपाक आये, विकार हो गए पर मै तो अविकार ज्ञानस्वभाव हू, ऐसी जो कोई अपने ज्ञानस्वभावमे रुचि बनायेगा वह ससार-सकटोसे छूट जायगा और जो इन बाह्यपदार्थोमे अपने चित्तको फसायेगा उसको सकटोंसे छूटनेका मार्ग नही मिल सकता । तो यह निर्णय करना और बार-बार इसका स्मरण करना कि मेरा किसी अन्यसे कुछ सम्बन्ध नही । न मेरा किसीसे करनेका सम्बन्ध, न भोगनेका सम्बन्ध और की तो मैं जानता हू । यह भी मैं न परके क्षेत्रमे कुछ करता हू, न छूता हू, यह मैं ज्ञान यहाँ ही बना रहता हू और मुझ ज्ञानमे ऐसी कला है कि चाहे १० हाथ दूर पदार्थ हो, चाहे पीठ पीछे हो, चाहे गुजरा हुआ पदार्थ हो, चाहे आगे होने वाला पदार्थ हो, यह ज्ञानस्वरूप आत्मा यहाँ ही रहता हुआ अपने ज्ञानमे समस्त पदार्थोंको जान सकता है । तो लो जानने की बात भी यहाँ ही बन रही है । इतनी सारी रचना मुझमे ही बन रही है, ऐसा निर्णय रखेंगे तो हमारे विषय कषायमे अन्तर आयगा । यह मै अकेला ही अकेला, गुप्त ही गुप्त निर्बाध होता हुआ अपने आपके ज्ञानप्रकाशमे रमता हुआ कर्मोंको काटूँगा, शान्ति पाऊगा, परमात्मा होऊँगा ।

परमात्मा होनेके प्रोग्राममे ही कुशलता—एक यह ही प्रोग्राम हमारे जीवनमे होना

ठीक है कि मुझे तो परमात्मा बनना है, क्योकि बहुत दिनो तक दो तरहके ही जीव रह सकते है—या तो बहिरात्मा रहेगा बहुत काल तक या परमात्मा रहेगा अनंतकाल तक। अन्तरात्मा तो सदा नही रह सकता। कोई ज्ञानी हो, अन्तरात्मा हो तो उसका मोक्ष हो जायगा तो अतरात्मा न रहा, परमात्मा रहा। तो पक्के घर दो तरहके आत्माओके है—बहिरात्मा और परमात्मा। लेकिन बहिरात्मा बने हुए अनन्तकाल गुजर गया, उसमे तो शान्ति नही मिली। थोडा ज्ञान किया, थोडा मोह हटाया तो उसकी श्रद्धामे लगार ही क्यो रख रहे हो? कुन्दकुन्द देवने बताया है कि परमाणुमात्र भी जहा राग है वह आत्माको नही जानता। इसका अर्थ यह है कि श्रद्धामे परमाणु मात्र भी जिसके राग है वह आत्माको नहीं जानता। जैसे कोई पुरुष ऐसा सोचे कि लोकमे दूसरोका कुछ बिगाड तो नही करता, अपने घरमे रहता हू और मुझे दुनियाकी किसी चीजसे मोह नही है, केवल एक अपनी स्त्री भरका मोह है। तो मेरेको तो एक स्त्रीको छोडकर बाकी सारे अनन्त जीवोका मोह नही रहा, तो मैं तो ६६ प्रतिशत सम्यग्दृष्टि हू। पूर्ण सम्यग्दृष्टि होनेमे कुछ ही कमी रह गई, तो ऐसा नही होता। अगर परमाणु मात्र भी राग है श्रद्धामे, यह मै हूँ, यह मेरा है, तो वह आत्माको नही जानता। जिसकी श्रद्धा मे यह बसा है कि मैं अकिञ्चन हू, मेरा परमाणुमात्र भी नहीं है, किसी अन्य पदार्थसे मेरेमे कोई परिणति नही आती। न दुःख, न सुख, न शाति, न अशाति, भले हो विधियाँ है निमित्तनैमित्तिक, मगर द्रव्य सर्व पृथक्-पृथक् है। मै सबसे निराला हूँ और फिर जो औदयिक, वैभाविक औदयिक बातें है, दुःखी सुखी होना, क्रोधादिक होना उनसे मेरेको क्या फायदा? मेरे आत्मामे तो विशुद्ध ज्ञानानदका स्वभाव है। मै किसीसे क्या नेह लगाऊँ, किसीसे क्या मोह करूँ? मैं तो अपने आपमे ही रमकर तृप्त रहू, मैं सहज आनन्दस्वरूप हू, मेरे स्वरूपमे कष्ट नही है। कष्ट आया, पर स्वरूपमे कष्ट नही है। स्वभावमे कष्ट नही, मेरा स्वभाव कष्टका नही। मै तो स्वभावरूप हूँ, जो सदा रह सकता हो सो मै हू, ऐसा कष्टरहित अपने स्वभाव का चिन्तन करें तो इससे तो हमे शान्तिकी दिशा मिलेगी। अगर बाहरमे किसी पुरुषसे कोई अशान्तिकी बात कल्पनामे आये, उसका ही ध्यान बना रहे तो अशान्ति ही बढेगी।

स्वके आश्रयसे ही कल्याणका लाभ—किसी बाह्यके आश्रयमे मेरा कल्याण नही है। मेरे आत्माके आश्रयसे ही मेरा कल्याण है। और हम भगवानकी पूजा करते हैं, परमात्माका आश्रय लेते है वह भी एक आत्माका ही आश्रय लेनेकी बात है, क्योकि वहाँ हम शुद्ध आत्मस्वरूपको निरखते है और वही मेरा स्वभाव है, और वहाँ भी हमने अपने आपका ही आश्रय लिया समझियेगा, तो हम अपने आश्रयसे तो सुखी शात हो जायेंगे, मगर कुटुम्ब, वैभव, लोक, पार्टी, मित्र, देश आदिकके आश्रयसे, इनपर उपयोग जमानेसे मेरेमे शान्तिका उदय न होगा। तब ही तो बडे-बडे महाराजाओने, चक्रवर्तियोने सब कुछ वैभव छोड़ा और एक अकिञ्

ज्ञानमात्र ज्ञानप्रकाशमान निज तत्त्वके अनुभवमे ही अपनेको लगाया तो ऐसी हमारी दृष्टि बने और दृष्टि बनानेके लिए आवश्यकता है दो बातोकी—स्वाध्याय और सत्सग । स्वाध्यायसे जो बातका परिचय होता है, आत्माके ज्ञानके लिए उत्सुकता होती है, उसमे बढते हैं और सत्सग के बिना हमारा स्वाध्याय भी ढीला हो जाता है, और सत्सगसे जो हम एक दूसरेसे प्रेरणा लेते है वह प्रेरणा हमे बहुत काम देती है । गृहस्थीमे भी कोई बडी प्रेरणा देने वाले गृहस्थ हैं, बडे ही शान्त और बडे ही सन्तोषी हैं । कुटुम्ब होकर भी कुटुम्बकी चिन्ता नही, ममता नही । उनका ऐसा निर्णय बना है कि सबका अपना-अपना भाग्य है । उनके भाग्यसे उनका होगा, मेरा क्या ? ऐसे गृहस्थ आजकल भी विद्यमान हैं, और सत्सग न बनाया, ऐसे ही फेलफुट है, रहे तो उससे क्या लाभ ? तो सत्सग और स्वाध्याय इन दो मे अपनी प्रगति बनायें, आत्मा के ज्ञानका प्रकाश पायें, सदाके लिए संसारके सकटोसे मुक्ति पा लें, बस यही एक अपना भाव और प्रोग्राम होना चाहिए ।
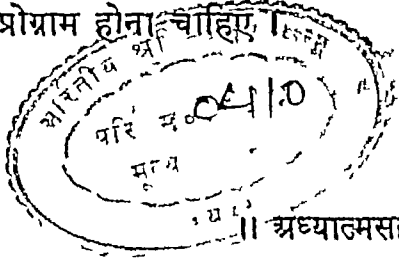
॥ अध्यात्मसहस्री प्रवचन दशम भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित
"अध्यात्मसहस्री प्रवचन दशम भाग" का यह प्रथम सस्करण सम्पन्न हुआ ।